UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182732

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—23—4-4-69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H801 G97S Accession No. H329

Author गुप्त, गणपतिचन्द्र

Title साहित्य की शैली. 1963.

This book should be returned on or before the date last marked below.

'साहित्य-विज्ञान', ग्रन्थ-माला, तृतीय ग्रन्थ

साहित्य की शैली

—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र,
मनोविज्ञान एवं विज्ञान के आधार पर साहित्य
की शैली का वैज्ञानिक विवेचन—

डा० गणपति चन्द्र गुप्त
प्राध्यापक—हिन्दी-विभाग,
पंजाब-विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़।

प्रकाशक : भारतेन्दु-भवन, चण्डीगढ़—३ ।
वितरक : विश्वभारती-प्रकाशन, ११७८।२२ बी, चण्डीगढ़ (पंजाब) ।
मुद्रक : आगरा फाइन-आर्ट प्रेस, राजा की मण्डी, आगरा ।
प्रथम संस्करण : दिसम्बर १९६३—जनवरी '६४ ।
मूल्य : सात रुपये पचास नये पैसे ।

दो शब्द

'साहित्य-विज्ञान' के तीन खंडों में क्रमशः साहित्य की आत्मा (शक्ति), साहित्य के तत्त्व (द्रव्य), और साहित्य के रूप (शैली) की विवेचना भारतीय साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आधार पर की गई है। प्रस्तुत पुस्तक उसी का एक खंड है। जो लोग पूरी पुस्तक एक साथ नहीं पढ़ना चाहते, उन्हीं के लिए ये खंड अलग-अलग प्रकाशित किये जा रहे हैं। अन्त में 'साहित्य-विज्ञान' का सारांश तथा आधारभूत विषयों—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र की संक्षिप्त रूप-रेखा भी पाठकों के उपयोग की दृष्टि से जोड़ दी गई है।

'साहित्य-विज्ञान' में साहित्य की आत्मा या शक्ति के रूप में एक नये सिद्धान्त—आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त—की स्थापना की गई है। हमारा विश्वास है कि इस सिद्धान्त के आधार पर साहित्य के विभिन्न पक्षों की व्याख्या अधिक स्पष्ट, नूतन एवं आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के अनुकूल रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। आशा है, पाठकगण निष्पक्ष रूप से इस सिद्धान्त की परीक्षा करते हुए इसके गुण-दोषों से मुझे अवगत करायेंगे ताकि मैं भविष्य में अपेक्षित स्पष्टीकरण या संशोधन प्रस्तुत कर सकूँ।

हिन्दी विभाग,
पंजाब-विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ़।

—गणपति चन्द्र गुप्त

विषय-सूची

तृतीय खण्ड :

साहित्य का रूप या शैली

१. रूप : सामान्य विवेचन १९७—२०७

१.१. 'रूप' : अर्थ-मीमांसा

१.२. भौतिक विज्ञान की दृष्टि से रूप की व्याख्या

१.३. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रूप की व्याख्या

१.४. दार्शनिक दृष्टि से रूप की व्याख्या

१.५. सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टि से रूप की व्याख्या

(क) रूप की परिभाषा

(ख) रूप-विधान का लक्ष्य

(ग) रूप-विधान का आदर्श

(घ) रूप-विधान के आधार

१.६. साहित्यिक दृष्टिकोण से रूप की व्याख्या

२. शैली : अर्थ और परिभाषा २०८—२१६

२.१. 'शैली' : अर्थ-विचार

२.२. स्टाइल और शैली

२.३. शैली की परिभाषा

२.४. परिभाषाओं का विश्लेषण एवं वर्गीकरण

२.५. तालिका का विश्लेषण

२.६. निष्कर्षों का संश्लेषण

३. शैली । रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति २१७—२२७

३.१. रीति : व्युत्पत्ति एवं अर्थ

३.२. 'रीति' का शास्त्रीय अर्थ

३.३. रीति और शैली : तुलना

३.४. शैली, वृत्ति और प्रवृत्ति

४. व्यक्तित्व और शैली २२८—२४०

४.१. 'व्यक्तित्व' : सामान्य विवेचन

४.२. व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष और शैली

४.३. व्यक्तित्व का शारीरिक पक्ष और शैली
४.४. बौद्धिक पक्ष और शैली
४.५. भावात्मक पक्ष और शैली
४.६. चारित्रिक पक्ष
४.७. उपसंहार

५. विषय और शैली २४१—२४६
५.१. विषय का शैली से सम्बन्ध
५.२. शैली की दृष्टि से विषय का वर्गीकरण
५.३. वर्गीकरण का नया प्रयास
५.४. विषय के अनुसार शैली के विभिन्न भेद
५.५. निष्कर्ष

६. भाषा और शैली २४७—२५३
६.१. 'भाषा' तत्व का वैशिष्ट्य
६.२. भाषा के दो रूप : स्वभावोक्ति एवं अतिशयोक्ति
६.३. भाषा : सामान्य और विशिष्ट
६.४. साहित्य की भाषा के लिए अपेक्षित तत्त्व
६.५. साहित्य की भाषा एवं लोक-व्यवहार की भाषा
६.६. साहित्य की भाषा और विज्ञान की भाषा

७. पाठक और शैली २५३—२५५
७.१. पाठक की अप्रत्यक्ष सत्ता
७.२. पाठकों की रुचि का प्रभाव
७.३. पाठकों के स्तर का प्रभाव
७.४. लेखक का लक्ष्य
७.५. उपसंहार

८. परंपरागत सिद्धान्तों का अनुशीलन : अलंकार सिद्धान्त २५६—२६७
८.१. परंपरागत सिद्धान्त और शैली
८.२. अलंकार : विभिन्न अर्थ एवं अन्य पर्यायवाची
८.३. 'अलंकार' की परिभाषा एवं लक्षण
८.४. अलंकारों का वर्गीकरण
८.५. अलंकारों का विश्लेषण : आधारभूत तत्त्व
८.६. अलंकारों का क्षेत्र-निर्धारण

८.८. अलंकार-प्रयोग का औचित्य
८.९. निष्कर्ष

९. गुण-सिद्धान्त और शैली २६८—२७७
९.१. गुण : सामान्य परिचय
९.२. गुण : परिभाषा
९.३. गुणों का स्वरूप
९.४. गुणों का क्षेत्र
९.५. गुणों की नित्यता
९.६. गुणों का लक्ष्य
९.७. गुणों की संख्या
९.८. गुणों के प्रतिरूप-दोष
९.९. निष्कर्ष

१०. शब्द-शक्तियाँ और ध्वनि २७८—३०७
१०.१. सामान्य परिचय
१०.२. शब्द-शक्तियाँ : सामान्य रूप
१०.३. शब्द-शक्तियों के वर्गीकरण के आधार
१०.४. अभिधा-शक्ति : परिभाषा
१०.५. अभिधा के तीन अवयव
१०.६. अभिधा के सहयोगी एवं प्रेरक तत्त्व
१०.७. लक्षणा शक्ति : परिभाषा
१०.८. लक्षणा में मुख्यार्थ की बाधा क्यों ?
१०.९. लक्ष्यार्थ का वाच्यार्थ से सम्बन्ध
१०.१०. लक्षणा के पीछे रूढ़ि या विशेष प्रयोजन की प्रेरणा
१०.११. लक्षणा के भेदोपभेद
१०.१२. व्यंजना-शक्ति : परिभाषा
१०.१३. व्यग्यार्थ के प्रेरणा-स्रोत या उद्दीपक तत्व
१०.१४. व्यंजना के भेदोपभेद
१०.१५. शब्द-शक्तियाँ की पारस्परिक तुलना
१०.१६. ध्वनि : परिभाषा
१०.१७. सौन्दर्य का अस्तित्व वाच्यार्थ में अथवा व्यंग्यार्थ में ?
१०.१८. ध्वनि के भेदोपभेद
१०.१९. विषय-वस्तु की दृष्टि से ध्वनि के भेद
१०.२०. निष्कर्ष

११. वक्रोक्ति-सिद्धान्त ३०८—३११

११.१. सामान्यपरिचय
११.२. वक्रोक्ति का स्वरूप
११.३. स्वाभाविकता का विरोध क्यों ?
११.४. वक्रोक्ति की व्यापकता
११.५. वक्रोक्ति का मूल-क्षेत्र
११.६. निष्कर्ष

१२. बिम्ब-विधान ३१२—३२६

१२.१. सामान्य परिचय
१२.२. बिम्ब : मनोवैज्ञानिक विवेचन
१२.३. साहित्यिक बिम्ब : स्वरूप मीमांसा
१२.४. साहित्यिक बिम्ब के पांच लक्षण
१२.५. बिम्बों का वर्गीकरण
१२.६. बिम्ब और अलंकार
१२.७. बिम्ब और प्रतीक
१२.८. बिम्ब-सिद्धान्त का महत्त्व
१२.९. निष्कर्ष

१३. प्रतीक-सिद्धान्त ३२७—३३३

१३.१. सामान्य परिचय
१३.२. प्रतीक : शब्दार्थ
१३.३. प्रतीक : शास्त्रीय परिभाषा
१३.४. सामान्य चिह्न और प्रतीक में अन्तर
१३.५. प्रतीकों का चिह्नों में अन्तरण
१३.६. प्रतीकों का वर्गीकरण
१३.७. प्रतीक और भारतीय शब्द-शक्तियाँ
१३.८. प्रतीक और रूपक अलंकार
१३.९. प्रतीक-योजना का लक्ष्य
१३.१०. निष्कर्ष

१४. परंपरागत तत्त्वों की व्याख्या ३३४—३४१

१४.१. परंपरागत सिद्धान्तों से उपलब्ध तत्त्व
१४.२. परंपरागत तत्त्वों का वर्गीकरण
१४.३. भाषा के नाद-पक्ष से सम्बन्धित तत्त्व
१४.४. रूप-पक्ष सम्बन्धी तत्त्व

१४.५. अभिधा-सम्बन्धी तत्त्व
१४.६. लक्षणा-सम्बन्धी तत्त्व
१४.७. व्यंजना सम्बन्धी तत्त्व
१४.८. निष्कर्ष

१५. परंपरागत सिद्धान्तों का संशोधन ३४२—३६६
१५.१. परंपरागत सिद्धान्तों की दूषित प्रवृत्तियाँ
१५.२. अपेक्षित संशोधन एवं परिवर्तन
१५.३. अलंकार की सीमाएँ
१५.४. अलंकारों के भेदोपभेद
१५.५. वक्रोक्ति : स्वरूप-विश्लेषण
१५.६. वक्रोक्ति के भेदोपभेद
१५.७. ध्वनि-सिद्धान्त
१५.८. ध्वनि-सिद्धान्त में अपेक्षित संशोधन
१५.९. बिम्ब : स्वरूप एवं क्षेत्र
१५.१०. प्रतीक स्वरूप एवं क्षेत्र
१५.११. प्रतीक और ध्वनि
१५.१२. गौण सिद्धान्त
१५.१३. विभिन्न सिद्धान्तों की परिवर्तित स्थिति
१५.१४. निष्कर्ष

१६. शैली और आकर्षण-सिद्धान्त ३६७—३७५
१६.१. सामान्य परिचय
१६.२. रूपान्तरण की प्रक्रिया
१६.३. रूपान्तरण के पाँच प्रकार
१६.४. निष्कर्ष

१७. साहित्य-विज्ञान : सारांश

परिशिष्ट—**क**—साहित्य-विज्ञान के निष्कर्ष तालिका रूप में, ४०५
ख—आधार-भूत विषयों की संक्षिप्त रूप-रेखा—
(१) भारतीय साहित्य-शास्त्र ४०६—४१३
(२) पाश्चात्य काव्य-शास्त्र ४१४—४२३
(३) सौन्दर्य-शास्त्र ४२४—४३५
ग—सहायक पुस्तक-सूची ४३६—४४१
घ—नामानुक्रमणिका ४४२—४४४

साहित्य-विज्ञान

तृतीय खंड

साहित्य का रूप या शैली

साहित्य का रूप या शैली—

- १. रूप : सामान्य विवेचन
  २. शैली : अर्थ और परिभाषा
  ३. शैली, रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति
- शैली के चार-स्रोत—
  ४. व्यक्तित्व और शैली
  ५. विषय और शैली
  ६. भाषा और शैली
  ७. शैली और पाठक
- शैली सम्बन्धी परम्परागत सिद्धान्तों का अनुशीलन—
  ८. अलंकार सिद्धान्त
  ९. रीति या गुण
  १०. शब्द-शक्तियाँ और ध्वनि
  ११. वक्रोक्ति
  १२. बिम्ब-विधान (Imagery)
  १३. प्रतीक-सिद्धान्त
- परम्परागत सिद्धान्तों का संशोधन एवं पुनर्निर्माण—
  १४. परंपरागत तत्त्वों की व्याख्या
  १५. परंपरागत सिद्धान्तों का संशोधन
  १६. शैली और आकर्षण-सिद्धान्त
- उपसंहार

७
रूप : सामान्य विवेचन

●

वैज्ञानिक दृष्टि से किसी भी वस्तु का विश्लेषण तीन वर्गों—(१) शक्ति (Energy) (२) द्रव्य (Matter) और (३) रूप (Form)—के अन्तर्गत किया जा सकता है। साहित्य की व्याख्या में भी हमने इसी दृष्टिकोण को अपनाते हुए उसके अध्ययन को इन्हीं तीन पक्षों में विभाजित किया है। इनमें से प्रथम दो पक्षों—शक्ति और द्रव्य का विश्लेषण इस प्रबन्ध के प्रथम दो खण्डों में किया जा चुका है, अतः अब यहाँ उसके तीसरे पक्ष 'रूप' को लिया जाता है।

१.१. 'रूप' : अर्थ-मीमांसा—

'रूप' शब्द का सम्बन्ध 'रूप' धातु से है, जिसका अर्थ होता है—बनाना या गढ़ना।[१] दूसरी ओर शब्द-कोषों में रूप के अनेक अर्थ दिये गये हैं, जैसे—बनावट, गठन, आकृति, लक्षण, अवस्था, दशा, सौन्दर्य आदि।[२] यहाँ इनमें से किस अर्थ को स्वीकार किया जाय—इसका निर्णय करने के लिए हम विभिन्न अर्थों पर क्रमशः विचार करते हैं—

(क) रूप का धातुमूलक अर्थ है बनाना या गढ़ना। यदि हम गहराई से विचार करें तो 'बनाने' का अर्थ किसी वस्तु का सर्वथा नया उत्पादन करना नहीं है, अपितु पूर्व प्राप्त सामग्री को ही एक नयी वस्तु में परिणत कर देना है। जैसे, एक बढ़ई 'कुर्सी' या 'मेज' बनाते समय किसी सर्वथा नूतन पदार्थ का उत्पादन नहीं करता अपितु लकड़ी और लोहे आदि को जोड़-तोड़ कर एक नई वस्तु में परिणत कर देता है। इससे मूल पदार्थों के आन्तरिक तत्त्वों में कोई परिवर्तन उपस्थित नहीं होता अपितु उनकी बाह्य बनावट में ही अन्तर आता है। वस्तुतः विज्ञान का यह नियम है कि सर्वथा नवीन द्रव्य का कभी भी निर्माण नहीं होता—जिसे हम निर्माण कहते हैं, वह वास्तव में द्रव्य की एक

---

१. संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ।
२. प्रामाणिक हिन्दी शब्द-कोष।

अवस्था का दूसरी अवस्था में या एक आकार से दूसरे आकार में या एक दशा से दूसरी दशा में बदल जाना मात्र है। संसार के असंख्य पदार्थों का विकास इसी परिवर्तन की प्रक्रिया का परिणाम है। अतः 'रूप' धातु और 'रूप' के विभिन्न अर्थ भी इसी परिवर्तन की प्रक्रिया को सूचित करते हैं। इन विभिन्न अर्थों को समन्वित करते हुए कहा जा सकता है कि विभिन्न पदार्थों में बनावट, गठन, आकृति, अवस्था, दशा आदि की दृष्टि से जो परस्पर अन्तर है, उसी को हम रूप-भेद कहते हैं। या दूसरे शब्दों में—बनावट, गठन, आकृति, अवस्था, दशा आदि से सम्बन्धित विशेषताओं को ही 'रूप' कहते हैं।

(ख) उपर्युक्त अर्थ 'रूप' के अभिधेयात्मक प्रयोगों से सम्बन्धित हैं जबकि लाक्षणिक अर्थ में 'रूप' का प्रयोग 'सौन्दर्य' के लिये भी होता है। वस्तुतः प्रभाव की दृष्टि से रूप के दो भेद किये जा सकते हैं—सुरूप एवं कुरूप। जो रूप चक्षुओं को आकर्षक प्रतीत होता है उसे 'सुरूप' तथा विकर्षक प्रतीत होने वाले को 'कुरूप' कहते हैं, किन्तु भाषा-विज्ञान के प्रयत्न-लाघव नियम के अनुसार 'सुरूप' के स्थान पर 'रूप' का ही प्रयोग होने लग गया है तथा साथ ही उसका अर्थ 'सौन्दर्य हो गया है। किन्तु शास्त्रीय विवेचन में 'रूप' का प्रयोग 'सौन्दर्य' के अर्थ में करना भ्रमोत्पादक सिद्ध हो सकता है, अतः इस अर्थ को हम यहाँ स्वीकार नहीं कर सकते।

(ग) 'रूप' शब्द का प्रयोग हम यहाँ अंगरेजी के 'फार्म' के अर्थ में कर रहे हैं। 'फार्म' (Form) के भी मुख्यतः ये अर्थ हैं[3]—१. किसी वस्तु की शक्ल-सूरत, २. किसी वस्तु की आकृति या सीमा-रेखा ३. बनावट ४. संयोजन-विधि ५. रीति या पद्धति ६. किसी वस्तु के प्रकृत लक्षण आदि। फार्म के इन अर्थों में रूप के पूर्वोक्त अर्थों से गहरी समानता है; अतः हम कह सकते हैं कि रूप या फार्म के अन्तर्गत किसी भी वस्तु की बनावट, संघटना, अवस्था, दशा आदि से सम्बन्धित सभी विशेषताओं का समावेश होता है। तथा 'सौन्दर्य' को छोड़कर शेष सभी अर्थ प्रसंग-भेद से स्वीकार्य कहे जा सकते हैं।

१.२. भौतिक विज्ञान की दृष्टि से रूप की व्याख्या—

भौतिक विज्ञान की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ के गुण-धर्मों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है[4]—(१) रासायनिक गुण-धर्म (Chemical properties) और (२) भौतिक गुण-धर्म (Physical properties)। रासायनिक गुण-धर्म द्रव्य के भीतरी गुणों से सम्बद्ध हैं जबकि भौतिक गुण-धर्म उसके बाह्य गुणों से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए, यदि हम एक संतरे के रासायनिक एवं भौतिक गुणों की विवेचना अलग-अलग वर्गों में करें तो प्रथम वर्ग में यह बतायेंगे कि उसमें हाइड्रोजन, ऑक्सीजन,

3. Chamber's English Dictionary.
4. Inorganic Chemistry : W. Norton Jones, Page 13.

अम्ल, क्षार, लवण, विटामिन आदि की कितनी-कितनी मात्रा है जबकि दूसरे वर्ग में (भौतिक गुणों में) उसके रूप-रंग, गंध, स्वाद आदि का वर्णन होगा। वस्तुतः रासायनिक गुणों से द्रव्य के घटक तत्त्वों का पता चलता है वहाँ भौतिक गुणों से उसके बाह्य रूप का ज्ञान होता है, अतः इस दृष्टि से भौतिक गुणों को रूप के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है।

भौतिक विज्ञान यह भी स्वीकार करता है कि विभिन्न प्रक्रियाओं से द्रव्य के भौतिक एवं रासायनिक गुणों में परिवर्तन किया जा सकता है। भौतिक गुणों का परिवर्तन अस्थायी होता है जबकि रासायनिक परिवर्तन स्थायी होता है। भौतिक गुणों का परिवर्तन ही वस्तुतः रूपात्मक परिवर्तन कहा जा सकता है क्योंकि इसमें द्रव्य के आन्तरिक तत्त्व अपरिवर्तित रहते हैं। वस्तुओं के रूप एवं गुण-धर्मों के परिवर्तन के सम्बन्ध में भौतिक विज्ञान में विभिन्न पद्धितियाँ एवं प्रक्रियाएँ भी प्रचलित हैं जिनकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है।

१.३. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रूप की व्याख्या—

मनोविज्ञान की दृष्टि से रूप द्रव्य की वह विशेषता है जिसे व्यक्ति संवेदित करता है।[५] दूसरे शब्दों में किसी भी द्रव्य या वस्तु के बाह्य संपर्क या ऐन्द्रिक संपर्क से हमें जो अनुभव होता है वही उस का रूप है। मनोविज्ञान में इस प्रकार के ऐन्द्रिक अनुभवों को भी दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—(१) संवेदन (Sensation) और (२) प्रत्यक्ष-बोध (Perception)।[६] संवेदन से जहाँ वस्तु के रूपात्मक गुणों का बोध होता है, वहाँ प्रत्यक्ष-बोध से वस्तु के नाम जाति, प्रकृति आदि का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष-बोध में हम अपने पूर्व अर्जित ज्ञान के साथ संवेदन का सम्बन्ध स्थापित करते है। उदाहरण के लिये, हम एक वस्तु देखते हैं जो सफेद है, तरल है, चिकनी है ; यह ज्ञान संवेदन-जन्य है ; किन्तु जब इसके साथ पूर्व-ज्ञान का सामंजस्य करते हुए हम निर्णय करते हैं कि यह दही है या मक्खन है या और कुछ तो इसे हम प्रत्यक्ष-बोध कहेंगे। अस्तु, रूप का सीधा सम्बन्ध हमारी संवेदना से ही है, प्रत्यक्ष-बोध में बौद्धिक तत्त्व मिश्रित हो जाते हैं जिससे रूपात्मक गुण गौण हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रूप का सम्बन्ध सीधा इन्द्रियों से है जबकि द्रव्य के आन्तरिक गुणों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष-बोध एवं अन्य बौद्धिक तत्त्वों से है ; किन्तु यहाँ एक भ्रांति हो सकती है—वह यह कि शायद हम इससे यह समझ लें कि द्रव्य का बोध सदा प्रत्यक्ष-बोध से ही होता है, जबकि सदा ऐसा नहीं होता। द्रव्य के

---

5. Dictionary of literary terms : Shiple, Page 176.
६. मनोविज्ञान : जदुनाथ सिन्हा, पृ० ११२।

गुणों के बोध के लिये सदा प्रत्यक्ष-बोध की आवश्यकता नहीं रहती—या प्रत्यक्ष-बोध से सभी आन्तरिक गुणों का बोध नहीं हो जाता—कई बार हम अन्य संकेतों, चिह्नों या प्रतीकों के माध्यम से भी मूल वस्तु को बिना संवेदित किये ही उसका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। बिस्कुट के बन्द डिब्बे को देखकर ही हम जान जाते हैं कि इसमें बिस्कुट है, सिग्नल को झुका देखकर ही गाड़ी के आने का अनुमान कर लेते हैं और सींचे हुए पौधों को देखकर ही समझ जाते हैं कि माली आकर चला गया है। इन सभी उदाहरणों में हमने बिना संवेदना या प्रत्यक्ष-बोध के ही किसी वस्तु या व्यक्ति का बोध प्राप्त कर लेते हैं और किन्तु इनके मूल में भी कोई न कोई ऐन्द्रिक संवेदना अवश्य रहती है ; जैसे, बिस्कुटों के डिब्बे पर छपे हुए लेबिल की, रेल के सिग्नल की या सींचे हुए पौधों की। ऐसी स्थिति में यदि हम मूल वस्तु के सूचक इन संकेतों, प्रतीकों या चिह्नों को भी मूल रूप के स्थानापन्न मानते हुए इन्हें भी रूप का एक प्रकार मान लें तो अनुचित नहीं होगा। अवश्य ही संकेत, प्रतीक, चिह्न आदि में वस्तुओं के मूल रूप से बहुत भिन्नता रहती है किन्तु फिर भी उन्हें हम मूल वस्तु के आवृत रूप एवं परिवर्तित रूप या माध्यम के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। जिस प्रकार वस्त्रों से प्रच्छन्न नारी भी नारी का एक रूप है, रंग-मंच पर अभिनेता का परिवर्तित रूप भी उसका एक रूप है अथवा चित्र के माध्यम से प्रस्तुत रूप भी मूल वस्तु का एक रूप है, उसी प्रकार संकेत, प्रतीक एवं चिन्ह को भी मूलवस्तु का एक रूप माना जा सकता है। साहित्य में मूलवस्तु का बोध शब्द-संकेतों, प्रतीकों एवं चिन्हों के माध्यम से ही प्राप्त करते हैं, अतः इस दृष्टि से ये सब साहित्य के रूप के अन्तर्गत आ जाते हैं। अस्तु, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम आवरण और माध्यम को भी वस्तु का एक रूप मान सकते हैं।

उपर्युक्त स्थापना के सम्बन्ध में यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जब एक ही आवरण को किसी अन्य आवरण में या एक माध्यम को किसी अन्य माध्यम से प्रस्तुत किया जाय तो पहला आवरण या माध्यम द्रव्य या विषय में परिणत हो जायगा और सबसे ऊपर का आवरण एवं माध्यम उसका रूप बन जायगा। उदाहरणतः बिस्कुट के डिब्बे में बिस्कुट मूल द्रव्य या विषय है जबकि डिब्बा उसका आवरण है, पर यदि बहुत से डिब्बों को एक सन्दूक में रख दिया जाय तो यहाँ डिब्बे उस संदूक के विषय (Content) बन जायेंगे और संदूक उनके बाह्य आवरण, माध्यम या रूप में परिणत हो जायगा। अब यदि इन संदूकों को रेल के डिब्बे में लादा जाय तो उस स्थिति में डिब्बा उनका आवरण या माध्यम बन जायगा और भीतर रखी हुई संदूकें उसका अन्तरंग द्रव्य या विषय हो जायगा। इस प्रकार परिस्थिति-भेद के अनुसार प्रत्येक रूप या प्रत्येक माध्यम किसी अन्य रूप या माध्यम से आवृत या प्रस्तुत होने पर मूल विषय में परिणत हो सकता है। अतः किसी भी द्रव्य का कोई एक रूप या अंतिम रूप स्वीकार नहीं किया जा सकता—केवल क्षण-विशेष में वस्तु के जिस

सर्वोपरि आवरण, माध्यम या रूप से हमारा प्रत्यक्ष ऐन्द्रिक सम्बन्ध स्थापित होता है, उस क्षण के लिए वही उसका रूप है। यही कारण है कि एक क्षेत्र में जो विषय है वही अन्य क्षेत्र में रूप कहला सकता है। जो लोग इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखते वे कई बार कलाओं के विवेचन में भ्रमित हो जाते हैं क्योंकि जो एक क्षेत्र में रूप है वही कला में विषय हो सकता है। नारी का रूप-सौन्दर्य प्रत्यक्ष जीवन में 'रूप' है जबकि काव्य-कला में उसी की अभिव्यक्ति को विषय कहा जायगा—इसी लिए 'नख-शिख वर्णन' को हम विषय कहते हैं न कि रूप। इसका कारण यह है कि काव्य में हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नारी-रूप से न होकर ध्वनि-चिन्हों, शब्द-संकेतों एवं प्रतीकों से होता है, अतः नारी-रूप किसी अन्य माध्यम से प्रस्तुत होने के कारण विषय-वस्तु में परिणत हो जाता है जबकि वह माध्यम—ध्वनि-चिन्ह, संकेत, प्रतीक आदि—ही काव्य-कला का रूप हो जाता है। अस्तु, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से द्रव्य (विषय) और रूप में सबसे बड़ा अन्तर यह स्वीकार किया जा सकता है कि वस्तु के जिस पक्ष से या जिस माध्यम से हमारा प्रत्यक्ष या प्राथमिक सम्बन्ध स्थापित होता है, वही उसका रूप है जबकि उसके अनन्तर अप्रत्यक्ष रूप में बोधित होने वाले पक्ष या अवयव उसके विषय हैं।

संक्षेप में, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वस्तु के जिस पक्ष, आवरण या माध्यम से हमारी संवेदनाओं का निकटतम प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है वही उस वस्तु का रूप है।

१.४. दार्शनिक दृष्टि से रूप की व्याख्या—

(क) भारतीय दृष्टिकोण—भारतीय वेदान्त-दर्शन में विभिन्न पदार्थों की तीन प्रकार की सत्ताएँ मानी गई हैं[७]—(१) प्रातिभासिक सत्ता ; जैसे, रस्सी में साँप का आभास होना। (२) व्यावहारिक सत्ता ; व्यवहार में आने वाले विभिन्न पदार्थों एवं वस्तुओं के नाम-रूप-भेद। (३) पारमार्थिकी सत्ता जो तीनों कालों में नष्ट नहीं होती ; जैसे, ब्रह्म। इन तीनों सत्ताओं को हम क्रमशः रूप, द्रव्य एवं शक्ति से सम्बन्धित कर सकते हैं। प्रातिभासिक सत्ता ही वस्तुतः रूप है। साँप जैसी प्रतीत होती हुई रस्सी में मूलतः साँप के अवयव एवं द्रव्य-गुण विद्यमान नहीं होते ; केवल रूप से ही यह साँप प्रतीत होती है। दूसरे शब्दों में, उसमें साँप का रूप होता है द्रव्य नहीं। व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत द्रव्य के सभी पक्ष आ जाते हैं, जिन्हें वेदान्त में 'धर्म' कहा गया है। ये धर्म भी पाँच हैं—अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि रूप का सम्बन्ध व्यावहारिक सत्ता से भी है, किन्तु प्रातिभासिक सत्ता से सम्बन्धित रूप से उसमें अन्तर है। जहाँ प्रातिभासिक सत्ता में वस्तु वस्तुतः नहीं होती, उसका रूप मात्र या आभास मात्र होता है ; वहाँ

---

७. भारतीय दर्शन-शास्त्र : श्री बलदेव उपाध्याय।

व्यावहारिक सत्ता में वस्तु वस्तुतः वही होती है। उदाहरण के लिए वास्तविक साँप और साँप के रूप में प्रतीत होने वाली रस्सी को ले सकते हैं। साँप का रूप दोनों में ही है, किन्तु एक में रूप के अतिरिक्त साँप के अन्य गुण भी हैं जबकि दूसरे में केवल रूप मात्र है। दूसरे शब्दों में रूप का सम्बन्ध दोनों प्रकार की ही सत्ताओं से है, किन्तु एक में आभासमूलक होता है, दूसरे में वास्तविक। जहाँ तक कलाओं का सम्बन्ध है, उनमें विभिन्न व्यक्तियों एवं पदार्थों की सत्ता आभास रूप में ही होती है, वास्तविक रूप में नहीं। उदाहरणतः चित्र में प्रस्तुत तुरंग, काव्य में वर्णित उपवन या रंग-मंच पर अभिनीत युद्ध वास्तविक न होकर आभास मात्र होते हैं। अस्तु वेदान्त की दृष्टि से विशुद्ध रूप को प्रातिभासिक सत्ता कहा जा सकता है।

वेदान्त की दृष्टि से वस्तुओं के रूप-परिवर्तन के दो भेद किये जा सकते हैं—विवर्त्त और परिणाम। जहाँ वस्तु के केवल रूप में परिवर्तन होता है तो उसे 'विवर्त्त' कहते हैं जबकि रूप के साथ आंतरिक गुणों में भी परिवर्तन उपस्थित होने पर उसे परिणाम कहते हैं; जैसे, स्वर्ण की कंगन में परिणति 'विवर्त्त' है जबकि कागज का जलकर राख में बदल जाना 'परिणाम' है।

रूप को वेदान्तवादियों ने सृष्टि के विकास का कारण मानते हुए भी उसे मिथ्या माना है। एक ही तत्त्व को रूप-भेद के कारण हम अनेक संज्ञाओं से भूषित कर देते हैं; जैसे, स्वर्ण एक है, किन्तु उसी से परिवर्तित आभूषणों की संज्ञाएँ शताधिक हैं; अतः रूप को नाना भेदों की सृष्टि का कारण माना गया है। रूप सदा परिवर्तनशील होता है—अतः उसे मिथ्या कहा गया है। रूप-भेदों के कारण हम विभिन्न वस्तुओं के आधारभूत तत्त्व की एकता को प्रायः भुला देते हैं, अतः रूप को भ्रामक भी माना गया है। सृष्टि के नाना पदार्थों के रूप के कारण हम उनके प्रति आकर्षित होते हैं तथा यह आकर्षण ही माया-जाल है; अतः रूप को आकर्षण का कारण कहा जा सकता है। सृष्टि, प्रकृति या माया का एक मात्र कार्य रूपों का विकास करना ही है—इसी को सगुणवादियों ने ईश्वर की लीला कहा है। वस्तुतः सृष्टि का मूल तत्त्व एक ही है वह कभी भी नष्ट नहीं होता किन्तु वह विभिन्न रूपों में परिवर्तित होता रहता है—अतः जिसे हम सृष्टि और संहार, जन्म और मृत्यु, तथा रचना और विनाश कहते हैं, वह वास्तव में वस्तु के एक रूप का दूसरे रूप में परिवर्तन मात्र है।

इस प्रकार भारतीय वेदान्त के अनुसार रूप-परिवर्तन ही सृष्टि के विकास का आधार, प्रकृति का एक मात्र कार्य और हमारे समस्त आकर्षण-विकर्षण या सुख-दुःख का आधार है। वेदान्त के अतिरिक्त अन्य भारतीय दर्शनों में भी रूप की थोड़ी बहुत चर्चा हुई है किन्तु यहाँ उन सब की विवेचना करना संभव नहीं—अतः वेदान्त को ही हम यहाँ भारतीय दर्शन का प्रतिनिधि मानकर काम चलायेंगे।

(ख) पाश्चात्य दृष्टिकोण—पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में रूप के सम्बन्ध में

मुख्यतः चार दृष्टिकोण मिलते हैं।[८] पहला दृष्टिकोण थेल्स (७ वीं शती ईसा पूर्व) एनैक्सिमिनिज (६ ठी शती ई० पू०) हिरैक्लिटस (५ वीं शती ईसा पूर्व) आदि प्राचीन यूनानी दार्शनिकों का है जिन्होंने किसी एक तत्त्व की प्रधानता मानते हुए रूप को मिथ्या घोषित किया। दूसरा दृष्टिकोण पाइथेगोरस, एम्पीडोक्लीज डिमाक्राबटस आदि दार्शनिकों का है जिन्होंने द्रव्य के स्थान पर रूप को अधिक महत्त्व प्रदान किया।[९] इनके विचार से द्रव्य असीम, निराकार, अव्यवस्थित एवं असुन्दर है जबकि रूप सीमित साकार, व्यवस्थित एवं सुन्दर होता है। साथ ही इन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि रूप का सम्बन्ध द्रव्य के आन्तरिक गुणों से नहीं होता अपितु उसका संघटन द्रव्यगत परमाणुओं की संख्या, अनुपात, क्रम मात्रा आदि के आधार पर होता है। यह धारणा आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी ठीक सिद्ध होती है। आगे चलकर प्लेटो ने एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए रूप को प्रत्यय या विचार का पर्याय-वाची माना।[१०] उसके विचार से सृष्टि में सभी पदार्थों की सत्ता दो रूपों में है—एक प्रत्यय रूप में तथा दूसरी, भौतिक रूप में। प्लेटो ने पहली सत्ता को ही पार-मार्थिक, सत्य एवं चिरन्तन माना। इस प्रकार प्लेटो ने द्रव्य की अपेक्षा रूप को अधिक महत्त्व दिया किन्तु उन्होंने उसे विचार या प्रत्यय से अभिन्न मानकर एक नई भ्रान्ति पैदा कर दी। विचार का अस्तित्व विचारक के मन में रहता है जबकि रूप की सत्ता द्रव्य में रहती है—अतः दोनों को एक मानना ठीक नहीं। अरस्तू ने इस भ्रान्ति को दूर करते हुए द्रव्य और रूप—दोनों को अभिन्न एवं सत्य घोषित किया। उन्होंने प्रतिपादित किया कि कोई भी द्रव्य रूपहीन नहीं है और न ही कोई रूप द्रव्य हीन है—अतः दोनों अभिन्न हैं।[११]

इस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों ने रूप के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये, किन्तु इनमें से हमें कोई भी स्वीकार्य नहीं है। प्रत्येक दृष्टिकोण भ्रान्तिपूर्ण है। प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि में से कोई एक तत्त्व प्रमुख है तथा रूप गौण और मिथ्या है—किन्तु स्वयं पृथ्वी, जल, वायु आदि भी किसी अन्य तत्त्व के परिवर्तित रूप सिद्ध हो गये हैं, तथा रूपों के विस्तार के अभाव में सृष्टि का विस्तार संभव नहीं—अतः इस दृष्टिकोण को सही नहीं कहा जा सकता। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार रूप को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि उसे ही सत्य मान लिया गया है जबकि वास्तव में रूप सदा परिवर्तनशील एवं नाशवान होता है। तीसरा दृष्टिकोण प्लेटो का है, जो रूप को विचार से अभिन्न मानने की भ्रान्ति से ग्रसित है। इसी प्रकार अरस्तू के दृष्टिकोण को भी दोष-शून्य नहीं कहा जा सकता,

---

8. Ideas of great philosophers : S. E. Frost, 1942.
9. The greek philosophers : W. K. C. Guthrie, 1950, Page 23-39.
10. The idea of nature : R. G. Colling wood 1945, Page 55.
11. Dictionary of literature : Shiply, 167.

क्योंकि उन्होंने भी चिर परिवर्तनशील रूप को ही द्रव्य के समान स्थिर एवं सत्य मान लिया है। अतः हम इनमें से किसी भी दृष्टिकोण को पूर्णतः स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु आंशिक रूप में निम्नांकित धारणाओं को मान्य कहा जा सकता है—(१) रूप परिवर्तन-शील एवं असत् है। (२) रूप का सम्बन्ध द्रव्य के आन्तरिक गुणों की अपेक्षा उसके घटक तत्त्वों के पारस्परिक अनुपात, क्रम, संगठन आदि से अधिक है। (३) मूलतः द्रव्य और रूप अभिन्न है किन्तु द्रव्य के एक रूप को दूसरे रूप में परिणत किया जा सकता है।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये धारणाएँ वेदान्त-दर्शन एवं आधुनिक विज्ञान के अनुकूल हैं ; इसी से इन्हें मान्य समझा गया है।

१.५. सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टि से रूप की व्याख्या—

सौन्दर्य-शास्त्र में कलाओं की मीमांसा प्रायः उनके द्रव्य एवं रूप के आधार पर की जाती है। किसी सामान्य विषय या सामग्री को जिस विशिष्ट रूप में कलाकार प्रस्तुत करता है उसे ही सौन्दर्य-शास्त्र में 'रूप' (Form) या 'कलात्मक रूप' (Artistic form) कहा जाता है।[१२] विभिन्न कलाओं में विषय-वस्तु का प्रस्तुतीकरण विभिन्न रूपों में होता है, इस लिए रूप के अनेक नाम एवं भेद प्रचलित हैं, जैसे, रचना, संघटना, अलंकृति, ढाँचा, साज-सज्जा आदि।[१३] इसी प्रकार काव्य-कला के क्षेत्र में भी रचना-विधान सम्बन्धी विभिन्न अवयव—तुक, छंद, वाक्य-विन्यास, रीति, शैली आदि को रूप का ही पर्यायवाची बताया जाता है।[१४] हमारे विचार से इन्हें रूप का पर्यायवाची न मान कर उसके (रूप के) विभिन्न अवयवों के रूप में स्वीकार करना उचित होगा ; क्योंकि रूप शब्द इतना व्यापक है कि वह इन सभी अवयवों को अपने अर्थ-क्षेत्र में समाविष्ट कर लेता है जबकि इनमें से कोई भी अवयव ऐसा नहीं है जो पूरे रूप का स्थानापन्न कहा जा सके या शेष अवयवों को अपने अर्थ में सम्मिलित कर सके। अस्तु, रूप के अनेक अवयव एवं भेद हैं फिर भी सौन्दर्य-शास्त्र के विद्वानों ने उसकी सामान्य परिभाषा एवं प्रवृत्तियाँ निर्धारित करने का प्रयास किया है, जिनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

(क) रूप की परिभाषा

रूप या कलात्मक रूप की विभिन्न प्रकार से परिभाषाएँ की गई हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—

---

12. The arts and the art of criticism : T. M. Green, Page 123.
13. An Introduction to the Aesthetics : Hunter Mead, Page 218.
14. Literary criticism : W. K. wimsatt & Brooks, Page 748.

(१) श्री सैंतायना—'विभिन्न तत्त्वों की अन्विति या एकता का नाम ही रूप है।'[१५]

(२) श्री ग्रीनी—'किसी कलाकृति में व्यक्त विषय की कलात्मक संयोजना या व्यवस्था ही उसका कलात्मक रूप है।'[१६]

(३) श्री हरबर्ट रीड—'वह (रूप) अभिव्यंजना का एक प्रकार है।'[१७]

(४) श्री जान ड्यूई—'कला में जो कुछ कहा जाता है, वह यदि उसका विषय है तो जिस ढंग से कहा जाता है उसे उसका रूप कहते हैं।'[१८]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि विषय-वस्तु की अन्विति, संयोजना, अभिव्यंजना या प्रस्तुतीकरण के ढंग को ही कला में 'रूप' कहा जाता है। इस दृष्टि से काव्य-कला के प्रसंग में छन्द, तुक, अलंकार, रीति, शैली, प्रबन्धात्मकता आदि सभी ऐसी विशिष्टताओं को, जिनका सम्बन्ध कथ्य से न होकर कथन-विधि से है 'रूप' के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

(ख) रूप-विधान का लक्ष्य

सौन्दर्य-शास्त्र के अनुसार कला में रूप-विधान का लक्ष्य सौन्दर्य की सृष्टि करना है। कला का मूल द्रव्य सुन्दर हो, यह आवश्यक नहीं है किन्तु उसे सुन्दर रूप में प्रस्तुत करना नितान्त आवश्यक है। कलाकार की कलाकारिता भी इसी में है कि वह असुन्दर को भी सुन्दर में परिणत कर देता है। जीवन के बीभत्स एवं कलुषित पक्षों को भी कलाकार की तुलिका एक नया आकर्षक रूप प्रदान कर देती है। अतः कला का रूप पक्ष सदैव सुन्दर होता है—इसी से कुछ विद्वान् कला के प्रसंग में रूप और सौन्दर्य को एक दूसरे का पर्यायवाची तक मानने लग गये हैं,[१९] जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं है। कलात्मक सौन्दर्य में निश्चित ही रूप का बहुत बड़ा योग-दान रहता है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि द्रव्य या विषय का कोई महत्त्व नहीं होता। हमारे विचार से विषय और रूप—दोनों के सहयोग से ही कला में सौन्दर्य की सृष्टि होती है, अतः रूप को कला का एक पक्ष ही माना जा सकता है, उसे संपूर्ण सौन्दर्य (या आकर्षण शक्ति) का पर्यायवाची नहीं कहा जा सकता।

---

15. "Form is the unity of manifold" : The sense of Beauty, Page 59.
16. ".....I defined the artistic form of a work of art as the artistically expressive organization of its matter".
—T. M. Greene : The arts and art of criticism, Page 123.
17. ".....form is itself a mode of expression," : Herbert Read : The Meaning of Art, 1951, Page 24.
18. "How it is said..... is form" : John Dewey : Art as Experience, Page 106.
19. A history of Esthethics : Gilbert & Kuhn, Page 515-16.

(ग) रूप-विधान का आदर्श

रूप-विधान में कलाकार को किसे आदर्श मानना चाहिए—इसके उत्तर में प्रायः प्रकृति का उल्लेख किया गया है। अरस्तू महोदय एवं उनके परवर्ती आचार्यों ने कला को प्रकृति की अनुकृति मानते हुए उसके रूप-विधान का आदर्श प्रकृति को ही बताया है।[२०] प्रकृति की अनुकृति से कला में प्रकृत गुणों या स्वाभाविकता का समावेश हो जाता है, अतः किसी सीमा तक इस आदर्श को स्वीकार किया जा सकता है किन्तु हमारे दृष्टिकोण से यही कला की अंतिम सीमा नहीं है। कला में लौकिकता के साथ-साथ लोकोत्तरता, स्वाभाविकता के साथ-साथ विशिष्टता, सरलता के साथ-साथ चमत्कारिकता का सम्मिश्रण होता है—दो विरोधी गुणों के मिश्रण से ही कला में आकर्षण शक्ति उद्दीप्त होती है (इसे अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है), अतः हम प्रकृति को कला का एक मात्र आदर्श नहीं मान सकते।

(घ) रूप-विधान के आधारभूत तत्त्व

सौन्दर्य-शास्त्र के विभिन्न चिन्तकों ने कुछ ऐसे तत्त्वों की भी खोज की है जिन्हें कलात्मक रूप-विधान का आधार बनाया जा सकता है। इनमें से कुछ प्रमुख तत्त्व ये हैं।[२१] (१) सामंजस्य या समन्विति (Harmony) (२) क्रमबद्धता (Order) (३) अनुपात (Proportion) (४) संतुलन (Balance) (५) वक्रता या विभिन्नता (Variety) (६) औचित्य (Fitness) (७) जटिलता (Complexity) (८) आवयविक एकता (Organic unity)[२२]

उपर्युक्त तत्त्व मुख्यतः चित्र-कला की दृष्टि से ही प्रस्तुत हैं, काव्य-कला एवं साहित्य में इनका उपयोग किस प्रकार किया जाय, इसका स्पष्टीकरण अधिक नहीं मिलता। फिर भी हम आगे शैली के प्रसंग में साहित्यिक दृष्टि से इन पर विचार करने का प्रयास करेंगे।

१.६. साहित्यिक दृष्टिकोण से रूप की व्याख्या—

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, साहित्य के क्षेत्र में रूप के अन्तर्गत कथन-शैली, अभिव्यंजना-प्रणाली विषय-प्रतिपादन-विधि आदि से सम्बन्धित विभिन्न विशेषताओं का समावेश किया जाता है; इस दृष्टि से शब्द-योजना से लेकर प्रबन्धात्मकता तक की सभी प्रकार की विशेषताएँ रूप के अन्तर्गत आती हैं।[२३] इन

---

20. A history of Esthetics : K. E. Gilbert & H. Kuhn 1954, Page 62.
21. The analysis of beauty : William Hogarth, Edited J. Burke, 1955.
22. The analysis of art : De witt Parker 1926, Page 175.
23. "Form includes all those elements of a verbal composition—rhythm, metrics, structure, coherence, emphasis, diction, images—which can more or less readity be discussed as if they are not a part of the poem's 'content', message', or 'doctrine.' —Literary Criticism : Brooks, Page 748.

विशेषताओं को, मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है[२४]—(१) साहित्यकार की अभिव्यंजना-प्रणाली से सम्बन्धित सूक्ष्म विशेषताएँ, जैसे, अलंकार, रीति, ध्वनि, प्रतीक, बिम्ब आदि। इन विशेषताओं को समुच्चय रूप में 'शैली' या 'रीति' के नाम से पुकारा जाता है। (२) विषय-वस्तु के आकार-प्रकार एवं संगठन या बाह्य ढाँचे की दृष्टि से साहित्यिक रचनाओं के स्थूल भेदों को सूचित करने वाली विशेषताएँ; जैसे, प्रबन्धात्मकता, गीतात्मकता, अभिनेयता आदि। इन स्थूल विशेषताओं के आधार पर ही साहित्य के विभिन्न रूप-भेद किये जाते हैं—जैसे, नाटक, कविता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, जीवनी आदि।

उपर्युक्त दोनों वर्गों को संक्षेप में क्रमशः 'साहित्य की शैली' एवं 'साहित्य के रूप-भेद' का शीर्षक दिया जा सकता है। शैली में साहित्य के रूप-पक्ष की सामान्य विशेषताओं का उद्‌घाटन किया जाता है जबकि रूप-भेद में साहित्यिक रचनाओं का वर्गीकरण करते हुए उनके विशिष्ट भेदों की व्याख्या की जाती है। प्रस्तुत प्रबन्ध में हमारा लक्ष्य साहित्य के स्वरूप का सामान्य विवेचन प्रस्तुत करना है अतः हम यहाँ केवल शैली का ही विवेचन करेंगे, रूप के विशिष्ट भेदों की व्याख्या 'साहित्य-विज्ञान' की अगली जिल्द (Volume) में अलग पुस्तक के रूप में की जायगी। परंपरागत साहित्य-शास्त्र में भी साहित्य की शैली का पर्याप्त विवेचन एवं विश्लेषण हुआ है, अतः हम उसे भी ध्यान में रखते हुए तथा रूप सम्बन्धी वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक दार्शनिक एवं सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टिकोणों से उपलब्ध निष्कर्षों का भी आवश्यकतानुसार उपयोग करते हुए अगले अध्यायों में साहित्य के सामान्य रूप या शैली का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

●

24. 'Art and Art of criticism' : Greene, Page 125.

२
शैली : अर्थ और परिभाषा

●

२.१. 'शैली' : अर्थ-विचार—

(क) 'शैली' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'शीलं' (शील) से मानी जाती है।[१] 'शीलं' के अनेक अर्थ हैं—स्वभाव, लक्षण, झुकाव, आदत, चरित्र आदि।[२] ये सभी अर्थ व्यक्ति की विभिन्न विशिष्टताओं के द्योतक हैं, जैसे, स्वभाव मन की विशेष प्रकृति का सूचक है, लक्षण स्वरूप की विशेषता का, झुकाव रुचि की विशेषता का और आदत कर्म की विशेषता का। इस प्रकार कह सकते हैं कि 'शील' शब्द बहुत व्यापक है—उसका सम्बन्ध व्यक्ति की मनोवृत्ति, रुचि, आदत, व्यवहार, चरित्र आदि विभिन्न पक्षों से है। दूसरी ओर 'शील' का प्रयोग इन पक्षों की किसी एक विशेषता के साथ भी होता है—जैसे, रूप-शील, गुण-शील, लज्जा-शील आदि। यहाँ 'शील' का अर्थ उल्लिखित गुण से संपन्न होना है। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'शील' का सम्बन्ध व्यक्ति की विभिन्न वैयक्तिक विशेषताओं से है।

(ख) 'शैली' शब्द व्यक्ति की वैयक्तिक विशेषताओं की अपेक्षा उसके क्रिया-व्यापारों एवं रचना-कौशल के वैशिष्ट्य से अधिक सम्बन्धित है। शब्द-कोष के अनुसार 'शैली' के अर्थ हैं—चाल, ढंग, प्रणाली, रीति, प्रथा, वाक्य-रचना का विशिष्ट प्रकार आदि।[३] ये सभी अर्थ व्यक्ति की निजी विशेषताओं के स्थान पर उसकी कार्य पद्धति से अधिक सम्बन्धित हैं, जबकि 'शैली' के आधारभूत शब्द 'शीलं' या 'शील' का सम्बन्ध व्यक्तित्व से अधिक है। व्यक्तित्व के स्थान पर व्यक्ति की कार्य-पद्धति से 'शैली' का सम्बन्ध क्यों स्थापित हो गया—इसका समाधान करते हुए कहा जा सकता है कि किसी भी व्यक्ति के शील का पता उसके कार्य एवं व्यवहार से ही

---

१. डा० नगेन्द्र : हिन्दी काव्यालंकार-सूत्र वृत्ति, भूमिका, पृ० ५४।
२. संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ : द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी।
३. प्रामाणिक हिन्दी शब्द-कोष : श्री रामचन्द्र वर्मा।

चलता है या उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति क्रिया-कलापों में ही होती है, अतः शैली को व्यक्तित्व के स्थान पर व्यक्ति के क्रियात्मक पक्ष की विशेषता कहें तो क्या अनुचित है।

आधुनिक युग में 'शैली' शब्द का प्रयोग अंगरेजी के 'स्टाइल' (Style) शब्द के समानार्थक के रूप में होने लग गया है, अतः इसके प्रचलित अर्थ को समझने के लिए 'स्टाइल' के अर्थ का विश्लेषण भी उपयोगी सिद्ध होगा।

२.२. स्टाइल (Style) और शैली—

(क) 'स्टाइल' शब्द के भी विभिन्न युगों में विभिन्न अर्थ प्रचलित रहे हैं। 'आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनैरी' में इसके पच्चीस से भी अधिक अर्थ दिये गये हैं। मूलतः यह शब्द ग्रीक के (Stylos) एवं लैटिन के (Stylus) से सम्बन्धित है। लैटिन (Stylus) से ही (Styles) की व्युत्पत्ति मानी जाती है। (Stylus) का मूल अर्थ है—लिखने की नोकदार कलम। किन्तु आगे चलकर इसके समानार्थक 'स्टाइल' के अनेक अर्थ विकसित हो गये जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं—(अ) लिखने का ढंग (आ) लिखित रचना (इ) लेखक विशेष की अभिव्यक्ति की विशिष्टता (ई) साहित्यिक रचना की रूपगत विशेषताएँ (उ) बोलने का लहजा (ऊ) रीति या प्रथा (ए) किसी कलाकार की रचना-पद्धति की विशिष्टता या किसी युग, जाति, देश या वर्ग विशेष के कलाकारों की रचना-पद्धति की विशिष्टता। इन सभी अर्थों का विकास-क्रम स्पष्ट करने के लिये इन्हें निम्नांकित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(अ) **लेखनी से सम्बन्धित अर्थ**—लेखनी > लेखन।

(आ) **लेखन-पद्धति से सम्बद्ध अर्थ**—लेखन-पद्धति > लेखन-पद्धति की विशेषता।

(इ) **लेखक से सम्बद्ध अर्थ**—लेखक-विशेष की लेखन-पद्धति की विशेषता > एक वर्ग या एक युग के लेखकों की लेखन-पद्धति की विशेषता।

इस प्रकार 'शैली' का मूल अर्थ 'लेखनी', क्रमशः विभिन्न अर्थों में विकसित होता हुआ 'लेखक की विशेषता' तक पहुँच गया। किन्तु अब इसका प्रयोग केवल लेखन के क्षेत्र में ही नहीं, कला-कौशल के अन्य क्षेत्रों में भी पद्धति-विशेष के लिए होता है।[४] उदाहरण के लिए दर्जी वस्त्रों के विशिष्ट स्टाइल की, नाई बालों के स्टाइल की और पहलवान कुश्ती के विशिष्ट स्टाइल की चर्चा करता है। अस्तु, व्यापक अर्थ में 'स्टाइल' शब्द का प्रयोग प्रत्येक कार्य, कला एवं कौशल की पद्धति-विशेष के लिए होता है। ऐसी स्थिति में 'स्टाइल' का सामान्य अर्थ "पद्धति-विशेष" करना ही अधिक उचित है।

(ख) हिन्दी के 'शैली' शब्द का प्रयोग भी 'स्टाइल' के उपर्युक्त अर्थों में ही

---

4. Encyclopedia of Arts—

होता है, किन्तु इसका क्षेत्र अभी तक कलाओं तक ही सीमित है। हम छायावादी शैली के गीतों, कांगड़ा शैली के चित्रों एवं विभिन्न शैली के नृत्यों की तो चर्चा करते हैं, किन्तु अन्य क्षेत्रों में 'स्टाइल' की भाँति शैली का प्रयोग नहीं करते; जैसे, हम अपने बाल कटवाते समय 'अमरीकन स्टाइल' तो कहेंगे किन्तु 'अमेरिकन शैली' नहीं। संभव है, आगे चलकर 'शैली' शब्द और भी अधिक व्यापक हो जाय या यह भी संभव है कि 'स्टाइल' धीरे-धीरे हिन्दी का अपना शब्द बन जाय—किन्तु जहाँ तक साहित्य की शैली का सम्बन्ध है, 'स्टाइल' और 'शैली' के अर्थ में कोई अन्तर नहीं रह गया है, अतः हम दोनों को समानार्थक मान सकते हैं।

२.३. शैली की परिभाषा—

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में साहित्य की शैली की शताधिक परिभाषाएँ प्रचलित हैं; जिनमें से अनेक परस्पर विरोधी एवं शैली के प्रचलित अर्थ के प्रतिकूल भी हैं। यहाँ कुछ प्रमुख परिभाषाओं पर विचार किया जाता है—

(क) **प्लेटो**—"जब विचार को तात्त्विक रूपाकार दे दिया जाता है तो शैली का उदय होता है।"[५] (शैली=विचार का तात्त्विक रूप)।

(ख) **अरस्तू**—"शैली से वाणी में वैशिष्ट्य (चमत्कार) का समावेश होता है"[६] (शैली=भाषा में विशिष्टता का स्रोत या साधन) "अभिव्यंजना शैली..... बात कहने का उपर्युक्त ढंग भी आना चाहिए।"[७] (वर्णन का उपयुक्त ढंग=शैली।)

(ग) **गेटे**—'किसी लेखक की शैली उसके मस्तिष्क की सच्ची प्रतिलिपि है।"[८] (शैली=मस्तिष्क की प्रतिलिपि)।

(घ) **शापनहावर**—"शैली आत्मा की मुखाकृति-शास्त्र (सामुद्रिक) है।"[९] (शैली=आत्मा की मुखाकृति)।

(ङ) **चेस्टरफील्ड**—"शैली विचारों की वेश-भूषा है।"[१०] (विचारों की वेशभूषा)।

(च) **बफन**—"शैली स्वयं व्यक्ति है, वह उसकी प्रकृति का एक अंग है।"[११] (व्यक्ति की प्रकृति का अंग)।

---

५. हिन्दी-साहित्य-कोश—डा० धीरेन्द्र वर्मा।
६. अरस्तू का काव्य-शास्त्र—डा० नगेन्द्र, पृ० ४५।
७. वही।
8. "...an authors style is a faithful copy of his mind. From "The new Dictionary of thought". —T. Edwards.
9. "Style is the physiognomy of the soul".—Shopenhawr. From Encyclopedia of Britannica; vol. 21, Page 488.
10. "Style is the dress of thoughts".—Chesterfield (From N. D. T.)
11. "Style is a man's own; it is a part of his nature".
—Buffon (From N. D. T.)

(छ) **ह्विपले**—"शैली लेखक के व्यक्तित्व का घनिष्ठ एवं अविभाज्य तत्त्व है।"[१२] (व्यक्तित्व का अविभाज्य तत्त्व)।

(ज) **शेरन्**—"यह वह अभिधा (शैली) है जो किसी कलात्मक अभिव्यंजना-पद्धति में विद्यमान व्यक्तित्व को सूचित करती है।"[१३] (शैली=अभिव्यंजना-पद्धति की वैयक्तिक विशेषता)।

(झ) **ग्रीनी**—"इस अर्थ में शैली कलात्मक विशेषता (या गुण) या अभिव्यंजनाशक्ति की पर्यायवाची है।"[१४] (शैली=अभिव्यक्ति की कलात्मकता)।

(ञ) **मरी**—"शैली भाषा की वह विशेषता है जो लेखक के विशिष्ट भाव या चिन्तन को ठीक-ठीक रूप में प्रेषित करती है।"[१५] (शैली=भाषा की प्रेषणक्षमता)।

(ट) **डडली**—"शैली कलाकार की वह वैयक्तिकता है जो (कला के) माध्यम, तत्त्वों एवं संघटन में दिखाई पड़ती है।"[१६] (रचना में प्रकट वैयक्तिक विशेषता)।

(ठ) **लुकस**—"शैली वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य दूसरों से सम्पर्क स्थापित करता है।.....साहित्यिक शैली वह साधन है जिससे एक व्यक्ति दूसरे को उद्दीप्त करता है।"[१७] (संपर्क एवं उद्दीप्ति का साधन)।

उपर्युक्त परिभाषाओं से संक्षेप में हमें निम्नांकित तथ्यों की सूचना मिलती है। शैली का तात्पर्य है—(१) विचार का तात्विक रूप, (२) भाषा में विशिष्टता का स्रोत, (३) वर्णन का उपयुक्त ढंग, (४) मस्तिष्क की प्रतिलिपि, (५) आत्मा की मुखाकृति, (६) विचारों की वेशभूषा, (७) व्यक्ति की प्रकृति का अंग, (८) व्यक्तित्व का स्थायी (अविभाज्य) तत्त्व, (९) अभिव्यंजना की वैयक्तिक विशेषता, (१०) भाषा की प्रेषण-क्षमता, (११) रचना में प्रकट वैयक्तिक विशेषता, (१२) संपर्क एवं उद्दीप्ति का साधन।

---

12. "Style is the intimate and unseparable fact of the personality of the writer". —E. P. Whipple (Same).
13. "The term (style) simple indicates the presence of personality in the manner of artistic expression". —W. H. Sheran; A hand book of literary criticism, Page 84.
14. "Style in this sense is synonymous with artistic quality or expressiveness"—Greene : Arts and art criticism, Page. 374.
15. "Sytle is a quality of language which communicates precisely emotions or thoughts.....peculiar to the author ."
—Middletion Murry : The Problem of Style, P. 71
16. "Style is the personality of the artist showing through medium, elements and organization."
Loui e Dudley : the Humanities, Page 413.
17. "Style is a means by which a human being gains contact with others.....Literary style is simple a means by which our personality moves others." —F. L. Lucas, Style, Page 49.

२.४. परिभाषाओं का विश्लेषण एवं वर्गीकरण—

(क) उपर्युक्त परिभाषाओं से उपलब्ध विचार-सूत्रों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

'शैली' का तात्पर्य है—

(१) विचार का तात्त्विक रूप
(२) भाषा में विशिष्टता का स्रोत एवं साधन
(३) वर्णन का उपयुक्त ढंग
(४) मस्तिष्क की प्रतिलिपि
(५) आत्मा की मुखाकृति
(६) विचारों की वेशभूषा
(७) व्यक्ति की प्रकृति का अंग
(८) व्यक्तित्व का अविभाज्य अंश
(९) अभिव्यंजना की वैयक्तिक विशेषता
(१०) भाषा की प्रेषण-क्षमता
(११) रचना में प्रकट वैयक्तिक विशेषता
(१२) संपर्क एवं उद्दीप्ति का साधन

(ख) उपर्युक्त सभी विचार-सूत्रों को हम विषय की दृष्टि से चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं (१) वक्ता (रचियता) से सम्बन्धित (२) विषय से सम्बन्धित (३) अभिव्यक्ति से सम्बन्धित (४) श्रोता या पाठक से सम्बन्धित। इन चार वर्गों को भी दो और उपभेदों में विभक्त किया जा सकता है—(१) सम्बन्धित अवयव और (२) उस अवयव का गुण। चाहें तो इन्हें विशेष्य और विशेषण का भी नाम दे सकते हैं। इस त्रिविध वर्गीकरण को यहाँ तालिका रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

शैली सम्बन्धी परिभाषाओं का वर्गीकरण

१. परिभाषाएँ (विचार-सूत्र)	२. विषय	३. अवयव	४. गुण (विशेषण)
प्रथम वर्ग—(५, ४, ७, ८,) *			
शैली का तात्पर्य है—			
—आत्मा की मुखाकृति	**लेखक**	आत्मा	मुखाकृति
—मस्तिष्क की प्रतिलिपि	,,	मस्तिष्क	प्रतिलिपि
—व्यक्ति की प्रकृति का अंग	,,	प्रकृति	अंग
—व्यक्तित्व का अविभाज्य अंश	,,	व्यक्तित्व	अविभाज्य अंश

द्वितीय वर्ग—(१, ६) *	**विषय**		
शैली का तात्पर्य है—	(कथ्य)		
—विचार का तात्त्विक रूप	,,	विचार	रूप
—विचारों की वेशभूषा	,,	विचार	वेषभूषा
तृतीय वर्ग—(२, ३, ६, १०, ११) *	**अभिव्यंजना-प्रणाली**		
शैली का तात्पर्य है—			
—भाषा में विशिष्ट का स्रोत एवं साधन	,,	भाषा	विशिष्टता उपयुक्त ढंग
—वर्णन का उपयुक्त ढंग	,,	वर्णन	
—अभिव्यंजना की वैयक्तिक विशेषता	,,	अभिव्यंजना	वैयक्तिक विशेषता
—भाषा की प्रेषण-क्षमता	,,	भाषा	प्रेषण-क्षमता
चतुर्थ वर्ग—(१२) *			
शैली का तात्पर्य है—	**पाठक**		
(पाठक के) संपर्क एवं उद्दीप्ति का साधन		(१) संपर्क (२) उद्दीप्ति	साधन

२.५. तालिका का विश्लेषण—

(क) तालिका के प्रथम वर्ग में शैली सम्बन्धी निम्नांकित विचार-सूत्र प्रस्तुत किये गये हैं—

शैली का तात्पर्य है = (१) आत्मा की मुखाकृति।
= (२) मस्तिष्क की प्रतिलिपि
= (३) व्यक्ति की प्रकृति का अंग
= (४) व्यक्तित्व का अविभाज्य अंश

इन पर क्रमशः विचार करते हुए हम प्रथम सूत्र "आत्मा की मुखाकृति"—को लेते हैं। यह सूत्र लाक्षणिक प्रयोग होने के कारण पर्याप्त अस्पष्ट है। 'मुखाकृति' का सम्बन्ध आत्मा से नहीं अपितु शरीर से होता है—अतः यहाँ 'मुखाकृति' का

* कोष्ठक में दी हुई संख्या का सम्बन्ध उपशीर्षक २.४ में प्रस्तुत विचार-सूत्रों की क्रम-संख्या से है।

वाच्चार्थ बाधित हो जाता है। मुखाकृति से हम विभिन्न व्यक्तियों को पहचानते हैं, एक व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों से अलग करते हैं, अतः 'मुखाकृति' का लक्ष्यार्थ यहाँ 'व्यक्ति-भेद' या 'व्यक्ति-वैशिष्ट्य' लिया जा सकता है। 'आत्मा की मुखाकृति' का भी अर्थ यहाँ 'आत्मिक विशेषता' या 'व्यक्ति-वैशिष्ट्य' लेते हुए कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी विशेषता होती है जो शैली में व्यक्त होती है।

इसी प्रकार 'मस्तिष्क की प्रतिलिपि' में भी लाक्षणिक प्रयोग है। 'मस्तिष्क' से यहाँ तात्पर्य है—मस्तिष्क की क्रिया अर्थात् चिन्तन या विचार। प्रतिलिपि का अर्थ है—अनुरूप। अतः 'मस्तिष्क की प्रतिलिपि' का अर्थ है—विचारों के अनुरूप अर्थात् जैसे, विचार होंगे, वैसी ही शैली होगी। विचारों में यदि सरलता, स्पष्टता एवं गंभीरता है तो उनकी शैली में भी ये विशेषताएँ मिलेंगी, अन्यथा नहीं।

तीसरा सूत्र है—'व्यक्ति की प्रकृति का अंग।' प्रकृति से तात्पर्य है—स्वभाव; किसी व्यक्ति के स्वभाव का पता उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों से चलता है। अतः इस सूत्र का स्पष्टीकरण करते हुए कहा जा सकता है कि शैली का सम्बन्ध व्यक्ति की विभिन्न प्रवृत्तियों से होता है। इसी प्रकार चौथा सूत्र—व्यक्तित्व का अविभाज्य अंश—भी इसी मत की पुष्टि करता है, क्योंकि व्यक्ति की स्थायी प्रकृति को ही उसका अविभाज्य अंश कहा जा सकता है। अस्तु, उपर्युक्त चारों सूत्रों के स्पष्टीकरण से निम्नांकित निष्कर्षों की उपलब्धि होती है—

(१) शैली का सम्बन्ध लेखक की आत्मिक या वैयक्तिक विशिष्टता से है।

(२) शैली विचारों के अनुरूप होती है।

(३) शैली का सम्बन्ध व्यक्ति की विभिन्न प्रवृत्तियों से होता है।

उपर्युक्त तीनों निष्कर्षों का समन्वय करते हुए कहा जा सकता है कि लेखक की आत्मिक या वैयक्तिक विशिष्टता, विचार-धारा एवं विभिन्न प्रवृत्तियों से शैली का घनिष्ट सम्बन्ध होता है।

(ख) तालिका के दूसरे वर्ग में निम्नांकित विचार-सूत्र प्रस्तुत हुए हैं—

शैली का तात्पर्य है=(१) विचारों का तात्त्विक रूप।

=(२) विचारों की वेश-भूषा।

उपर्युक्त विचार-सूत्रों में केन्द्रीय तत्त्व 'विचार' है, किन्तु एक में विचार के रूप को शैली माना गया है जब कि दूसरे में उसकी वेश-भूषा को। वस्तुतः विचार इतना सूक्ष्म तत्त्व है कि न तो उसका कोई स्थूल रूप होता है और न ही वह कोई पोशाक धारण करता है, अतः यहाँ 'रूप' और 'पोशाक'—दोनों ही प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में ग्रहीत किये जाने चाहिए। विचार जिस माध्यम से प्रस्तुत होता है, वही उसका रूप या उसकी वेश-भूषा कहा जा सकता है। इस दृष्टि से उपर्युक्त दोनों सूत्रों का तात्पर्य हुआ—जिस माध्यम से विचार प्रस्तुत होते हैं, वही (माध्यम) शैली है।

(ग) तालिका के तृतीय वर्ग में निम्नांकित सूत्र प्रस्तुत हुए हैं—
शैली का तात्पर्य है—(१) भाषा में विशिष्टता का स्रोत एवं साधन।
(२) वर्णन का उपयुक्त ढंग।
(३) अभिव्यंजना की वैयक्तिक विशेषता।
(४) भाषा की प्रेषण-क्षमता।
(५) रचना में प्रकट वैयक्तिक विशेषता।

उपर्युक्त पाँचों सूत्रों में केन्द्रीय तत्त्व के रूप में क्रमशः भाषा, वर्णन, अभिव्यंजना, भाषा एवं रचना का उल्लेख हुआ है, जिन्हें समन्वित करते हुए एक शब्द में 'अभिव्यक्ति' या भाषा-प्रयोग कहा जा सकता है। पाँचों सूत्रों के उत्तरार्द्ध में अभिव्यक्ति की पाँच विशेषताएँ बताई गई हैं, जो क्रमशः ये हैं—(१) विशिष्टता का स्रोत या साधन, (२) उपयुक्त ढंग, (३) वैयक्तिक विशेषता, (४) प्रेषण-क्षमता और (५) वैयक्तिक विशेषता। इनमें से प्रथम, तृतीय एवं पंचम में तो शब्दों का ही अन्तर है, अर्थ की दृष्टि से इनका समन्वय केवल "वैशिष्ट्य" शब्द में किया जा सकता है, जबकि शेष दोनों विशेषताओं को समन्वित करते हुए उन्हें 'प्रेषणीयता के उपयुक्त' या केवल 'प्रेषणीयता' ही कहा जा सकता है। अस्तु, पाँचों सूत्रों का समन्वित निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति या भाषा-प्रयोग की विशिष्टता एवं प्रेषणीयता को ही शैली कहते हैं।

(घ) तालिका के चतुर्थ वर्ग में शैली को पाठक से संपर्क या उसकी उद्दीप्ति का साधन बताया गया है। इसमें संदेह नहीं कि हमारी अभिव्यक्ति का लक्ष्य अन्ततः श्रोता या पाठक से संपर्क स्थापित करना या उसकी उद्दीप्ति करना होता है तथा इस लक्ष्य का प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में हमारी शैली पर भी पड़ता है। साथ ही हमारे प्रयोजन के अनुसार भी हमारी शैली में अन्तर आता रहता है। विचार-विनिमय, मैत्री, याचना, ताड़ना, शिक्षा आदि विभिन्न प्रकार के प्रयोजनों से हम विभिन्न प्रकार की शैलियों का प्रयोग करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि पाठक या श्रोता की विशिष्टता एवं प्रयोजन-वैशिष्टय का भी शैली पर प्रभाव पड़ता है।

२.६. निष्कर्षों का संश्लेषण—

उपर्युक्त चारों वर्गों के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—(१) शैली का लेखक की आत्मिक या वैयक्तिक विशिष्टता, विचारा-धारा एवं उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। (२) विचार या विषय-वस्तु का माध्यम ही शैली है। (३) भाषा-प्रयोग की विशिष्टता एवं प्रेषणीयता ही शैली है। (४) पाठक या श्रोता की विशिष्टता या प्रयोजन-वैशिष्टय का भी शैली पर प्रभाव पड़ता है।

वस्तुतः ये चारों निष्कर्ष क्रमशः लेखक के व्यक्तित्व के वैशिष्टय, विचार या विषय के वैशिष्ट्य, भाषा के वैशिष्ट्य एवं प्रयोजन-वैशिष्ट्य पर बल देते हुए शली के चार आधारभूत कारणों या स्रोतों की सूचना देते हैं। अरस्तू के कारणवाद के अनुसार इन्हें इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

१–अरस्तू का कारण वाद	२–शैली सम्बन्धी कारण	३–कार्य
(१) व्यक्ति की योग्यतापरक कारण (Efficient cause)	=व्यक्ति-वैशिष्ट्य	→ अभिव्यंजना-पद्धति का वैशिष्ट्य अर्थात् शैली
(२) वस्तुगत कारण (Material cause)	=विचार या विषय का वैशिष्ट्य	
(३) रूपात्मक कारण (Formal cause)	=भाषा-प्रयोग का वैशिष्ट्य	
(४) प्रयोजन मूलक कारण (Final cause)	=प्रयोजन-वैशिष्ट्य	

अस्तु, उपर्युक्त चारों कारणों का समन्वय करते हुए कहा जा सकता है कि व्यक्ति, विषय, भाषा एवं प्रयोजन के वैशिष्ट्य के अनुसार अभिव्यंजना-पद्धति में जो वैशिष्ट्य आ जाता है, वही शैली है। यदि और भी संक्षेप में कहें तो—(किसी भी कारण से) अभिव्यंजना-पद्धति का वैशिष्ट्य ही शैली है।

●

३
शैली, रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति

●

परंपरागत साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में 'रीति' 'वृत्ति', 'प्रवृत्ति' आदि कुछ ऐसे शब्द प्रचलित हैं जो अर्थ की दृष्टि से 'शैली' के बहुत निकट पड़ते हैं। 'शैली' के स्वरूप-बोध के लिए यह आवश्यक है कि इनके पारस्परिक अन्तर को भली-भाँति स्पष्ट कर लिया जाय। अतः इन पर यहाँ क्रमशः विचार किया जाता है।

३.१. रीति : व्युत्पत्ति एवं अर्थ—

'रीति' की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'री' (री>रीयते) धातु से मानी जाती है। 'री' का अर्थ है—बहना, उमड़ना, टपकना आदि। संस्कृत के शब्द-कोष के अनुसार 'रीति' के अनेक अर्थ हैं—(१) गति या बहाव, (२) नदी या सोता, (३) रेखा या सीमा, (४) मार्ग पद्धति, प्रणाली, (५) ढंग, नियम आदि। किन्तु हिन्दी में इसके प्रारम्भिक तीन अर्थ लुप्त हो गये हैं तथा अंतिम दो वर्गों के अर्थ—मार्ग, पद्धति प्रणाली, ढंग, नियम आदि—ही प्रचलित हैं। इन विभिन्न अर्थों के आधार पर 'रीति' के अर्थ का क्रमिक विकास इस प्रकार दिखाया जा सकता है।

(क) मूल 'री' (रीयते) = बहना, टपकना, उमड़ना।

(ख) रीति = नदी, सोता। नदी बहती है अतः 'री' से ही 'रीति' का विकास माना जा सकता है। (=बहना>नदी)।

(ग) रीति = रेखा, सीमा। नदी की धारा लम्बी रेखा के समान होती है तथा वह कई प्रदेशों के बीच सीमा का भी काम देती है, अतः इस अर्थ का नदी से सम्बन्ध माना जा सकता है। (=नदी>रेखा>सीमा)।

(घ) रीति = नदी>रेखा>मार्ग या पद्धति। पद-चिन्हों से बनी हुई रेखा को मार्ग या पद्धति कहा जाता है। अतः 'रेखा' अर्थ से ही 'मार्ग' अर्थ का विकास संभव है।

(ङ) रीति = नदी > रेखा > मार्ग > कार्य-प्रणाली। किसी स्थान पर जाने के लिये जिस प्रकार पहले से बने हुए मार्ग को अपनाया जाता है वैसे ही किसी कार्य को करने के लिये पहले से ज्ञात प्रणाली या ढंग को अपनाया जाता है; 'मार्ग' और 'कार्य-प्रणाली' के इस साम्य के आधार पर ही संभवतः इन दोनों के अर्थ में एक-रूपता आ गई, अन्यथा क्रिया-विधान को मार्ग या पद्धति का लक्ष्यार्थ समझना चाहिए, वाच्यार्थ नहीं। किन्तु अब यह लक्ष्यार्थ इतना रूढ़ हो गया है कि वह वाच्यार्थ की ही भाँति प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार 'रीति' शब्द का मूल अर्थ 'नदी' क्रमशः विकसित होता हुआ कार्य प्रणाली तक पहुँच गया है। सामान्यतः 'रीति' को इसी अंतिम अर्थ में ग्रहण किया जाता है।

३.२. 'रीति' का शास्त्रीय अर्थ—

साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में 'रीति' का प्रयोग इन तीन विशिष्ट अर्थों में होता है—(१) रीति = रीति संप्रदाय। आचार्य वामन ने 'रीति' को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए संप्रदाय की स्थापना की थी। (२) रीति = शास्त्रीय नियम। व्यापक अर्थ में 'रीति' का प्रयोग किसी भी शास्त्रीय नियम के लिये किया जा सकता है। (३) रीति = काव्य-रीति। हिन्दी के उत्तर-मध्यकाल (रीति काल) के प्रसंग में 'रीति' का प्रयोग 'काव्य-रीति' या काव्य-रचना की रीति के अर्थ में होता है।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो 'रीति' के सामान्य प्रचलित अर्थ में और विभिन्न शास्त्रीय अर्थों में परस्पर अधिक अन्तर नहीं है; देखिये—

(१) 'रीति' का सामान्य अर्थ = किसी भी कार्य को करने का ढंग या प्रणाली।

(२) रीति का शास्त्रीय अर्थ = (क) रीति-संप्रदाय जो कि काव्य-रचना-पद्धति के एक विशेष ढंग की व्याख्या करता है।

= (ख) शास्त्रीय नियम अर्थात् शास्त्र के अनुसार किसी कार्य को करने का वैध नियम या ढंग।

= (ग) काव्य-रचना सम्बन्धी नियम।

उपर्युक्त विभिन्न अर्थ सामान्यतः रचना-पद्धति या कार्य-प्रणाली पर ही बल देते हैं, यह दूसरी बात है कि प्रसंगानुसार उससे सम्बन्धित कार्य का विषय-क्षेत्र बदल जाता है। अस्तु, साहित्य के प्रसंग में 'रीति' का सामान्य अर्थ है—साहित्य-रचना की विधि, पद्धति, प्रणाली या उससे सम्बन्धित कोई विधान या नियम। संक्षेप में, रीति = साहित्य की रचना-पद्धति।

३.३. रीति और शैली : तुलना—

पीछे 'शैली' के अर्थ के सम्बन्ध में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि लेखन-पद्धति या अभिव्यंजना-पद्धति की विशिष्टता को 'शैली' कहते हैं, जबकि साहित्य की रीति का अर्थ है—रचना-पद्धति या रचना-प्रणाली। यदि दोनों अर्थों की तुलना करें तो यह स्पष्ट होगा कि दोनों में ही 'पद्धति या प्रणाली' का समावेश है या यों कहिए कि दोनों का ही सम्बन्ध रचना-पद्धति या लेखन-पद्धति से है किन्तु एक सामान्य या निर्विशेष होती है जबकि दूसरी विशिष्ट। वस्तुतः दोनों में सबसे बड़ा अन्तर इस निर्विशेषता और विशिष्टता का ही है—अतः इसे और अधिक स्पष्ट किये जाने की आवश्यकता है।

(क) किसी भी कार्य-पद्धति में विशिष्टता के दो स्रोत हो सकते हैं, एक मूल कार्य सम्बन्धी एवं दूसरा कर्त्ता से सम्बन्धित। हम विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न कार्य-पद्धतियों का प्रयोग करते हैं—अतः दो कार्यों की कार्य-पद्धति के अंतर को हम कार्यगत अंतर कह सकते हैं। कार्य-पद्धति का दूसरा पक्ष कर्त्ता से सम्बन्धित है—एक ही कार्य को दो कर्त्ता एक ही भाँति नहीं करते; उनकी रुचि, प्रवृत्ति, शक्ति, एवं योग्यता के अनुसार दोनों की कार्य-पद्धति में अंतर पड़ जाता है। उदाहरण के लिये, दो व्यक्ति एक ही साथ घर से बाजार जाने के लिए निकलते हैं; दोनों का मार्ग और गंतव्य एक ही है, किन्तु फिर भी दोनों की गति-विधि में पर्याप्त अंतर आ सकता है। एक धीमे चल सकता है जबकि दूसरा तेज चाल से चल सकता है, एक सड़क की बाईं ओर चल सकता है, जबकि दूसरा दाहिनी ओर; एक रिक्शा पकड़ सकता है जबकि दूसरा टैक्सी ले सकता है। अस्तु, मार्ग एक होते हुए भी दोनों की रुचि, प्रवृत्ति एवं शक्ति के अनुसार दोनों की क्रिया-पद्धति में अन्तर आ जाता है अस्तु, जहाँ दो विभिन्न कार्यों की पद्धति में परस्पर अन्तर होता है, वहाँ दो कर्त्ताओं द्वारा किये गये एक ही कार्य की पद्धति में भी अन्तर की संभावना है। वस्तुतः ये दोनों प्रकार के अन्तर क्रमशः रीति और शैली से सम्बन्धित हैं अर्थात् एक ही कर्त्ता के दो कार्यों की प्रणाली का अन्तर रीति का अंतर है, जबकि एक ही कार्य के विभिन्न कर्त्ताओं की प्रणाली का अन्तर शैलीगत अन्तर का सूचक है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी कार्य की सामान्य पद्धति 'रीति' है जबकि व्यक्ति-विशेष से सम्बन्धित विशिष्ट पद्धति 'शैली' है।

(ख) रीति और शैली में व्यक्ति-भेद पर आधारित विशिष्टता के अतिरिक्त भी और कई भेद होते हैं। उनमें से पहला भेद तो यह है कि रीति में 'पूर्व-निश्चितता', पूर्व-निर्धारण या पूर्व नियोजना होती है, जबकि शैली में ऐसा प्रायः नहीं होता—या बहुत कम होता है। जब किसी व्यक्ति की शैली भी पूर्व-निर्धारण का रूप ले लेती है तो वह रीति में परिणत हो जाती है। उदाहरण के लिए 'शार्ट-हैण्ड' के क्षेत्र में

पिटमैन्स शॉर्ट-हैण्ड पद्धति बहुत प्रसिद्ध है—यह पद्धति प्रारंभ में व्यक्ति-विशेष की विशिष्ट पद्धति थी, अतः उसे पद्धति न कहकर 'शैली' कहना चाहिए, किन्तु अब वह विशिष्ट से सामान्य बन गई है—उसमें पूर्व-निर्धारण एवं पूर्व नियोजना के तत्त्व आ गये हैं, अतः वह 'शैली' न रहकर 'पद्धति' या रीति बन गई है।

रीति और शैली में दूसरा भेद लक्ष्य एवं प्रयोजन का रहता है। रीति का लक्ष्य सामान्यतः सम्बन्धित कार्य को पूर्ण, वैध, एवं शुद्ध रूप प्रदान करना होता है जबकि शैली का लक्ष्य उस कार्य में नवीनता, चमत्कार एवं विशिष्टता लाना होता है। इसी कारण दोनों की मूल प्रकृति में भी अन्तर रहता है—रीति यदि आदर्शवादिता और और मर्यादावादिता की ओर उन्मुख रहती है तो शैली का स्वभाव स्वच्छन्दवादिता की ओर अग्रसर होने का रहता है। रीति जहाँ चिरन्तन और स्थायी तत्त्वों को जुटाने, संभालने और सुरक्षित रखने में लगी रहती है वहाँ शैली की प्रवृत्ति क्षणिक और सामयिक प्रवृत्तियों को अपनाने की रहती है। इसके अतिरिक्त इन दोनों के क्षेत्र में भी थोड़ा अन्तर है; रीति का सम्बन्ध मुख्यतः शास्त्र, विज्ञान एवं लोक व्यवहार से है जबकि शैली का सम्बन्ध सामान्यतः कला, साहित्य साज-सज्जा, वेश-भूषा आदि से है। अस्तु, रीति और शैली में अनेक भेद दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्हें तालिका रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

तालिका—रीति और शैली में अन्तर

	रीति	शैली
(१) परिभाषा	सामान्य कार्य पद्धति	व्यक्ति-भेद पर आधारित विशिष्ट पद्धति
(२) उद्भव	पूर्व-नियोजना	पूर्व-नियोजना से रहित (मौलिक)
(३) लक्ष्य	पूर्णता, वैधता, शुद्धता	नवीनता, चमत्कार, विशिष्टता
(४) प्रकृति	आदर्शवादी, मर्यादावादी	स्वच्छन्दतावादी

(५) प्रवृत्ति	चिरन्तन एवं स्थायी तत्त्वों की ओर उन्मुख	क्षणिक और सामयिक तत्त्वों की ओर उन्मुख
(६) क्षेत्र	शास्त्र, विज्ञान, व्यवहार	सौन्दर्य-चेतना से सम्बन्धित विषय, जैसे, कला, वेश-भूषा, साज-सज्जा

(ग) रीति और शैली में परस्पर सहयोग

रीति और शैली में जहाँ विभिन्न दृष्टिकोणों से विरोध है वहाँ कई दृष्टिकोणों से उनमें परस्पर सहयोग भी दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः रीति और शैली एक दूसरी की सहायक एवं पूरक हैं। जब कोई लेखक रीति के तत्त्वों को आत्मसात् कर लेता है तो वे ही तत्त्व नये रूप में व्यक्त होकर शैली के आधार बन जाते हैं। यहाँ शंका की जा सकती है कि यदि ऐसा ही है तो विभिन्न लेखकों की शैलियों में परस्पर इतना अंतर क्यों मिलता है ? इसका उत्तर यह है कि दो लेखक अपनी-अपनी रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न स्रोतों से रीति के भिन्न-भिन्न तत्त्व अपनाते हैं, फिर उनकी आत्मसात् करने की प्रक्रिया में अंतर आ जाता है, जिससे व्यक्ति-भेद के अनुसार एक ही रीति अनेक शैलियों के रूप में परिणत हो जाती है। फिर भी यदि दो साहित्यकारों की आधारभूत रीति एक ही हो और यदि दोनों ने उन पर समान रूप से अधिकार पाया हो तो बहुत संभव है कि दोनों की शैलियों में बहुत थोड़ा अंतर विद्यमान रहे। उदाहरण के लिये, हम हिन्दी के रीतिबद्ध या छायावादी कवियों की शैली को ले सकते हैं। दो रीतिबद्ध कवियों की शैलियों में या दो छायावादी कवियों की शैलियों में परस्पर बहुत थोड़ा अन्तर दृष्टिगोचर होगा ; इसका कारण यही है कि उनकी वैयक्तिक प्रवृत्तियों के साथ-साथ उनकी रीति के आधार-स्रोत समान थे। पर यहाँ एक नया प्रश्न और उठता है ; वह यह कि छायावादी कवियों ने तो रीति का अभ्यास ही नहीं किया—या वे तो रीति-शास्त्र के विरोधी ही थे, अतः यह कैसे संभव है कि उन्होंने एक ही जैसी रीति अपनाई हो। इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि 'रीति' का तात्पर्य केवल भारतीय अलंकार शास्त्र से ही नहीं है या केवल शास्त्रीय लक्षण-बद्ध रीति से ही नहीं है, अपितु किसी पूर्वज की कार्य-पद्धति को देखकर एक नया कार्य-कर्त्ता जो कुछ सीखता है, जो कुछ अपनाता है वह भी 'रीति' है। किसी पूर्वज के प्रसंग में जिसे शैली कहा जाता है, वही बाद के अनुकरण-कर्त्ताओं के लिए 'रीति' बन जाती है। एक स्वच्छन्द यात्री सड़क को छोड़कर धूल के टीलों में से गुजरता हुआ जिस मार्ग-विहीन मार्ग को अपनाता है, वह उसका

अपना है, विशिष्ट है ; अतः साहित्य की भाषा में वह उसकी शैली है ; किन्तु जब दूसरा यात्री उसी स्वच्छन्द यात्री का अनुकरण करता हुआ उसके पद-चिह्नों पर चलता है तो उसे हम 'शैली' नहीं कहेंगे—क्योंकि एक के नूतन पदचिह्न दूसरे के लिए रीति के चिह्न बन जाते हैं। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो छायावादी कवियों की शैली के अधिकांश तत्त्व मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, जड़ में चेतन का आरोपण, मूर्त्त-विधान आदि अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी कवियों की शैली से गृहीत सिद्ध होंगे। हम नहीं कहते कि उन्होंने ये तत्त्व पूर्ववर्ती कवियों से ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिये या उन्होंने मूल स्रोतों का अन्धानुकरण किया है—अपितु हमारे विचार से उन्होंने मूल तत्त्वों को सम्यक् रूप से अपना कर उन्हें नये सौन्दर्य के साथ प्रस्तुत किया है ; फिर भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनके ये तत्त्व पूर्ववर्ती कवियों से गृहीत हैं—सर्वथा नूतन रूप में आविष्कृत नहीं। वस्तुतः न केवल छायावादी कवि अपितु प्रायः सभी कवि अपनी रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार पूर्ववर्ती कवियों से थोड़ा-बहुत अवश्य ग्रहण करते हैं, यह दूसरी बात है कि वे पूर्ववर्ती कवि स्वदेशी हों या विदेशी। पूर्ववर्तियों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में गृहीत तत्त्व ही रीति के द्योतक हैं जबकि उन तत्त्वों का नव परिणत रूप या उनकी नये रूप में अभिव्यक्ति ही शैली कही जाती है। अवश्य ही इस स्थिति में नये रूप के साथ-साथ कुछ नई विशेषताएँ भी पुराने तत्त्व में मिश्रित हो जाती हैं, किन्तु पुराना तत्त्व सर्वथा लुप्त नहीं होता। अस्तु, अब तक के विवेचन को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है—(अ) प्रत्येक व्यक्ति की शैली के निर्माण में किसी न किसी पूर्व रीति का थोड़ा-बहुत योग अवश्य रहता है। (आ) एक लेखक की 'शैली', उसके अनुकर्त्ता अन्य लेखक के लिए 'रीति' बन जाती है, अतः रीति का सम्बन्ध 'रीति-शास्त्र' से ही नहीं, व्यावहारिक पद्धति से भी है। हम सोहन हलुआ बनाने की रीति चाहे पाक-शास्त्र में पढकर जानें, किसी से पूछकर ज्ञात करें या किसी को हलुआ बनाते देखकर सीखें—तीनों ही अवस्थाओं में 'रीति' 'रीति' है। इसी प्रकार काव्य की रीति भी चाहे आचार्यों के लक्षण-ग्रन्थों से सीखें या दूसरे कवियों के लिखित अनुभवों व निर्देशों से या पूर्व-रचित काव्यों के अनुशीलन के द्वारा—प्रत्येक स्थिति में परम्परा द्वारा प्राप्त ज्ञान रीति है। इसी लिए हम कह सकते हैं कि छायावादी कवियों ने जो तत्त्व पूर्ववर्ती स्वदेशी या विदेशी कवियों से गृहीत किये, वे रीति ज्ञान के सूचक हैं। (इ) प्रत्येक कवि द्वारा अर्जित रीति जब पुनः अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करती है तो वह व्यक्ति-वैशिष्ट्य से युक्त होकर 'शैली' में परिणत हो जाती है। यदि उसमें किसी प्रकार का वैशिष्ट्य परिलक्षित न होता हो तो भी उस व्यक्ति के संदर्भ में उसे 'शैली' ही कहा जायगा। यही कारण है कि हम रीति-काल के उन कवियों की अभिव्यंजना-पद्धति को भी—जिन्होंने रीति का गहरा अनुकरण किया था, 'शैली'

ी कहते हैं ; जैसे, 'मातिराम की काव्य-शैली,' 'पद्माकर की काव्य-शैली' आदि । यदि यहाँ 'शैली' के स्थान पर 'रीति' का प्रयोग किया जाय—जैसे, 'मातिराम की काव्य रीति' या 'पद्माकर की काव्य-रीति'—तो उसके अर्थ का सम्बन्ध अभिव्यंजनागत विशेषताओं से न रहकर उन नियमों एवं सिद्धान्तों से हो जायगा जिनका प्रतिपादन इन कवियों के द्वारा किया गया है । अस्तु, किसी भी कवि की अभिव्यंजना-पद्धति के व्यावहारिक रूप के लिये 'शैली' संज्ञा का प्रयोग ही उचित है—भले ही उसमें वैयक्तिक विशेषताएँ स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती हों या नहीं ; जबकि शैली सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्त, नियम, आदर्श आदि 'रीति' की संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं ।

जिस प्रकार रीति का विशिष्ट व्यवहृत रूप शैली है, उसी प्रकार विशिष्ट शैलियों के आधार पर निर्धारित सामान्य रूप रीति है । अर्थात् जिस प्रकार रीति शैली के निर्माण में योग देती है, उसी प्रकार शैलियाँ भी रीति के निर्धारण में योग देती हैं । युग के साथ व्यक्ति की प्रवृत्तियों में अन्तर पड़ता जाता है, प्रवृत्तियों के साथ शैलियों में अन्तर बढ़ता जाता है, और शैलियों के अन्तर से रीति में परिवर्तन होता रहता है । पुरानी रीति के स्थान पर नई रीति क्यों प्रतिष्ठित होती है ? क्या स्वयं 'रीति' परिवर्तनशील नहीं होती ? आदर्शों की भाँति रीति परम्परागत होती है किन्तु समय के साथ परंपराएँ टूटती हैं, आदर्श बदलते हैं और नई रीतियाँ स्थिर होती हैं । अंग्रेज़ी के स्वच्छन्दतावाद ने पुरानी रीतियों के प्रति विद्रोह किया—उसने कल्पना और बिम्ब-विधान (Imagination और Imagedry) की नई शैली का आविष्कार किया किन्तु वही बिम्ब-विधान आज एक शास्त्रीय सिद्धान्त बनकर न केवल रीति अपितु रूढि का रूप धारण कर चुका है । हमारे विचार से जब तक रीति का उसके प्रयोजन से सम्बन्ध रहता से तब तक ही वह रीति रहती है, किन्तु जब प्रयोजन और रीति में वैषम्य उपस्थित हो जाता है—प्रयोजन और रीति में से एक निरर्थक हो जाता है—तो वहाँ 'रीति' 'रूढि' बन जाती है । जिस प्रकार 'देह' निष्क्रिय हो जाती है तो उसे 'लाश' कहते हैं, वैसे ही 'रीति' निष्क्रिय एवं गतिशून्य होकर 'रूढ़ि' कहलाती है । अस्तु, रूढियों के स्थान पर कई रीतियाँ प्रतिष्ठित करने का कार्य नई शैलियों के आधार पर ही संपन्न होता है साहित्य-शास्त्र का प्रत्येक नया व्याख्याता नये युग की परिवर्तित एवं नव विकसित शैलियों के आधार पर साहित्य के नये सिद्धान्त प्रस्तुत करता हुआ नई रीति की स्थापना करता है । यदि ऐसा न होता तो साहित्य-शास्त्र की प्रत्येक युग में नई-नई व्याख्याएँ प्रस्तुत करने एवं रीति के नये सिद्धान्तों की स्थापना की आवश्यकता नहीं पड़ती । अस्तु, जिस प्रकार शैली के निर्माण में रीति योग देती है, वैसे ही नई रीति की स्थापना में शैलियों का सहयोग रहता है—अतः हम कह सकते हैं कि रीति और शैली—दोनों एक-दूसरी की

सहायक, पूरक एवं आधार हैं। दोनों के पारस्परिक सहयोग से ही साहित्य, साहित्यकार एवं साहित्य-शास्त्र आगे बढ़ता है।

(घ) शैली और रीति में अर्थ-विनिमय

शैली और रीति के सम्बन्धों की घनिष्ठता का एक और बड़ा प्रमाण यह है कि विभिन्न युगों में शास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार दोनों के अर्थों में परस्पर आदान-प्रदान होता रहा है—अर्थात् कभी 'शैली' शब्द का प्रयोग 'रीति' के अर्थ में होता रहा है तो कभी 'रीति' का प्रयोग 'शैली' के अर्थ में होता रहा है। जब काव्य-शास्त्र के आचार्य अभिव्यंजना-पद्धति में विषय को अधिक महत्त्व देने लगते हैं—रचयिता के व्यक्तित्व को गौण कर देते हैं तो 'शैली' का प्रयोग ठीक उसी अर्थ में होने लगता है, जो अर्थ सामान्यतः 'रीति' से सूचित होता है। उदाहरण के लिए प्राचीन ग्रीक आचार्यों—प्लेटो, अरस्तू, डिमैट्रियस, क्विण्टीलियन आदि ने तथा अंग्रेजी के नव्य-शास्त्रवादी आलोचकों—पोप, जानसन आदि ने शैली में विषयगत तत्त्वों की विवेचना करते हुए उसे 'रीति' के अर्थ में ग्रहण किया है जबकि सिसरो, डायोनीसियस, लॉन्जाइनस प्रभृति विद्वानों ने शैली के अन्तर्गत रचयिता के व्यक्तित्व को भी महत्त्व दिया है, जिससे उसका अर्थ 'रीति' की अपेक्षा संकीर्ण हो गया है। किन्तु 'शैली' के सर्वथा व्यक्ति-सापेक्ष अर्थ का विकास यूरोपीय स्वच्छन्दतावादी युग में हुआ, जबकि काण्ट ने घोषणा की कि रचयिता को वस्तु के अनुकूल नहीं अपितु वस्तु (विषय-वस्तु) को रचयिता के अनुकूल होना चाहिए। आगे चलकर वर्ड्सवर्थ, शैली आदि ने इसी परम्परा को आगे बढ़ाया। इस मत की चरम परिणति क्रोचे के द्वारा हुई—उसने अभिव्यंजना या अभिव्यंजना-पद्धति का रचयिता की सहजानुभूति से पृथक कोई अस्तित्व ही नहीं माना—अर्थात् उसे सर्वथा वैयक्तिक माना, विषयगत तत्त्वों की संभावना को उसने अस्वीकार्य घोषित कर दिया। इस प्रकार पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में विभिन्न युगों में 'शैली' का प्रयोग तीन अर्थों में होता रहा है—(१) सर्वथा विषय-सापेक्ष। यह अर्थ 'रीति' का पर्यायवाची है। (२) विषय के साथ-साथ व्यक्ति-सापेक्ष। यह अर्थ रीति और शैली के बीच में पड़ता है। (३) सर्वथा व्यक्ति-सापेक्ष। यह अर्थ रीति से बहुत दूर पड़ता है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की इस अर्थ-गत अस्थिरता के स्थान पर भारतीय काव्य-शास्त्र में एक दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति रही। उसमें भी 'रीति' का अर्थ समय-समय पर बदलता रहा किन्तु भारतीय आचार्यों की यह विशेषता रही कि वे एक ही शब्द को पकड़े नहीं रहे—वे समय-समय पर रीति के विभिन्न पर्यायवाचियों—प्रवृत्ति, मार्ग, संघटना, वृत्ति आदि—का भी प्रयोग करते रहे; इससे एक लाभ यह हुआ कि परिवर्तित अर्थ नये पर्याय से ही सम्बद्ध हो गया—मूल 'रीति' शब्द अविकृत एवं अव्यहत रहा। इसके अतिरिक्त भारतीय आचार्यों ने रीति का आधार केवल

विषय और व्यक्ति को ही नहीं, संस्कृति, भूगोल, रचना की रूपगत विशिष्टता, रचना की प्रभावगत विशिष्टता आदि तत्त्वों को भी माना। भारतीय आचार्यों के निष्कर्षों को तालिका रूप में यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।[1]

रीति के विभिन्न पर्यावाची शब्द

आचार्य	रीति का स्थानापन्न शब्द	आधार	शैली से सम्बन्ध
१. भरत	प्रवृत्ति	संस्कृति	निकट
२. भामह	मार्ग	अभिव्यंजना-पद्धति (भाषा)	दूर
३. बाण	मार्ग	भूगोल (देश)	निकट
४ आनन्द	संघटना	रचना की रूपगत विशिष्टता	दूर
५. राजशेखर	रीति	वचन-विन्यास-क्रम	दूर
६. कुन्तक	मार्ग	कवि-स्वभाव	बहुत निकट
७. मम्मट	वृत्ति	रचना की प्रभावगत विशिष्टता	दूर

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भरत, बाण और कुन्तक ने रीति को वक्ता के स्वभाव, उसकी संस्कृति या उसकी प्रादेशिक विशेषताओं के समीप लाने का प्रयास किया था, किन्तु फिर भी उन्होंने पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी विचारकों की भाँति विषय की सर्वथा उपेक्षा नहीं की। रीति के पर्यायवाची शब्दों एवं उसकी आधारभूत विशिष्टताओं में हेर-फेर होते रहने के बावजूद भी 'रीति' का मूल अर्थ

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र : श्री बलदेव उपाध्याय।
हिन्दी-काव्यालंकार-सूत्र (डॉ० नगेन्द्र) : भूमिका, पृ० ३०-४०।

प्रायः निश्चित सा रहा। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि परवर्ती भारतीय काव्य शास्त्र में—विशेषतः हिन्दी काव्य-शास्त्र में प्रवृत्ति, मार्ग, संघटना, वृत्ति, रीति आदि शब्दों में से केवल 'रीति' ही प्रचलित रहा, शेष अप्रचलित हो गये। आधुनिक युग में पाश्चात्य प्रभाव से 'शैली' का भी प्रयोग होने लग गया है किन्तु फिर भी दोनों के अर्थ में थोड़ा अंतर है, जिसका स्पष्टीकरण पीछे किया जा चुका है। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी में 'रीति' और 'शैली' का अर्थ-भेद इतना निश्चित हो गया है कि फिलहाल इनके अर्थ में किसी प्रकार की अनिश्चितता या भ्रांति की कोई संभावना नहीं है।

३.४. शैली, वृत्ति और प्रवृत्ति—

'रीति' के अतिरिक्त शैली का दूसरा सजातीय शब्द 'प्रवृत्ति' है जिसका अंगरेजी पर्याय 'Tendency' (टेण्डेन्सी) माना जा सकता है। 'प्रवृत्ति' की व्युत्पत्ति 'वृत्ति' से है—'वृत्ति' का अर्थ है—परिस्थिति, दशा, पद्धति, ढंग, चाल-चलन आचरण आदि।[२] किन्तु वर्तमान में 'वृत्ति' का प्रयोग मुख्यतः मनुष्य की सूक्ष्म वृत्तियों या मानसिक वृत्तियों के लिए होता है। मनः + वृत्तियों से ही 'मनोवृत्ति' बनता है। दूसरी ओर 'प्रवृत्ति का प्रयोग कार्य-विशेष में अनुरक्ति या अनुरक्त होने की संभावना के लिए होता है। जैसी मनुष्य की मानसिक वृत्तियाँ होंगी ; वैसे ही क्रिया-कलापों में वह अनुरक्त होगा ; अतः 'वृत्ति' का ही व्यक्त रूप 'प्रवृत्ति' है। वृत्ति सूक्ष्म है, अंतरंग है जबकि 'प्रवृत्ति' स्थूल एवं बाह्य है। किसी व्यक्ति की वर्तमान वृत्तियों से भावी प्रवृत्तियों का पता लगा सकते हैं तो दूसरी ओर उसकी प्रवृत्तियों को देखकर उसकी मूल वृत्तियों को समझ सकते हैं—इस प्रकार वृत्ति और प्रवृत्ति में कारण-कार्य सम्बन्ध है।

ऊपर हमने व्यक्ति-विशेष को ध्यान में रखकर वृत्ति और प्रवृत्ति पर विचार किया है, किन्तु इन शब्दों का प्रयोग जाति, देश और काल के प्रसंग में भी होता है जैसे, वणिक वृत्ति, हिन्दू समाज की प्रवृत्तियाँ, पंजाबी जन-जीवन की प्रवृत्तियाँ, मध्यकालीन प्रवृत्तियाँ। इस प्रकार के व्यापक प्रसंगों में वृत्ति या मनोवृत्ति का प्रयोग कम होता है—प्रवृत्ति का ही अधिक होता है। सामान्यतः किसी भी समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं—अर्थात् उसकी रुचि, स्वभाव एवं परम्परा से सम्बन्धित खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन और क्रिया-कलाप की विशिष्टता को ही प्रवृत्ति कहते हैं। यह प्रवृत्ति एक समाज की हो सकती है, एक प्रदेश, प्रान्त या राष्ट्र की हो सकती है और एक युग की भी हो सकती है, किन्तु इसका तात्पर्य प्रायः समाज विशेष प्रान्त-विशेष या युग-विशेष के जन-समूह की व्यक्त विशिष्टता से ही रहता

---

२. संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ : चतुर्वेदी।

है। अतः प्रवृत्ति का सामान्य अर्थ हुआ 'क्रिया-कलाप एवं व्यवहार की वह विशिष्टता जो कि किसी वृत्ति या मनोवृत्ति की सूचक हो।' इस अर्थ को यदि साहित्य पर लागू करें तो कहेंगे कि साहित्य में प्रवृत्ति विषय या विषय प्रतिपादन की वह विशिष्ट्ता है जो कि साहित्यकार की किसी अंतरंग वृत्ति की सूचना देती हो। उदाहरण के लिए हिन्दी के केशवदास को अलंकारों से इतना प्रेम था कि वे मौके-बे-मौके उनका प्रयोग कर बैठते थे। यदि इस कथन का विश्लेषण करें तो इसमें दो बातें परिलक्षित होंगी—(१) केशवदास की अलंकारों में रुचि = वृत्ति। (२) अलंकार प्रयोग की बहुलता = काव्यगत प्रवृत्ति। इस प्रकार 'प्रवृत्ति' रीति की अपेक्षा शैली के अधिक निकट है; रीति का प्रेरक विषय होता है जबकि प्रवृत्ति का प्रेरक व्यक्ति होता है। दूसरी ओर शैली को यदि हम विषय-प्रतिपादन की वैयक्तिक प्रवृत्तियों का समूह कह दें तो भी अनुचित नहीं होगा—किन्तु यह ध्यान रहे—'प्रवृत्ति' नहीं 'प्रवृत्तियाँ' कहना होगा। 'प्रवृत्ति' केवल एक विशेषता को सूचित करती है, जबकि 'शैली' का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें एक लेखक की सभी प्रवृत्तियों का समूह आ जाता है। 'प्रवृत्ति' यदि एक ईंट है तो 'शैली' अनेक ईंटों से बनी हुई दीवार है—इसीलिए हम "शैलीगत प्रवृत्तियाँ" तो कह सकते हैं, किन्तु "प्रवृत्ति जन्य शैली" नहीं कह सकते। अस्तु, संक्षेप में कहें तो, वृत्ति मानसिक तत्त्व है, उसका व्यक्तरूप प्रवृत्ति है, प्रवृत्तियों का समूह शैली है और शैलियों का सामान्यीकृत रूप रीति है।

●

४
व्यक्तित्व और शैली

●

जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, शैली के चार स्रोतों—व्यक्ति-वैशिष्ट्य, विषय-वैशिष्ट्य, भाषा-वैशिष्ट्य एवं प्रयोजन-वैशिष्ट्य—में सर्व प्रथम व्यक्ति-वैशिष्ट्य या लेखक का व्यक्तित्व है जिसे विभिन्न विद्वानों[1] ने बहुत महत्त्व प्रदान किया है। यहाँ हमारा लक्ष्य शैली और लेखक के व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्धों कीव्याख्या करने का है, किन्तु इससे पूर्व हमें स्वयं 'व्यक्तित्व' का स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए।

४.१. 'व्यक्तित्व' : सामान्य विवेचन—

(क) **व्यक्तित्व का अर्थ**—हिन्दी में 'व्यक्तित्व' का प्रयोग प्रायः अंगरेजी के 'Personality' (पर्सनैल्टी) के पर्याय के रूप में किया जाता है। स्वयं 'पर्सनैल्टी' शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन के Persona (पर्सोना) से मानी जाती है।[2] 'पर्सोना' का प्रयोग मूलतः नाटक में पात्रों द्वारा लगाये जाने वाले नकली चेहरों के लिए होता था, किन्तु आगे चलकर नाटक में 'अनुकार्य' व्यक्ति के लिए इसका प्रयोग होने लगा।[3] किन्तु आधुनिक युग में इसका प्रयोग एक व्यक्ति की उन विशेषताओं के लिए किया जाता है, जो उसे दूसरे व्यक्ति से पृथक करती हैं।

(ख) **'व्यक्तित्व' की परिभाषा**—मनोविज्ञान के विद्वानों ने व्यक्तित्व का विस्तृत विवेचन करते हुए इसकी परिभाषा एवं इसके लक्षण निर्धारित करने का प्रयास किया है, किन्तु वे किसी एक सर्वमान्य निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाये हैं। इसकी परिभाषाओं में विभिन्न विद्वानों ने व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों पर बल दिया है। मैक्डूगल

---

१. अरस्तू, लांजाइनस, गेटे, चेस्टरफील्ड, मिडल्टन मरी, हरबर्ट रीड, एफ० एल० ल्युकस आदि।

2. R. B. Cattell : An Introduction to personality study 1950, Page 20.

3. Udaya Shanker : Development of Personality 1953, Page 7.

महोदय ने 'व्यक्ति की समस्त मानसिक शक्तियों एवं प्रवृत्तियों की पारस्परिक घनिष्ठ क्रिया-प्रतिक्रियाओं की समन्वित इकाई'[४] को व्यक्तित्व माना है तो आग्डन महोदय के शब्दों में 'व्यक्तित्व व्यक्ति के आन्तरिक जीवन का प्रकाशन है।'[५] इसी प्रकार कैटल ने 'विशेष परिस्थिति में व्यक्ति के विशेष व्यवहार'[६] को, कार्न ने 'व्यक्ति की समस्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को'[७], तथा एक अन्य विद्वान ने 'मानसिक चरित्र के समन्वित रूप'[८] को व्यक्तित्व माना है। इस प्रकार इन विद्वानों ने क्रमशः मानसिक शक्तियों एवं प्रवृत्तियों, आन्तरिक जीवन, व्यवहार-विशेष और मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं पर अधिक बल दिया है, किन्तु दूसरी ओर मार्टन प्रिन्स महोदय ने अपनी परिभाषा में 'व्यक्ति की समस्त जन्मजात शारीरिक प्रकृतियों, प्रेरणाओं, प्रवृत्तियों, आवश्यकताओं मूल प्रवृत्तियों एवं अनुभव जन्य विकसित मानसिक दशाओं एवं प्रवृत्तियों के कुल योग' को व्यक्तित्व माना है।[९]। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जहाँ अन्य विद्वानों ने केवल मानसिक पक्ष पर ही बल दिया है वहाँ प्रिन्स महोदय ने शारीरिक पक्ष को भी मानसिक पक्ष के बराबर महत्त्व दिया है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शेष विद्वानों ने शारीरिक पक्ष को इतना गौण क्यों रक्खा ? इसका यही कारण प्रतीत होता है कि मनोविज्ञान में मुख्यतः व्यक्ति के मानसिक पक्ष का ही अनुशीलन किया जाता है, इससे इन्होंने शारीरिक पक्ष की उपेक्षा कर दी है, अन्यथा शारीरिक पक्ष को व्यक्तित्व से भिन्न नहीं माना जा सकता। यहाँ ध्यान रहे कि, उपर्युक्त विद्वान परिभाषा करते समय शारीरिक पक्ष को प्रायः भूल गये हैं, जबकि व्यक्तित्व के लक्षणों की विवेचना करते समय उन्होंने शारीरिक लक्षणों की भी चर्चा की है; उदाहरण के लिए कैटिल महोदय ने व्यक्तित्व के लक्षणों में शारीरिक क्षमता, श्रम-शक्ति, आदि का उल्लेख किया है।[१०] वस्तुतः 'व्यक्तित्व' 'व्यक्ति' की भाववाचक संज्ञा है, अतः व्यक्ति के क्षेत्र में जिन-जिन गुणों एवं विशेषताओं का समावेश होता है

---

4. McDougall "a synthetic Unity of all mental features and functions in their intimate inter play"
—The Energies of Man 1932, Page 360.
5. Ogden : "Personality is the expression of a man's inner life."
6. Cattele : "Personality is that which determines behaviour in a defined situation." A. I. P. S., Page 22.
7. Karn : "All the essential psychological processes that distinguish one person from another" Psychology 1955, Page. 190.
8. "the sum total of the psychological characters of individual" Cattell, Page 19.
9. Morton Prince—"the sum total of all the biological innate dispositions, impulses, tendencies appetites and instincts of the individual and the dispositions and tendencies acquired by experience". —The Unconscious, II, I, 1929, Page 532.
10. Cattell : An Introduction to personality study : 1950, Page 22.

वे सब 'व्यक्तित्व' के अन्तर्गत भी ली जा सकती हैं—इतना अवश्य है कि विषय-भेद के अनुसार व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों में से कोई एक पक्ष प्रमुखता प्राप्त कर लेता है, जैसे, चिकित्सा-शास्त्र में व्यक्ति के शारीरिक व्यक्तित्व को प्रमुखता मिलती है तो नीति-शास्त्र में व्यक्ति के चरित्र और व्यवहार को। साहित्य का व्यक्तित्व के किस पक्ष से सम्बन्ध है, इस पर आगे विचार किया जायगा।

४.२. व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष और शैली—

(क) सामान्यतः व्यक्तित्व के तीन पक्ष माने जा सकते हैं[११]—(१) शारीरिक पक्ष (२) मानसिक पक्ष (३) चरित्र एवं कार्य-व्यवहार सम्बन्धी पक्ष। इनमें से मानसिक पक्ष के भी दो भेद किये जा सकते हैं—बौद्धिक एवं भावात्मक। इस प्रकार व्यक्तित्व के कुल चार भेद करते हुए व्यक्ति की विभिन्न विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) **शारीरिक पक्ष**—अंग-प्रत्यंगों की पूर्णता, विकास, रूप-सौन्दर्य, शारीरिक शक्ति, ऐन्द्रिक क्षमताएँ आदि।

(२) **बौद्धिक पक्ष**—विवेक-बुद्धि, स्मरण-शक्ति, कल्पना-शक्ति, ज्ञान, तर्क एवं चिन्तन शक्ति आदि।

(३) **भावात्मक पक्ष**—सहज प्रवृत्तियाँ, भाव, भावनाएँ, मनोदशा, अनुभूतियाँ आदि।

(४) **चरित्र एवं कार्य-व्यवहार**—प्रकृति, स्वभाव, चारित्रिक गुण-दोष, विभिन्न परिस्थितियों एवं व्यक्तियों के प्रति व्यवहार, इच्छाएँ एवं क्रिया-कलाप आदि।

उपर्युक्त पक्षों में से शैली का सम्बन्ध किस पक्ष से है—इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत इस प्रकार हैं—

(अ) **अरस्तू**—(१) व्यक्ति का विवेक (२) चरित्र (३) श्रोताओं के प्रति दृष्टिकोण।[१२]

(आ) **लौंजाइनस**—व्यक्तित्व की महानता[१३] (अस्पष्ट)

(इ) **गेटे**—मस्तिष्क या मानसिक पक्ष[१४]

(ई) **चेस्टर फील्ड**—विचार-धारा[१५]

---

11. E. M. Ligon : Dimensions of character 1956, Page 196-7. पर दिये गये वर्गीकरण का संशोधित रूप।
12. F. L. Lucas : Style 1955, Page 50.
13. Do, Page 50.
14. Goethe : "...an authors style is a faithful copy of his mind". 'The new dictionary of thoughts' : B. T. Edwards.
15. Chesterfield : "...Style is the dress of thoughts", Same.

(ङ) **बफन**—प्रकृति[16]

(ऊ) **मिडल्टन मरी**—भावात्मक दृष्टिकोण[17]

(ए) **हरबर्ट रीड**—मानसिक प्रक्रियाएँ[18]—(१) चिन्तन (२) अनुभूति (३) संवेदना (४) सहजानुभूति।

(ऐ) **एफ० एल० ल्यूकस**[19]—(१) पाठकों के प्रति दृष्टिकोण (२) सहृदयता एवं विनोदात्मकता (३) स्वस्थता एवं विनोदात्मकता (४) सद्-विवेक एवं निष्कपटता।

स्पष्टता के लिए उपर्युक्त मतों को तालिका-रूप में इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष और शैली

विचारक	शारीरिक पक्ष	बौद्धिक पक्ष	भावात्मक पक्ष	चरित्र एवं कार्य व्यवहार
अरस्तू		विवेक		चरित्र दृष्टिकोण
गेटे		मस्तिष्क		
चेस्टरफील्ड		विचारधारा		
बफन				प्रकृति
मिडल्टन मरी			भावात्मक दृष्टिकोण	
हरबर्ट रीड		मानसिक प्रक्रियाएँ १. चिन्तन	२. अनुभूति ३. संवेदना ४. सहजानुभूति	
ल्युकस		१. विवेक		१. दृष्टिकोण २. सहृदयता ३. विनोदात्मकता ४. निष्कपटता

उपर्युक्त तालिका के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानों के

16. Buffon : "...it is a part of his nature", Same.
17. Middleton Murry : The Problem of Style, Page 71.
18. Herbert Read : "English Prose style", 1928, Page, 85.
19. F. L. Lucas : "Style" 1955, Page 66.

व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों से शैली का सम्बन्ध स्वीकार किया है। शारीरिक पक्ष को छोड़कर शेष सभी पक्षों का विभिन्न विद्वानों ने समर्थन किया है—कदाचित् इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शैली का सम्बन्ध व्यक्तित्व के किसी एक पक्ष से नहीं अपितु विभिन्न पक्षों से है, किन्तु इस निष्कर्ष को अंतिम रूप से स्वीकार करने से पूर्व यह उचित होगा कि हम यहाँ व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों पर क्रमशः विचार करते हुए स्वतन्त्र दृष्टि से किसी निर्णय पर पहुँचें।

४.३. व्यक्तित्व का शारीरिक पक्ष और शैली—

इस पक्ष की प्रायः विद्वानों ने उपेक्षा की है। इसमें कोई संदेह नहीं की शारीरिक पक्ष का शैली से अधिक सम्बन्ध नहीं है किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए एक जन्मान्ध व्यक्ति की रंग-रूपों की कल्पना में अन्य व्यक्तियों की कल्पना से थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य रहेगा, जिसके परिणाम-स्वरूप उसकी शैली में भी अन्तर का आ जाना स्वाभाविक है। कदाचित् हमारे इस निष्कर्ष के विरुद्ध महाकवि सूरदास का उदाहरण प्रस्तुत किया जाय, किन्तु उनके जन्मान्ध होने की बात विवादास्पद है, अतः उसे यहाँ लागू करने की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः किसी भी ऐसी शारीरिक न्यूनता या विशेषता का—जिसका कि लेखक की कल्पना-शक्ति एवं अनुभूति से सम्बन्ध है, शैली पर प्रभाव अवश्य पड़ेगा, यह दूसरी बात है कि वह प्रभाव इतनी अल्प मात्रा में हो कि उसे हम स्पष्ट रूप में न देख पायें।

व्यक्ति का शारीरिक रूप-सौन्दर्य भी प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उसकी शैली को प्रभावित कर सकता है। शारीरिक हीनता एवं कुरूपता कई बार व्यक्ति के मन में हीनता की भावना उत्पन्न कर देती है, जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप ऐसे व्यक्ति अन्य क्षेत्रों में विशिष्टता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। प्रायः देखा गया है कि इस प्रकार के व्यक्ति अपनी लिखावट को सुन्दर बनाने की ओर अधिक ध्यान देते हैं। अतः यह संभव है कि यदि कोई ऐसा व्यक्ति लेखन-क्षेत्र में प्रवृत्त हो तो अपनी शैली को अधिक आकर्षक बनाने का प्रयास करे। उस तथ्य का एक प्रमाण हमें हिन्दी के मध्यकालीन कवि मलिक मुहम्मद जायसी के काव्य में मिलता है। उन्होंने पद्मावत में लिखा है—"एक नैन कबि मुहम्मद गुनी। सोइ बिमाहा जेइँ कवि सुनी',[२१] अर्थात् 'एक आँख का होने पर भी मुहम्मद ने काव्य गुना है, जिसने वह काव्य सुना वही मोहित हो गया।' इससे स्पष्ट है कि जायसी के मन में काव्य-रचना के समय अपनी शारीरिक हीनता की चेतना थी। दूसरी ओर यह भी

---

20. F. L. Lucas : Style 1955, Page 50.
२१. पद्मावत : सं० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० २०।

तथ्य है कि जायसी के काव्य में आलंकारिकता एवं चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी बहुत अधिक मिलती है। यद्यपि इस प्रवृत्ति के मूल में तत्कालीन युग एवं समाज के संस्कार भी हो सकते है, फिर भी इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि अन्य बहुत से कारणों के साथ-साथ एक कारण जायसी की शारीरिक-हीनता सम्बन्धी चेतना का प्रभाव भी रहा होगा। अस्तु, परिस्थिति के अनुसार साहित्यकार के शारीरिक व्यक्तित्व का शैली से थोड़ा बहुत सम्बन्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य स्वीकार किया जा सकता है।

४.४. बौद्धिक पक्ष और शैली—

मनोविज्ञान के अनुसार बौद्धिक पक्ष के अन्तर्गत मुख्यतः व्यक्ति की सामान्य बुद्धि, ग्रहण-शक्ति, स्मरण-शक्ति, कल्पना-शक्ति, चिन्तन-शक्ति आदि को लिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति साहित्य-रचना में जिस मानसिक सामग्री का उपयोग करता है, वह बहुत कुछ इन्हीं शक्तियों के माध्यम से उपलब्ध होती है। इन विभिन्न मानसिक शक्तियों का साहित्य की विभिन्न वस्तुओं से गहरा सम्बन्ध है; जैसे, साहित्य में प्रयुक्त भाषा का व्यक्ति की ग्रहण शक्ति से, प्रयुक्त तथ्यों का स्मरण-शक्ति से, विभिन्न दृश्यों, परिस्थितियों एवं घटनाओं के वर्णन, चित्रण एवं अलंकरण का कवि की कल्पना-शक्ति से तथा नवीन विचारों का उसकी चिन्तन-शक्ति से गहरा सम्बन्ध होता है। यह भी एक मनोविज्ञान-सम्मत तथ्य है कि सभी व्यक्तियों में ये मानसिक शक्तियाँ एक ही मात्रा एवं एक ही अनुपात में नहीं होतीं—अतः शक्तियों की मात्रा एवं अनुपात के भेद के अनुसार उनके कार्य या उनके द्वारा प्रस्तुत सामग्री में भी परस्पर अन्तर का आ जाना स्वाभाविक है। यही कारण है कि एक ही युग और एक ही विषय से सम्बद्ध दो कवियों की रचनाओं में भी रूप एवं शैली की दृष्टि से गहरा अन्तर आ जाता है। उदाहरण के लिए 'रामचरित मानस' के रचयिता तुलसी, एवं 'रामचंद्रिका' के रचयिता केशवदास को ले सकते हैं। यद्यपि दोनों लगभग एक ही युग से सम्बन्धित थे तथा दोनों का विषय भी एक था, फिर भी दोनों की रचनाओं में गहरा अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इस अन्तर का प्रमुख कारण दोनों के बौद्धिक दृष्टिकोण एवं मानसिक शक्तियों के पारस्परिक अन्तर को बताया जा सकता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त मानसिक शक्तियों में से कुछ का सम्बन्ध साहित्य की विषय-वस्तु से अधिक है जबकि कुछ का शैली से अधिक है; जैसे, स्मरण-शक्ति एवं चिन्तन-शक्ति का साहित्य की विषय-वस्तु से अधिक गहरा सम्बन्ध माना जा सकता है क्योंकि इनके द्वारा प्रस्तुत तथ्य एवं विचार विषय-वस्तु के घटक तत्त्व होते हैं। इसके विपरीत ग्रहण-शक्ति और कल्पना-शक्ति का शैलीपक्ष से अधिक सम्बन्ध है। ग्रहण-शक्ति के अन्तर के कारण ही दो कवियों की भाषा-शैली के घटक तत्त्वों—शब्दावली, अर्थ-शक्ति, व्याकरण, मुहावरे आदि में तथा कल्पना-शक्ति के

कारण बिम्ब-विधान, अलंकार-योजना, व्यंग्यात्मकता, वस्तु-नियोजना आदि में अन्तर आ जाता है, जिनका सम्बन्ध साहित्य की शैली से है। अतः शैलीगत वैशिष्ट्य में साहित्यकारों के बौद्धिक पक्ष—जिसमें विशेषतः ग्रहण-शक्ति एवं कल्पना-शक्ति—के वैशिष्ट्य का गहरा योग-दान स्वीकार किया जा सकता है।

४.५. भावात्मक पक्ष और शैली—

मनोविज्ञान के अनुसार भावात्मक पक्ष के अन्तर्गत व्यक्ति की अनुभूति, संवेदना, मनः स्थिति, भावावेग, भावना आदि भावात्मक प्रवृत्तियों को लिया जाता है। जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, साहित्य में प्रस्तुत तथ्य, विचार, दृश्य आदि का विवरण अनुभूति से संवलित होता है अन्यथा उसमें अपेक्षित साहित्यिकता या आकर्षण-क्षमता नहीं आ पाती। अतः इसमें तो कोई संदेह नहीं कि इन प्रवृत्तियों का साहित्य से गहरा सम्बन्ध है किन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि इनका साहित्य के विषय पक्ष से अधिक सम्बन्ध है या शैली पक्ष से ? यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि हमने पीछे साहित्य के विषय-पक्ष पर विचार करते समय भावों को विषय के अन्तर्गत स्थान दिया है, अतः यदि अब हम इन्हें साहित्य की शैली से सम्बद्ध करें तो संभवतः इसमें स्वतोव्याघात दोष दृष्टिगोचर हो सकता है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। जो चीनी बताशे और मिश्री के निर्माण में आधारभूत विषय या सामग्री का काम देती है, वही लड्डू के निर्माण में केवल चाशनी के रूप में शैली के जैसा ही काम दे पाती है—भावों का भी साहित्य से ऐसा ही सम्बन्ध है। करुणा, प्रेम, क्रोध आदि भाव जहाँ एक ओर विषय-वस्तु के लिये सामग्री प्रस्तुत करते हैं वहाँ दूसरी ओर वे वक्ता या लेखक की वाणी, गति एवं चेष्टाओं को भी प्रभावित करते हैं। मन की शान्त अवस्था में जहाँ एक व्यक्ति भाषा के सामान्य एवं स्थिर रूप का प्रयोग करता है वहाँ उत्तेजित अवस्था में वह भाषा के विशिष्ट रूप का प्रयोग करता है। भावावेश के समय हमारा स्वर विचित्र प्रकार से उच्च या मंद, उच्चारण अस्पष्ट, शब्द अस्फुट, अर्थ लाक्षणिक या व्यंग्य हो जाता है। साथ ही भाव की गंभीरता एवं दीर्घता के अनुसार भी हमारी अभिव्यक्ति का स्वरूप परिवर्तित होता है। अस्तु, हमारे भावात्मक पक्ष का सम्बन्ध न केवल हमारे कथ्य से है अपितु कथन-विधि से भी उसका गहरा सम्बन्ध है। जब एक साहित्यकार सच्ची अनुभूति एवं भाव की यथार्थ प्रेरणा से प्रेरित होकर साहित्य-रचना करता है तो उसकी शैली में सहज ही ऐसे आकर्षक तत्त्वों का समावेश हो जाता है जो अन्यथा नहीं आ पाते। कुछ लोग अनुभूति एवं भावावेग के अभाव में ही इन आकर्षक तत्त्वों—बिम्ब, अलंकार, ध्वनि आदि—का समावेश अपने काव्य में करने का प्रयास करते हैं किन्तु उस स्थिति में उनकी शैली में कृत्रिमता आ जाती है, जिससे वांछित लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती। अस्तु, कवि या लेखक की भावात्मकता, संवेदनशीलता एवं अनुभूति की व्यापकता

एवं गंभीरता के अनुसार उसकी शैली में विशिष्टता का आ जाना स्वाभाविक है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि साहित्यकार के व्यक्तित्व के भावात्मक पक्ष का भी उसकी शैली से गहरा सम्बन्ध होता है—इस पक्ष की क्षमता के अनुसार ही उसकी अभिव्यंजना-शैली में शक्ति का संचार होता है।

४.६. चारित्रिक पक्ष—

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चारित्रिक प्रवृत्तियों के अनेक वर्ग-भेद किये जाते हैं, जिन्हें संक्षेप में निम्नांकित चार समूहों में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) **प्रकृति एवं स्वभाव**—जैसे, शान्त प्रकृति, चंचल प्रकृति, गंभीर प्रकृति, कोमल प्रकृति आदि।

(२) **चारित्रिक गुण**—जैसे, उदारता, विनम्रता, निष्कपटता, साहिष्णुता आदि।

(३) **बौद्धिक मान्यताएँ**—जैसे, दृष्टिकोण, विचारधारा, आदर्श आदि।

(४) **क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ**—जैसे, रुचि, शौक, आदत, व्यवसाय, लोकव्यवहार।

उपर्युक्त सभी प्रकार की चारित्रिक प्रवृत्तियों का न्यूनाधिक प्रभाव शैली पर पड़ता है, अतः इन पर यहाँ क्रमशः विचार करना उचित होगा।

(क) **प्रकृति एवं स्वभाव**—लेखक की शैली पर उसकी प्रकृति का थोड़ा-बहुत प्रभाव प्रायः दृष्टिगोचर होता है। शान्त और गंभीर प्रकृति के लेखकों की शैली में प्रायः गंभीरता का गुण तथा अस्थिर एवं चंचल प्रकृति के लेखकों में शैली गत चंचलता दृष्टिगोचर होती है। यहाँ गंभीरता एवं चंचलता से हमारा आशय न केवल शैली के प्रभाव की गंभीरता एवं चंचलता से है अपितु उससे शैली की स्थिरता एवं परिवर्तनशीलता का अर्थ भी लिया जा सकता है। जहाँ कुछ व्यक्तियों की शैली-का रूप प्रायः सर्वत्र एक जैसा रहता है, वहाँ कुछ व्यक्तियों की शैली सदा परिवर्तित होती रहती है। उदाहरण के लिए, हम एक ही युग के दो साहित्यकारों—श्री सूर्य-कान्त त्रिपाठी 'निराला' एवं श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य को ले सकते हैं। जहाँ महादेवी वर्मा की काव्य-शैली प्रारम्भ से लेकर अब तक प्रायः अपरिवर्तित एवं एक रूप रही है वहाँ निराला की शैली समय-समय पर विभिन्न रूप ग्रहण करती रही है; कभी वे संस्कृति-गर्भित क्लिष्ट शब्दावली का प्रयोग करते रहे तो कभी 'वह आता, दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता' (भिखारी) जैसी सरल पदावली लिखते रहे हैं; कहीं उन्होंने मुक्तक-छंद का प्रयोग किया है तो कहीं गीति और प्रबन्ध शैली का। हमारे विचार से इस परिवर्तनशीलता के मूल में कवि की प्रकृतिगत चंचलता को स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार कोमल प्रकृति के कवि सुमित्रानंदन पंत के काव्य में जहाँ सर्वत्र कोमल शब्दावली का प्रयोग मिलता है, वहाँ दिनकर के ओजस्वी काव्य में प्रकृतिगत दृढता एवं ओजस्विता का परिचय

मिलता है। अस्तु, साहित्यकार की शैली पर उसकी मूल प्रकृति का न्यूनाधिक प्रभाव अवश्य पड़ता है ; यह दूसरी बात है कि कहीं वह इतना सूक्ष्म हो कि हम उसे भली-भाँति न देख पायें।

(ख) **चारित्रिक गुण**—जब लेखक वैयक्तिक विषयों का प्रतिपादन कर रहा हो तो उसमें उसके चारित्रिक गुणों की भी झलक आ जाती है, किन्तु कई बार प्रतिपाद्य विषय का लेखक के व्यक्तित्व से सीधा सम्बन्ध न होते हुए भी शैली के माध्यम से ही उसके चारित्रिक गुणों की अभिव्यक्ति हो जाती है। विशेषतः व्यक्ति की विनम्रता, विनोद-प्रियता, निष्कपटता, आदि गुण तो अनायास ही शैली में फूट पड़ते हैं। यहाँ हम हिन्दी के कुछ प्रतिष्ठित लेखकों की शैली से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

विनम्रता—"अस्तु ! अब बुद्ध भगवान् के आविर्भाव-काल के सम्बन्ध की बातें सुनने की **कृपा कीजिए**।"

—आ० महावीर प्रसाद द्विवेदी।

"मैं पाठकों का समय व्यर्थ में नष्ट नहीं करूँगा—विश्वास रक्खें।"

—आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

विनोद-प्रियता—"·····यद्यपि कठिन है फिर भी किसी युक्ति से उदीयमान छायावादी कवि की नाड़ी में थोड़ा विनोद भर दीजिये, वह किसी फिल्म-कंपनी का नामी अभिनेता हो जायगा।" —अशोक का फूल, पृ० ४८।

निष्कपटता—"वर्षों से अध्यापन का कार्य कर रहा हूँ·····विद्यार्थियों और अपने-आपको समझाता रहा हूँ कि इस काव्य-रस के रसिकों को एक आलौकिक अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है जो ब्रह्मानन्द का सहादेर है·····परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ है कि भीतर से एक आवाज नहीं आती हो कि आखिर प्रमाण क्या है ?···· मैंने अपने श्रोताओं को धोखा नहीं दिया है, उन्हें भी इस प्रश्न की ओर उन्मुख किया है ; परन्तु अपने-आपको मैंने धोखा दिया है।" —वही, पृ० १४८।

उपर्युक्त उद्धरणों में व्यक्ति-वैशिष्ट्य के कारण शैली में विशेष आकर्षण आ गया है, जिसे हम लेखक के चारित्रिक गुणों की देन मान सकते हैं।

(ग) **बौद्धिक मान्यताएँ एवं आदर्श**—एक ही युग और एक ही भाषा के दो लेखकों की शैलियों में उनके बौद्धिक दृष्टिकोण तथा उनकी मान्यताओं एवं आदर्शों के अंतर के कारण उनकी शैली में पर्याप्त अंतर पड़ जाता है। राजा शिव प्रसाद सिंह एवं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—दोनों एक ही स्थान, एक ही समय और एक ही भाषा के लेखक थे फिर भी दोनों की शैलियों में बहुत अन्तर मिलता है। जहाँ राजा शिव प्रसाद सिंह के विचार से हिन्दी में अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग अबाध रूप से किया जाना उचित था, वहाँ भारतेन्दु इस मत के विरोधी थे। फल स्वरूप राजा शिव प्रसाद सिंह की शैली से अरबी-फारसी के शब्दों की भरमार है जबकि बाबू हरिश्चन्द्र में

ऐसा नहीं मिलता। इसी प्रकार विभिन्न लेखकों की शैली सम्बन्धी धारणाओं एवं आदर्शों में भी अन्तर होता है, जिससे उनकी शैली में भी गहरा अन्तर आ जाता है। द्विवेदी युगीन एवं छायावादी युगीन कवियों और लेखकों की शैलियों में या छायावादी और प्रगतिवदी साहित्यकारों की शैलियों में जो अन्तर मिलता है, वह बहुत कुछ उनकी धारणाओं एवं आदर्शों से ही सम्बन्धित है। जहाँ द्विवेदी युग के कवियों का लक्ष्य लोक-सुधार था, अतः वे जन-साधारण की दृष्टि से काव्य-रचना करते थे, जबकि दूसरी ओर छायावादी कवियों का लक्ष्य स्वानुभूतियों की व्यंजना करना था, दोनों वर्गों के इस लक्ष्य-भेद के कारण दोनों की साहित्यिक मान्यताओं एवं उनके काव्यादर्शों में अन्तर आ गया तथा इसका प्रभाव उनकी शैली पर भी पड़ा; जहाँ द्विवेदी युग की शैली में सरलता एवं स्पष्टता का गुण मिलता है वहाँ छायावादी कवियों की शैली में इसका अभाव है। कई बार यह भी देखा गया है कि जब एक कवि के आदर्श बदलते हैं तो उसकी शैली भी परिवर्तित हो जाती है; उदाहरण के लिये कविवर सुमित्रानन्दन पंत के काव्य को देखा जा सकता है। पंत जी के आदर्श समय-समय पर बदलते रहे हैं—प्रारंभ में वे छायावादी थे, फिर क्रमशः प्रगतिवादी एवं अध्यात्मवादी बने; परिणाम-स्वरूप उनकी शैली भी साथ-साथ बदलती रही है। उनकी 'वीणा' 'ग्राम्या' और 'स्वर्ण-किरण' आदि रचनाओं में शैली का पारस्परिक अन्तर उनके इसी परिवर्तन को सूचित करता है। अस्तु, यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि लेखक की शैली पर उसकी साहित्यिक मान्यताओं एवं उसके जीवन-दर्शन का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

(घ) **क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ**—व्यक्ति की रुचि, प्रेरणा-स्रोत, आदत, व्यवसाय, कार्य-क्षेत्र एवं व्यवहार सम्बन्धी विभिन्न प्रवृत्तियों का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव उसकी शैली पर स्वीकार किया जा सकता है। एक साहित्यकार के सामने काव्य-शैली के अनेक नमूने उपस्थित रहते हैं किन्तु वह उनमें से अपनी रुचि के अनुसार ही कोई एक नमूना या कुछ नमूने चुनता है। यद्यपि रीतिकाल में कवित्त-सवैयों का प्रचलन अधिक था, किन्तु बिहारी ने इनके स्थान पर दोहा-शैली को स्वीकार किया, इसे हम कवि का रुचि-भेद ही कह सकते हैं। इसी प्रकार साहित्यकार के प्रेरणा-स्रोतों का भी उसकी शैली पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। गोस्वामी तुलसीदास जी अवधी भाषा में 'रामचरित-मानस' जैसे ग्रन्थ की रचना कर चुके थे, किन्तु फिर भी उन्होंने अपनी 'गीतावली' में गीति-शैली एवं ब्रजभाषा का प्रयोग किया है—इसका कारण संभवतः यही था कि उन्हें इसकी रचना की प्रेरणा सूरदास जी के ब्रजभाषा में रचित गीतिकाव्य से मिली थी, अतः उसी के अनुरूप उन्होंने भाषा एवं शैली का प्रयोग किया।

साहित्यकार की आदत या उसके अभ्यास का भी उसकी शैली के निर्माण में पर्याप्त योग-दान रहता है। सामान्यतः एक साहित्यकार जिस प्रकार की शैली के

ग्रन्थों के पढने-सुनने का अभ्यास करता है, उसी के अनुरूप वह लिखने लगता है। कदाचित् यदि वह किसी कारण से पठित ग्रन्थों की शैली का बिल्कुल अनुकरण न भी करे तो भी उनका न्यूनाधिक प्रभाव अवश्य पड़ सकता है। उदाहरण के लिए, एक ही भाषा के दो कवियों—जायसी और तुलसी को ले सकते हैं। जहाँ जायसी की भाषा में तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है वहाँ तुलसीदास की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता है—इस अन्तर का कारण तुलसीदास का संस्कृत का अभ्यास कहा जा सकता है। मुंशी प्रेमचंद प्रारंभ में उर्दू के लेखक थे, अतः उनकी हिन्दी में भी उर्दू के शब्दों व मुहावरों का प्रयोग तथा उर्दू की अन्य कुछ प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं जबकि इसके विपरीत श्री जयशंकर प्रसाद एवं महादेवी वर्मा में संस्कृत-साहित्य के अध्ययन एवं अभ्यास के कारण संस्कृत गर्भित शैली का प्रयोग मिलता है।

लेखक के व्यवसाय एवं कार्य-क्षेत्र का भी उसकी शैली पर प्रभाव पड़ सकता है। साहित्यकार अपने व्यवसाय एवं कार्य-क्षेत्र के अनुसार ही जनता के विभिन्न वर्गों के निकट संपर्क में आता है तथा विभिन्न वर्गों की रुचि, प्रवृत्ति एवं शैली से प्रभावित होता है। ध्यान रहे, विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में एक ही भाषा के विभिन्न रूप हो जाते हैं। जो हिन्दी बाजार में बोली जाती है, वही राजनीतिक नेताओं में, फिल्म-अभिनेताओं में, धार्मिक व्याख्याताओं में, गृहस्थ-परिवारों में, स्कूल-अध्यापकों में एवं कालेज-प्रोफेसरों में प्रयुक्त नहीं होती। हिन्दी के इन विभिन्न रूपों का यदि हम सूक्ष्म विश्लेषण करें तो इनमें परस्पर गहरा अन्तर दृष्टिगोचर होगा। बाजारू हिन्दी में जहाँ निम्न वर्ग एवं मध्य वर्ग द्वारा स्वीकृत भाषा का सामान्य रूप प्रयुक्त होगा वहाँ फिल्मी क्षेत्रों की हिन्दी में भावुकता-प्रदर्शन के लिए उर्दू के सस्ते रोमांचक शब्दों—प्यार, इश्क, जुदाई आदि का प्रयोग होगा। जहाँ धार्मिक व्याख्याताओं की शैली में दर्शन और धर्म की संस्कृत शब्दावली का प्राचुर्य होना संभव है, वहाँ कालेजों के वातावरण में पलने वाली हिन्दी अंग्रेजी के शब्दों—जैसे, एग्जामिनेशन, ट्यूशन, फीस, रिसर्च, स्ट्राइक, होस्टल, किचन, प्रिन्सिपल, लेक्चर, अटैडेन्स आदि—से परिपूर्ण रहेगी। ऐसी स्थिति में व्यवसाय आदि के कारण लेखक का सम्बन्ध जिस क्षेत्र से होगा उसी का थोड़ा-बहुत प्रभाव उसकी शैली पर पड़ना संभव है—यह दूसरी बात है कि कोई लेखक किसी कारण से या जान-बूझकर इस प्रकार के प्रभाव से बचने का प्रयास करे।

व्यवसाय एवं कार्य-क्षेत्र के कारण साहित्यकार की न केवल शब्दावली में अपितु उसकी अन्य शैलीगत प्रवृत्तियों में भी थोड़ा-बहुत अंतर आ सकता है। उदाहरण के लिए हम हिन्दी के दरबारी कवियों एवं भक्त कवियों की तुलना कर सकते हैं। दरबार में बैठकर बड़े-बड़े प्रबन्ध-काव्य नहीं सुनाये जा सकते तथा वहाँ विद्वता और चमत्कार का प्रदर्शन भी अपेक्षित होता है—अतः दरबारी कवियों—

केशव, बिहारी, पद्माकर आदि—में मुक्तक शैली, अलंकारिकता एवं विद्वता-प्रदर्शन की प्रवृत्ति प्रायः मिलती है जबकि इसके विपरीत भक्त कवियों में सरल भावात्मक गीति या प्रबन्ध-शैली का प्रयोग मिलता है। मंदिरों में काव्यास्वादन या तो कीर्त्तन के रूप में या कथा-वाचन के रूप में होता है, जिनके लिये क्रमशः गीति एवं प्रबन्ध शैली उपयुक्त रहती हैं। हमारे विचार से यही कारण है कि भक्त कवियों ने मुख्यतः इन्हीं को अपनाया है। अस्तु, यह निश्चित है कि साहित्यकार अपने कार्य-क्षेत्र के वातावरण एवं उसकी आवश्यकताओं से थोड़ा-बहुत प्रभावित होता है तथा उसकी शैली भी इस प्रभाव से मुक्त नहीं रहती।

(ङ) **व्यावहारिक प्रवृत्तियां**—व्यक्ति के दूसरों के प्रति व्यवहार को भी मनोवैज्ञानिक चारित्रिक प्रवृत्तियों के अंतर्गत लेते हैं, अतः हम भी यहाँ लेखक की व्यवहार सम्बन्धी या व्यावहारिक प्रवृत्तियों पर शैली की दृष्टि से विचार कर सकते हैं। अनेक प्राचीन विद्वानों ने इस बात को स्वीकार किया है कि व्यक्ति की व्यावहारिक प्रवृत्तियों का उसकी शैली पर भी प्रभाव पड़ता है। लेखक जिस प्रकार का व्यवहार अपने पाठकों से करना चाहता है, उसी के अनुरूप शैली का प्रयोग उसके द्वारा होता है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए श्री अरस्तू महोदय ने श्रोताओं के प्रति वक्ता के सद्भाव को—या पाठक के प्रति लेखक के भाव को—सफल शैली का एक आवश्यक उपकरण माना है।[२२] आधुनिक युग में श्री एफ० एल० ल्युकस ने भी अपने शैली सम्बन्धी ग्रन्थ में शैली के विभिन्न गुण-दोषों की व्याख्या लेखक की व्यावहारिक प्रवृत्तियों के आधार पर की है।[२३] उनकी मान्यता है कि शैली में स्पष्टता, संक्षिप्तता, विविधता आदि गुण इस बात के सूचक हैं कि कोई लेखक अपने पाठकों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहता है; जो लेखक पाठकों के प्रति सद्व्यवहार करना चाहता है, उसकी शैली में सरलता एवं स्पष्टता रहती है जबकि इसके विपरीत अशिष्ट लेखकों की शैली में इन गुणों का अभाव रहता है।[२४] इसी प्रकार जो लेखक पाठकों के समय का ध्यान रखता है तथा उन्हें उबाना नहीं चाहता, उसकी शैली में क्रमशः संक्षिप्तता एवं वैविध्य का गुण रहता है, अन्यथा उसमें अनावश्यक विस्तार एवं अरोचकता का दोष रहता है। श्री ल्युकस महोदय के इन विचारों से हम पूर्णतः सहमत नहीं हो सकते क्योंकि हमारे विचार से शैलीगत अस्पष्टता, जटिलता, अनावश्यक विस्तार आदि के मूल में सदा लेखक की पाठकों की प्रति दुर्भावना एवं अशिष्टता की प्रवृत्ति ही नहीं होती अपितु इनके पीछे लेखक के विचारों की अस्पष्टता, अनुभूति की गूढ़ता एवं अभिव्यक्ति की असमर्थता आदि कारण भी हो सकते हैं। फिर भी इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि जिस लेखक को अपने पाठकों का ध्यान है, वह जब तक स्वयं स्पष्ट नहीं हो जाता या जब तक अभिव्यक्ति का

22. Aristotle : Rhetorics.
23. F. L. Lucas : Style.
24. Same, Page 67-80.

अपेक्षित सामर्थ्य प्राप्त नहीं कर लेता तब तक अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठकों के सामने उपस्थित होने का दुःसाहस नहीं करेगा। पर कई बार साहित्यिक क्षेत्र में इसका उलटा भी होता है—प्रायः ऐसे लेखक एवं कवि जो स्वभाव से अहंवादी एवं व्यक्तिनिष्ठ होते हैं, अपनी अस्पष्ट, दुरूह, जटिल, शिथिल एवं आकर्षणहीन रचनाओं को भी बड़े गर्व के साथ प्रस्तुत करते हुए अपने इन दोषों को भी गुण सिद्ध करने का दुष्प्रयास करते हैं। ऐसे प्रयास अवश्य ही सामाजिक के प्रति अशिष्टता एवं दुर्व्यवहार के द्योतक माने जा सकते हैं। अस्तु, अस्पष्टता, शिथिलता, अरोचकता आदि दोषों को भले ही हम लेखक की असमर्थता का परिणाम मान लें, किन्तु इन दोषों को भी दोष न स्वीकार करते हुए इन्हे गुणों के रूप में प्रस्तुत करना निश्चित ही पाठक के प्रति धृष्टता का प्रमाण है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यक्ति की प्रायः सभी प्रकार की चारित्रिक प्रवृत्तियों का प्रभाव थोड़ी-बहुत मात्रा में उसकी शैली पर पड़ना संभव है।

४.७. उपसंहार—

व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों—शारीरिक, बौद्धिक, भावात्मक, चारित्रिक आदि—के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शैली का थोड़ा-बहुत सम्बन्ध इन सभी पक्षों से रहता है; यह दूसरी बात है कि लेखक की परिस्थितियों एवं विषय की विशिष्टता के अनुसार उसकी शैली पर कहीं किसी पक्ष का अधिक प्रभाव पड़ जाय और कहीं किसी का इतना कम पड़े कि उसे पहचाना भी न जा सके। वस्तुतः किसी लेखक के व्यक्तित्व और उसशी शैली के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना के लिए एक ओर जहाँ सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि एवं शैली की सूक्ष्म विशेषताओं का बोध अपेक्षित है, वहाँ दूसरी ओर लेखक के व्यक्तित्व के भी विभिन्न स्तरों का पूरा ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि कई बार हम सामाजिक क्षेत्र में किसी लेखक के ऊपरी रूप को देखकर ही उसे वास्तविक रूप समझने की भूलकर बैठते हैं। ऐसी स्थिति में लेखक के बाह्य रूप एवं शैलीगत प्रवृत्तियों में परस्पर वैषम्य दृष्टिगोचर हो सकता है। हमारे विचार से इस परिस्थिति में लेखक के बाह्य रूप की अपेक्षा उसकी शैलीगत प्रवृत्तियों के माध्यम से व्यक्त रूप को ही उसके व्यक्तित्व का वास्तविक एवं आंतरिक रूप समझना चाहिए क्योंकि कोई भी लेखक अपने गूढतम रूप की अभिव्यक्ति रचना के एकान्त क्षणों में ही करता है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शैली के स्रोतों में एक मात्र व्यक्तित्व ही नही है—कुछ स्रोत और भी हैं, (जिनकी विवेचना आगे की जायगी) जिनके कारण संभव है कि लेखक का व्यक्तित्व उसकी शैली में भली भाँति व्यक्त न हो पाया हो। अतः हम व्यक्तित्व को ही शैली का एक मात्र आधार न मानते हुए भी परिस्थिति-भेद के अनुसार व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों से शैली का आन्तरिक एवं घनिष्ट सम्बन्ध स्वीकार कर सकते हैं।

●

५
विषय और शैली

●

५.१. विषय का शैली से सम्बन्ध—

व्यक्तित्व के अनन्तर शैली का दूसरा स्रोत विषय है। जिस प्रकार व्यक्तित्व के प्रभाव से शैली में व्यक्ति-वैशिष्ट्य का संचार होता है, वैसे ही विषय के अनुसार भी उसमें विशिष्टता का प्रादुर्भाव होता है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि शैली में व्यक्ति-वैशिष्ट्य एवं विषयजन्य वैशिष्ट्य में से किसकी प्रधानता रहती है—या क्या ये दोनों परस्पर-विरोधी नहीं हैं ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार एक ही व्यक्ति विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न प्रकार की पोशाकें धारण करता है या वह विभिन्न व्यक्तियों से विभिन्न प्रकार का व्यवहार करता है फिर भी इन सबमें उसका व्यक्ति-वैशिष्ट्य बना रहता है, वैसे ही एक लेखक विषय की प्रकृति के अनुसार विभिन्न शैलियों का प्रयोग करता है किन्तु उन सबमें उसकी वैयक्तिक विशिष्टता विद्यमान रहती है ; अतः व्यक्ति-वैशिष्ट्य को विषयगत विशिष्ट्ता का बाधक या विरोधी नहीं माना जा सकता। वस्तुतः जहाँ एक ही व्यक्ति विभिन्न विषयों में विभिन्न प्रकार की शैलियों का प्रयोग करता है वहाँ एक ही विषय को विभिन्न व्यक्ति विभिन्न प्रकार की शैलियों में प्रस्तुत करते हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति-वैशिष्ट्य एवं विषयजन्य वैशिष्ट्य—दोनों की ही सत्ता शैली में साथ-साथ समन्वित रूप में रहती है।

५.२. शैली की दृष्टि से विषय का वर्गीकरण—

इससे पूर्व कि हम विषय और शैली के पारस्परिक सम्बन्धों की और अधिक व्याख्या करें, हमें शैली की दृष्टि से विषय-वस्तु का वर्गीकरण कर लेना चाहिए। पूर्ववर्ती विद्वानों ने भी विषय-वस्तु के वर्गीकरण का प्रयास किया है, जो मुख्यतः तीन प्रकार के हैं—(१) साहित्यिक/वैज्ञानिक (२) गद्यात्मक/पद्यात्मक और (३) व्यक्ति-प्रधान/विषय-प्रधान। यहाँ तीनों पर क्रमशः विचार किया जाता है।

(क) **साहित्यिक एवं वैज्ञानिक**—साहित्य और विज्ञान के पारस्परिक विरोध की दृष्टि से कुछ विद्वान प्रतिपाद्य विषय को दो वर्गों—साहित्यिक एवं वैज्ञानिक—में बाँटते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि साहित्य और विज्ञान की शैली में परस्पर गहरा भेद विद्यमान रहता है किन्तु यह भेद विषय-गत नहीं है। जहाँ तक विषय की बात है, विज्ञान और साहित्य में अधिक अन्तर नहीं है, क्योंकि अंततः वैज्ञानिक और साहित्यकार दोनों एक ही जगत् के विभिन्न पक्षों की व्याख्या अपने-अपने ढंग से अपनी रचनाओं में प्रस्तुतः करते हैं। कदाचित् यहाँ यह कहा जाय कि वैज्ञानिक भौतिक जगत् के स्थूल पदार्थों की व्याख्या करता है जबकि साहित्यकार मानसिक जगत् की सूक्ष्म भावनाओं को प्रस्तुत करता है, अतः दोनों का विषयगत अन्तर है—किन्तु इसे हम ठीक नहीं समझते। वैज्ञानिक और साहित्यकार के विषय-क्षेत्र के बीच इस प्रकार की कोई सीमा नहीं है; आवश्यकतानुसार वैज्ञानिक भी मनोविज्ञान के क्षेत्र में अन्तर्जगत के सूक्ष्म भावों की व्याख्या प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर प्रसंगानुसार साहित्यकार भी भौतिक जगत् के स्थूल उपादानों का वर्णन—जिसे प्रकृति-वर्णन कहा जाता है—अपनी रचनाओं में करता है। अतः साहित्य और विज्ञान में मूल अन्तर विषय का नहीं अपितु दोनों के दृष्टिकोण एवं लक्ष्य का है; साहित्यकार का लक्ष्य जहाँ विषय-वस्तु को अनुभूति पूर्ण शब्दों में प्रस्तुत करते हुए, उसे रोचक एवं आकर्षक बनाने का रहता है, वहाँ वैज्ञानिक का लक्ष्य अपने विषय का बौद्धिक विश्लेषण करते हुए उसे तर्क-संगत रूप में प्रस्तुत करने का रहता है। अस्तु, हम साहित्य और विज्ञान की शैली में अन्तर मानते हुए भी उसका कारण विषय-वैशिष्ट्य को न मानकर प्रयोजन-वैशिष्ट्य को मानते हैं, अतः साहित्य और विज्ञान के आधार पर विषय-वस्तु का वर्गीकरण उचित नहीं कहा जा सकता।

(ख) **गद्यात्मक एवं पद्यात्मक**—कुछ लोग गद्य और पद्य की दृष्टि से भी विषय का वर्गीकरण करना चाहते हैं किन्तु हमारे विचार से यह वर्गीकरण भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जो विषय गद्य में लिखा जाता है, वह पद्य में भी लिखा जा सकता है। वस्तुतः गद्य और पद्य में विषय की दृष्टि से कोई गहरा अन्तर नहीं है, यह दूसरी बात है कि गद्य और पद्य की शैली में कुछ अन्य कारणों से थोड़ा-बहुत अन्तर आ जाता है; अतः इस वर्गीकरण को भी यहाँ स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(ग) **व्यक्ति-प्रधान और विषय-प्रधान**—साहित्य के क्षेत्र में व्यक्ति-प्रधान और विषय-प्रधान रचनाओं की भी चर्चा मिलती है—अवश्य ही किसी रचना में व्यक्ति-वैशिष्ट्य की तथा किसी में विषय के वैशिष्ट्य की प्रमुखता हो सकती है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि एक की प्रमुखता के कारण दूसरे की सत्ता गौण रूप में भी नहीं रहती। व्यक्ति-प्रधान रचनाओं में विषय और विषय-प्रधान रचनाओं में व्यक्ति गौण रूप में सदा विद्यमान रहता है। साथ ही इस वर्गीकरण से विषय के विभिन्न भेदों का कोई परिचय नहीं मिलता—अतः इसे भी यहाँ उपयोगी नहीं माना जा सकता।

५.३. वर्गीकरण का नया प्रयास—

विषय-वस्तु सम्बन्धी उपर्युक्त तीनों प्रकार के वर्गीकरण क्रमशः लेखक के प्रयोजन, रचना-शैली के भेदों एवं विषय की प्रमुखता या गौणता पर आधारित हैं ; इनमें से किसी का भी विषय की मूल प्रकृति से सीधा सम्बन्ध नहीं है, जबकि हमें यहाँ इसी प्रकार के वर्गीकरण की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में साहित्य की विषय-वस्तु के वर्गीकरण का नया प्रयास अपेक्षित है। साहित्य का सारा विषय भाषा के माध्यम से प्रस्तुत होता है तथा विषय की दृष्टि से वैयाकरणों ने भाषा के आठ भेद किये हैं, जिन्हें भाषा के अवयव (Parts of speech) कहा जाता है। वे आठ अवयव हैं— (१) संज्ञा, (२) सर्वनाम, (३) विशेषण, (४) क्रिया, (५) क्रिया-विशेषण, (६) सम्बन्ध बोधक शब्द (७) संयोजक शब्द, और (८) विस्मयादि बोधक शब्द। ये अवयव विभिन्न प्रकार के भाषागत विषयों के सूचक हैं, अतः इनके आधार पर विषय-वस्तु के निम्नांकित आठ भेद किये जा सकते हैं—

(१) संज्ञा > विभिन्न पदार्थ या दृश्य जगत्
(२) सर्वनाम > व्यक्ति या पात्र
(३) विशेषण > गुण-धर्म या विचार-तत्त्व
(४) क्रिया > कार्य एवं घटनाएँ
(५) क्रिया-विशेषण > क्रिया की विशिष्टता
(६) सम्बन्ध-बोधक शब्द > देश-काल-सम्बन्ध
(७) संयोजक शब्द > प्रसंग
(८) विस्मयादि बोधक शब्द > भाव या अनुभूति

उपर्युक्त आठ विषयों में से संख्या ५, ६, और ७ का समन्वय एक ही शीर्षक 'परिस्थितियाँ' के अन्तर्गत किया जा सकता है क्योंकि ये सब कार्य या घटना के विभिन्न सम्बन्धों एवं पक्षों की व्याख्या करते हैं, जिनका समावेश 'परिस्थिति' के अन्तर्गत हो जाता है। इस प्रकार विषय के ये ६ प्रमुख भेद रह जाते हैं—(१) दृश्य, (२) पात्र, (३) विचार, (४) घटना, (५) परिस्थिति एवं, (६) भाव।

५.४. विषय के अनुसार शैली के विभिन्न भेद—

सामान्यतः उपर्युक्त सभी विषय साहित्यिक रचना में परस्पर मिश्रित रहते हैं, फिर भी रचयिता की विशेष परिस्थिति एवं प्रसंग के अनुसार इनमें से कहीं कोई विषय प्रमुखता प्राप्त कर लेता है और कहीं कोई, जिससे शैली में भी तदनुकूल वैशिष्ट्य आ जाता है। उदाहरण के लिए, दृश्यों के प्रसंग में वर्णनात्मकता, पात्रों में चित्रणात्मकता विचारों में विवेचनात्मकता, कार्य एवं घटनाओं में विवरणात्मकता, परिस्थितियों में व्याख्यात्मकता एवं भावों में भावात्मकता की थोड़ी बहुत मात्रा सहज

ही आ जाती है। इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए यहाँ विभिन्न प्रकार के विषयों में प्रयुक्त विभिन्न शैलियों के कुछ नमूने प्रस्तुत किये जाते हैं ; देखिये—

(क) **वर्णनात्मक शैली**—विभिन्न पदार्थों एवं स्थूल दृश्यों के वर्णन में प्रायः इस शैली का प्रयोग होता है। इसमें विभिन्न पदार्थों का उल्लेख एवं परिचय मात्र प्रस्तुत होता है ; उदाहरण के के लिए एक नमूना द्रष्टव्य है— "·····जिस स्थान पर बैठकर लिख रहा हूँ, उसके आस-पास कुछ थोड़े से पेड़ हैं। एक विशिष्ट है, जिस पर लम्बी-लम्बी सूखी छिम्मियाँ अभी लटकी हुई हैं। पत्ते कुछ झड़ गये हैं और कुछ झड़ने के रास्ते में है।·····एक नीम है, जवान है, मगर कुछ अत्यन्त छोटी किसलयिकाओं के सिवा उमंग का कोई चिन्ह उसमें अभी नहीं है।"[1]

(ख) **चित्रणात्मक शैली**—सामान्यतः विभिन्न व्यक्तियों के बाह्य रूप-विधान में इस शैली का प्रयोग होता है ; देखिये—"·····पक्का रंग, गठन में विशेष सुडौल, मलिन मुख, जिसमें दो पीली, पर सचेत आँखें जड़ी सी जान पड़ती थी। कस कर बन्द किये हुए पतले होठों की दृढ़ता और सिरपर खड़े हुए छोटे-छोटे रूखे बालों की उग्रता उसके मुख की संकोच-भरी कोमलता से विद्रोह कर रही थी। उभरी हड्डियों वाली गर्दन को सँभाले हुए झुके कन्धों से, रक्त-हीन मटमैली हथेलियाँ और टेढ़े-मेढ़े कटे हुए नाखूनों-युक्त हाथों वाली पतली बाहें ऐसे झूलती थी, जैसे ड्रामा में विष्णु बनने वाले की दो नकली भुजाएँ।"[2]

(ग) **विवेचनात्मक शैली**—सामान्यतः विचारों के प्रतिपादन में इस शैली का प्रयोग होता है। आचार्य शुक्ल की 'चिन्तामणि' से इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—"वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिससे हमें दुःख पहुँचा है उस पर यदि हमने क्रोध किया और यह क्रोध यदि हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह वैर कहलाता है। इस स्थायी रूप में टिक जाने के कारण क्रोध का वेग और उग्रता तो धीमी पड़ जाती है पर लक्ष्य को पीड़ित करने की प्रेरणा बराबर बहुत काल तक हुआ करती है। क्रोध अपना बचाव करते हुए शत्रु को पीड़ित करने की युक्ति आदि सोचने का समय प्रायः नहीं देता, पर वैर उसके लिए बहुत समय देता है।"[3]

(घ) **विवरणात्मक शैली**—प्रायः घटनाओं या तथ्यों के विवरण में इस शैली का प्रयोग होता है; मुंशी प्रेमचन्द के 'कर्मभूमि' उपन्यास से इसका एक उदाहरण उद्धृत किया जाता है—"तीन महीने तक सारे शहर में हलचल रही। रोज हजारों आदमी सब काम-धन्धे छोड़कर कचहरी जाते। भिखारिन को एक नज़र देख लेने की अभिलाषा सभी को खींच लेजाती। महिलाओं की भी खासी संख्या हो जाती थी।"[4]

---

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल।
२. श्रीमती महादेवी वर्मा, अतीत के चल-चित्र।
३. आ० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि प्रथम भाग, पृ० १३८।
४. मु० प्रेमचन्द : कर्म भूमि, पृ० ६०।

(ङ) **व्याख्यात्मक शैली**—सामान्यतः किसी परिस्थिति-विशेष के विश्लेषण में व्याख्यात्मक शैली का उपयोग होता है ; यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है—"मगर कभी-कभी बुराई से भलाई पैदा हो जाती है। पुत्र सामान्य रीति से पिता का अनुगामी होता है। महाजन का बेटा महाजन, पंडित का बेटा पंडित, वकील का वकील, किसान का किसान होता है ; मगर यहाँ इस द्वेष ने महाजन के पुत्र को महाजन का शत्रु बना दिया।"[५]

(च) **भावात्मक शैली**—इसमें भावों के अनुकूल उत्तेजना, चचंलता, प्रवाहपूर्णता या विक्षेप मिलता है। उदाहरण के लिए, एक गद्यांश द्रष्टव्य है— "..... मेरा मन उमड़-घुमड़ कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजार वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज थी ? सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी ? कविता क्या सो गई थी ? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है। जले पर नमक तो यह है कि एक तरंगायित पत्रवाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा। याद भी किया तो अपमान करके।"[६]

५.५. निष्कर्ष—

उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विषय की प्रकृति के अनुसार ही लेखक को वर्णनात्मक, विवरणात्मक, चित्रात्मक, भावात्मक आदि विभिन्न प्रकार की शैलियाँ अपनानी पड़ती हैं। इतना ही नहीं विषय के अन्य उपभेदों के अनुसार इन शैलियों के भी और कई उपभेद किये जा सकते हैं ; उदाहरण के लिए भावात्मक शैली के भी कई उपभेद विभिन्न भावों के अनुसार किये जा सकते हैं क्योंकि हास्य, करुण, प्रेम आदि विभिन्न भावों की व्यंजना में उनके अनुरूप शैली में भी अन्तर उपस्थित हो जाता है। हास्य की शैली में जहाँ थोड़ा अटपटापन, करुण में कोमलता, प्रेम में स्निग्धता एवं कमनीयता रहेगी, वहाँ कठोर भावों—घृणा, क्रोध आदि की व्यंजना के समय शैली में सहज ही ओज गुण का समावेश हो जायगा। अस्तु, विषय की प्रकृति-भेद के अनुसार शैली में वैशिष्ट्य का आ जाना स्वाभाविक है, किन्तु इस सिद्धान्त को अंतिम रूप से स्वीकार करने के पूर्व हमें यहाँ कुछ विरोधी तर्कों पर भी विचार कर लेना चाहिए। उपर्युक्त निष्कर्ष के विरुद्ध कदाचित् दो बातें कही जा सकती हैं—एक तो यह कि उपर्युक्त उद्धरण विभिन्न लेखकों के हैं, अतः उनका पारस्परिक अंतर विषय के स्थान पर व्यक्ति के वैशिष्ट्य का सूचक माना जा सकता है ; दूसरी यह कि एक ही विषय को विभिन्न शैलियों में प्रस्तुत किया जा सकता है, जैसे—प्रकृति का वर्णन वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, भावात्मक आदि सभी शैलियों में

---

५. मुंशी प्रेमचन्द : कर्मभूमि, पृ० १०।
६. आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल, पृ० २।

किया जा सकता है, अतः एक विषय को एक ही प्रकार की शैली से सम्बद्ध करना उचित नहीं। इन आक्षेपों पर हम क्रमशः विचार करते हैं।

जहाँ तक पहले आक्षेप की बात है, इससे कोई संदेह नहीं कि उपर्युक्त उद्धरणों में पर्याप्त मात्रा में व्यक्ति-वैशिष्ट्य विद्यमान है, किन्तु साथ ही उनमें विषय के वैशिष्ट्य का प्रभाव भी कम नहीं है। इनमें कुछ उदाहरण एक ही लेखक के हैं, किन्तु उनकी शैली में परस्पर पर्याप्त अन्तर है, उदाहरण के लिए; उद्धरण 'क' और 'च'—दोनों एक ही लेखक के हैं, किन्तु दोनों की शैली में परस्पर गहरा अन्तर है जिसका कारण विषय-वैशिष्ट्य है। अस्तु, एक लेखक और दूसरे लेखक की शैली में जहाँ व्यक्ति-वैशिष्ट्य का अन्तर रहता है, वहाँ एक ही लेखक की विभिन्न शैलियों में विषय-वैशिष्ट्य का अन्तर देखा जा सकता है।

दूसरे आक्षेप के उत्तर में हमारा निवेदन है कि कई बार हम एक विषय के माध्यम से किसी अन्य विषय को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि जिससे मूल विषय गौण हो जाता है तथा अन्य प्रमुख। ऐसी स्थिति में प्रमुख विषय के अनुसार ही शैली का प्रयोग होता है ; उदाहरण के लिए, एक कवि प्रकृति वर्णन के माध्यम से अपने भावों की ऐसी अभिव्यक्ति कर सकता है कि वहाँ कवि के भाव ही प्रमुख हो जायँ तथा प्रकृति गौण। इस प्रकार के वर्णन की शैली भी भावात्मक होगी। यहाँ हम प्रकृति के स्थान पर भाव को ही—उसकी प्रमुखता के अनुसार—विषय मानें तो अनुचित नहीं है, पर यदि हम इस प्रसंग में प्रकृति को प्रमुख मान कर विचार करें तो उपर्युक्त आक्षेप लागू हो जाता है, जो ठीक नहीं कहा जा सकता। विभिन्न शैलियों पर विचार करते समय यदि हम इस बात को ध्यान में रक्खें कि उनका प्रमुख विषय कौन सा है तथा गौण कौन सा—तो उस स्थिति में उपर्युक्त, आक्षेप लागू नहीं होगा अतः दूसरे आक्षेप को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अस्तु, यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि साहित्य में विषय की विशिष्टता के अनुसार उसकी शैली में भी वैशिष्ट्य का संचार अवश्य होता है—यह दूसरी बात है कि कहीं इसकी मात्रा इतनी न्यून हो कि उसे हम भली-भाँति न पहचान पायें। साथ ही यह भी संभव है कि लेखक के किसी विशेष आग्रह के कारण या किसी अन्य विशेष परिस्थिति के कारण शैली में विषय-वैशिष्ट्य का बिल्कुल अभाव रहे, किन्तु इसे हम अपवाद ही कहेंगे क्योंकि सामान्य स्थिति में ऐसा होना स्वाभाविक नहीं है।

६
भाषा और शैली

●

६.१. 'भाषा' तत्त्व का वैशिष्ट्य—

साहित्य की शैली का तीसरा स्रोत भाषा है । जहाँ शेष स्रोतों का शैली से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है वहाँ भाषा का सम्बन्ध प्रत्यक्ष एवं स्थायी होता है । संभवतः कुछ लोग भाषा का समावेश व्यक्तित्व के अन्तर्गत ही कर लेने का सुझाव दें—क्योंकि भाषार्जन या भाषाधिकार वक्ता या लेखक के ही व्यक्तित्व का एक अंग है; कई बार हम व्यक्ति के भाषा-प्रयोग से भी उसके व्यक्तित्व की अनेक विशेषताओं का आभास पाते हैं, किन्तु फिर भी भाषा व्यक्ति की निजी सम्पत्ति नहीं है । भाषा का कोई भी अंश या अंग तबतक सार्थक नहीं हो सकता जब तक कि उसे कम से कम दो व्यक्ति (वक्ता एवं श्रोता) न समझते हों । भाषा व्यक्तियों के द्वारा प्रयुक्त ध्वनि-संकेतों का समूह है तथा ये संकेत परम्परा और वातावरण के संयोग से धीरे-धीरे समाज के द्वारा विकसित होते हैं । साहित्यकार भी समाज के एक सदस्य के रूप में ही इन ध्वनि-संकेतों के विकास में योग दे सकता है, अन्यथा उसका यह योग-दान समाज के द्वारा अस्वीकृत हो जाता है । कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना ही बड़ा वक्ता या लेखक क्यों न हो, यदि उसका भाषा सम्बन्धी कोई नया प्रयोग समाज से मान्यता नहीं पा सका तो वह भाषा का स्थायी अंग नहीं बन सकेगा अपितु ऐसे प्रयोग 'अशुद्धि' एवं 'दोष' की संज्ञाओं से भूषित होकर सदा के लिए तिरस्कृत हो जावेंगे । उदाहरण के लिए हम तुलसी, प्रसाद, पंत जैसे महाकवियों के द्वारा प्रयुक्त कुछ प्रयोगों को देख सकते हैं । गोस्वामी तुलसीदास ने एक स्थान पर 'सीता बोला' लिखा है जो कि लिंग-दोष है । तुलसीदास जी के प्रति हिन्दी-भाषी समाज की पूरी श्रद्धा होते हुए भी उनका यह प्रयोग भाषा में प्रचलित नहीं हो सका । ठीक इसी प्रकार प्रसाद, पंत आदि कवियों ने भी लिंग, वचन, आदि के नये प्रयोग किये हैं, फिर भी समाज की मान्यता के अभाव में वे स्थायी नहीं

हो पाये हैं। अतः जैसा कि वाल्टरपेटर महोदय ने लिखा है— 'जिस शब्द-सामग्री के माध्यम से लेखक काम करता है वह उसकी अपनी सृष्टि नहीं होती, जिस प्रकार संगमरमर मूर्त्तिकार की सृष्टि नहीं होती।"[१] ऐसी स्थिति में भाषा का विवेचन व्यक्तित्व से पृथक रूप में करना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

६.२. भाषा के दो रूप : स्वभावोक्ति एवं अतिशयोक्ति—

अनेक भारतीय आचार्यों ने भाषा के प्रयुक्त रूप को 'उक्ति' की संज्ञा देते हुए उसके मुख्यतः दो भेद बताये हैं—(१) स्वभावोक्ति एवं (२) अतिशयोक्ति। उनके विचारानुसार जहाँ शास्त्रों (या वैज्ञानिक ग्रन्थों ?) में स्वभावोक्ति का प्रयोग होता है, वहाँ काव्य में अतिशयोक्ति प्रयुक्त होती है। यह अतिशयोक्ति क्या है ? इसके विभिन्न उत्तर दिये गये हैं। भामह के विचार से लोक-सीमा का अतिक्रमण करने वाला वचन'[२] अतिशयोक्ति है तो दंडी के मतानुसार' वस्तु के उत्कर्ष का ऐसा वर्णन जो कि लोक-मर्यादा का उल्लंघन कर जाय'[३] अतिशयोक्ति है। इसी प्रकार रुद्रट और अभिनवगुप्त ने भी क्रमशः 'लोक का उल्लंघन'[४] एवं 'लोकोत्तर'[५] का उल्लेख अतिशयोक्ति की प्रमुख विशेषता के रूप में किया है। अस्तु, शब्दों का हेर-फेर होते हुए भी भामह, दंडी, रुद्रट, अभिनवगुप्त प्रभृति आचार्यों ने अतिशयोक्ति के प्रमुख लक्षण के रूप में 'लोकोत्तरता' को ही स्वीकार किया है, किन्तु इस 'लोकोत्तरता' का आशय क्या है, उसकी सम्यक् व्याख्या किसी ने नहीं की। सामान्यतः इसके दो अर्थ लगाये जा सकते हैं—(१) जन-साधारण (लोक) की भाषा से भिन्न भाषा का प्रयोग या (२) लोक-व्यवहार में प्रचलित रूप से भिन्न रूप में भाषा का प्रयोग। पाश्चात्य आचार्यों ने भी साहित्य में जन-साधारण की भाषा से भिन्न भाषा के प्रयोग की बात कही है, इसीलिए पहले अनुमान को यहाँ सहज ही स्वीकार किया जा सकता है किन्तु गहराई से विचार करें तो यह भारतीय आचार्यों की धारणा के प्रतिकूल सिद्ध होगा। वस्तुतः 'अतिशयोक्ति' में निहित 'लोकोत्तरता' के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए हमें 'स्वभावोक्ति' के लक्षणों पर विचार करना होगा—क्योंकि 'अतिशयोक्ति' को 'स्वभावोक्ति' के ठीक विपरीत अर्थ में ग्रहण किया जाता है।

आचार्य दंडी ने 'स्वभावोक्ति' के तीन प्रमुख लक्षण इस प्रकार बताये हैं[६]— (१) स्वभावोक्ति वस्तु के साक्षात् या प्रत्यक्ष या यथावत् रूप को प्रदर्शित करती है।

---

१. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० २२१।
२. भामह—काव्यालंकार।
३. दंडी—काव्यादर्श।
४-५. भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा, डा० नगेन्द्र।
६. दंडी : काव्यादर्श, परिच्छेद २। श्लोक ८।

(२) स्वभावोक्ति जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य आदि का नैसर्गिक रूप में वर्णन करती है। (३) शास्त्रों में तो इसका प्रयोग होता ही है, काव्यों में भी (कभी-कभी) होता है। इन लक्षणों से स्पष्ट है कि स्वभावोक्ति का सम्बन्ध भाषा-भेद की अपेक्षा वर्ण्य विषय के रूप एवं गुण-धर्मों के भेद से अधिक है। यदि वर्ण्य विषय के रूप को यथार्थ में तथा उसके गुण-धर्मों को नैसर्गिक या स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया जाय तो वह 'स्वभावोक्ति' होगी तथा इसी प्रकार जब उसका रूप अयथार्थ एवं गुण-धर्म अनैसर्गिक या अलौकिक रूप में प्रस्तुत किया जाय तो वह 'अतिशयोक्ति' होगी। अस्तु, अतिशयोक्ति से सम्बन्धित 'लोकोत्तरता' का तात्पर्य है—वर्ण्य विषय के रूप एवं गुण-धर्मों की 'लोकोत्तरता'; या दूसरे शब्दों में अयथार्थता या अस्वाभाविकता। इस मंतव्य की पुष्टि 'स्वभावोक्ति' और 'अतिशयोक्ति' के उदाहरणों से भी होती है; देखिये—

१—'ये **मधुर प्रलाप** करने वाले तोते थोड़ी **लाल** और **टेढ़ी चोंच वाले, हरे** और **कोमल पंखों** से युक्त और ग्रीवाओं में **तीन प्रकार** के **वर्णों** की **रेखाओं से युक्त** है।" (दंडी)

२—"···अभिसारिकायें चन्द्र-ज्योत्स्ना में **दृष्टिगोचर नहीं होती**।" (दंडी)

यहाँ पहला उदाहरण 'स्वभावोक्ति' का है—इसमें तोते के सौन्दर्य का यथातथ्य वर्णन किया गया है, जबकि दूसरे उदाहरण में अभिसारिकाओं का चाँदनी में अदृश्य हो जाना अस्वाभाविक है—इसी से इसे 'अतिशयोक्ति' का उदाहरण माना गया है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि उपर्युक्त आचार्यों के दृष्टिकोण से 'अतिशयोक्ति' का अर्थ है, वस्तु का लोकोत्तर या अस्वाभाविक रूप में वर्णन करना। आचार्यों की यह धारणा कहाँ तक उचित एवं स्वीकार्य है—इस पर हम अन्यत्र विस्तार से विचार करेंगे, यहाँ संक्षेप में इतना ही निर्देश कर देना पर्याप्त होगा कि काव्य में अस्वाभाविकता को उसी स्थिति में स्थान दिया जा सकता है जबकि वह मूल विषय के अलंकरण में सहायक सिद्ध होती है—क्योंकि आचार्यों ने अतिशयोक्ति की महत्ता 'अलंकारों की जननी' के रूप में स्वीकार की है। अस्तु, स्वभावोक्ति और अतिशयोक्ति को क्रमशः 'निरलंकृत (अलंकार-शून्य) भाषा' और अलंकृत भाषा (अलंकारयुक्त) का भी पर्यायवाची मान सकते हैं। काव्य में अलंकृत भाषा का कितना महत्त्व है—इस प्रश्न पर हम आगे अलंकारों के प्रसंग में विचार करेंगे, यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भारतीय आचार्यों के एक वर्ग के अनुसार शास्त्र की भाषा निरलंकृत होती है जबकि साहित्य की भाषा अलंकार युक्त या अलंकृत होती है।

६.३. भाषा : सामान्य और विशिष्ट—

जैसा कि अन्यत्र संकेत किया गया था, विभिन्न पाश्चात्य आचार्यों ने भी साहित्य की दृष्टि से भाषा के दो प्रकारों की कल्पना की है—(१) सामान्य और (२) विशिष्ट। अरस्तू, डिमैट्रियस, लोंजाइनस, होरेस, एडिसन, कॉलरिज, रिचर्ड्स

प्रभृति चिन्तकों ने यह स्वीकार किया है कि काव्य में विशिष्ट भाषा का या भाषा के विशिष्ट रूप का प्रयोग होता है, किन्तु वह 'विशिष्टता' क्या है—इसके सम्बन्ध में सब एक मत नहीं हैं। जहाँ अरस्तू, महोदय के विचार से उसमें एक ओर असामान्य शब्दों (विदेशी शब्दों, लाक्षणिक प्रयोगों एवं कम प्रचलित शब्दों) की प्रचुरता होती है, वहाँ दूसरी ओर उसमें इनका प्रयोग इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि उसमें अस्पष्टता एवं दुर्बोधता आ जाय।[७] डिमिट्रियस महोदय के विचार से उसमें शब्द, अर्थ एवं वाक्य-रचना सम्बन्धी अनेक गुणों और अलंकारों का समन्वय होता है,[८] जबकि लोंजाइनस महोदय के मतानुसार उसमें औदात्य गुण होता है।[९] इसी प्रकार एडिसन[१०] महोदय के विचार से काव्य-भाषा में असामान्य या कम प्रचलित शब्दावली का प्रयोग होना चाहिए, तो दूसरी ओर कॉलरिज के मतानुसार[११] उसमें चित्रमयी एवं मूर्त्ति-विधायिनी भाषा का प्रयोग अधिक होता है इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने साहित्यिक भाषा की विभिन्न विशेषताओं पर बल दिया है—यद्यपि वह विशेषता क्या हो ? इसके सम्बन्ध में वे सब एक-मत नहीं हैं, किन्तु इतना वे अवश्य स्वीकार करते हैं कि साहित्य में भाषा-वैशिष्ट्य होता है। अतः कहा जा सकता है कि भारतीय आचार्यों की भाँति पाश्चात्य विद्वानों ने भी साहित्य में भाषा के विशिष्ट प्रयोग को मान्यता दी है।

३.४. साहित्य की भाषा के लिए अपेक्षित तत्व—

भाषा-विज्ञान के अनुसार भाषा के चार पक्ष माने जाते हैं—ध्वनि, शब्द-रूप, अर्थ एवं वाक्य-रचना। इनमें से प्रत्येक पक्ष के अपने-अपने गुण हैं। ध्वनि (Sound) में मात्रा और बलाघात के तत्त्व होते हैं जिनसे लय और संगीत की सृष्टि होती है। साहित्य के कुछ रूपों में ध्वनि के विशेष संयोजन द्वारा ओज, माधुर्य आदि गुणों की सृष्टि की जाती है। भाषा के शब्द-रूपों के विशेष संयोजन के द्वारा साहित्य में विभिन्न वृत्तियों एवं शब्दालंकारों (अनुप्रास, यमक, श्लेषादि) की आयोजना की जाती है तो अर्थ की विशेषता के द्वारा लाक्षणिक एवं व्यंग्यात्मक प्रयोगों, अर्थालंकारों, प्रतीकों एवं बिम्बों की आयोजना होती है। इसी प्रकार वाक्य-रचना के वैशिष्ट्य के द्वारा साहित्य में क्रम, संघटना, छन्दोबद्धता आदि का संयोजन होता है। अस्तु, साहित्य की भाषा में विशिष्टता लाने के लिए भाषा के विभिन्न पक्षों—ध्वनि, रूप, अर्थ आदि—का प्रयोग विशिष्ट रूप में किया जाता है तथा इन विशिष्ट-

---

7. Aristotle : Poetics & Rhetorics.
8. Demetrius : On Style, Page 205.
9. Longinus : On Sublime.
१०. हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम् भूमिका, पृ० ३५।
११. भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा : डॉ० नगेन्द्र, पृ० १४३।

प्रयोगों को काव्य-शास्त्र में विभिन्न तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया गया है—जिनकी विस्तृत व्याख्या अन्यत्र की जायगी। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि साहित्य में भाषा के किसी एक ही पक्ष का नहीं अपितु उसके सभी पक्षों का प्रयोग आवश्यकतानुसार विशिष्ट रूप में किया जाता है।

६.५. साहित्य की भाषा एवं लोक-व्यवहार की भाषा—

उपर्युक्त विवेचन से यह धारणा बन सकती है कि हम साहित्य की भाषा को लोक-व्यवहार की भाषा से पृथक या भिन्न मानते हैं जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं है। उपर्युक्त विवेचन में साहित्य की भाषा में जो विशेषताएँ बताई गई हैं—वे शास्त्रीय ग्रन्थों की भाषा की तुलना में बताई गई हैं, लोक-व्यवहार की भाषा से नहीं। यद्यपि अनेक प्राचीन विद्वानों ने लोक-व्यवहार की भाषा को विज्ञान या शास्त्र की भाषा के समकक्ष रखते हुए उसे साहित्यिक भाषा से पृथक किया है, किन्तु हमारे विचार से ऐसा नहीं है। ऊपर हमने साहित्य की भाषा में लय, काव्य-गुण, अलंकार, प्रतीक, बिम्बादि की जो विशेषताएँ बताई हैं, वे प्रायः सभी न्यूनाधिक मात्रा में लोक-व्यवहार की भाषा में भी प्रसंगानुसार पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए हर्ष और शोक की अभिव्यंजना के समय हमारी भाषा प्रायः लय-पूर्ण हो जाती है। हिन्दी की "वाह ! वाह !" 'बचाओ ! बचाओ !!" या अंग्रेजी की "हिप हिप हुर्रे ! हिप हिप हुर्रे !!" जैसी शब्दावलियाँ जहाँ लय की प्रारंभिक अवस्था को सूचित करती है, वहाँ प्रेम, वात्सल्य, करुणा आदि भावों की व्यंजना में हमारी भाषा अलंकारमयी हो उठती है। अनेक मुहावरे—'दिल का टुकड़ा' 'आँखों का तारा' ईद का चाँद' 'पत्थर-दिल' 'प्राणाधार' 'बुढ़ापे की लकड़ी' 'फूल से नन्हें' 'घर का दीपक' जहाँ विभिन्न अलंकारों, प्रतीकों एवं बिम्बों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, वहाँ भावावेश में कहे गये शब्द, जैसे, "हाय ! मर गया !' 'चमड़ी उधेड़ दूँगा।' आदि, लाक्षणिकता एवं व्यंग्यात्मकता से ओत-प्रोत होते हैं। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि साहित्य की भाषा में मिलने वाले विभिन्न तत्त्व लोक-व्यवहार की भाषा में भी न्यूनाधिक मात्रा में रहते हैं ; ऐसी स्थिति में साहित्य की भाषा एवं लोक-व्यवहार की भाषा में परस्पर विरोध मानना उचित नहीं।

६.६. साहित्य की भाषा और विज्ञान की भाषा—

साहित्य की भाषा और विज्ञान की भाषा में भी मूलतः कोई अन्तर नहीं है—दोनों का शब्द-कोष, दोनों के व्याकरण के नियम, वाक्य-योजना आदि सामान्यतः समान होते हैं। विज्ञान के केवल पारिभाषिक शब्दों को छोड़कर शेष सारे शब्द लगभग वही होते हैं, जो साहित्य में प्रयुक्त होते हैं—यही कारण है कि किसी भी भाषा में साहित्य और विज्ञान के लिए अलग-अलग शब्दकोष (पारिभाषिक शब्दों के कोष को छोड़ कर)

नहीं मिलते। पर इस मूलभूत समानता के होते हुए भी दोनों की प्रयोग-विधि में अन्तर उपस्थित हो जाता है। एक तो विज्ञान में विषय का प्रतिपादन निश्चित एवं संतुलित अर्थ में किया जाता है अतः उसमें शब्दों का प्रयोग सामान्यतः वाच्यार्थ में ही किया जाता है जबकि साहित्य में लाक्षणिकता एवं व्यंग्यात्मकता का भी आश्रय बार-बार लिया जाता है। दूसरे, विज्ञान में अर्थ की शुद्धता एवं स्पष्टता पर अधिक बल दिया जाता है जबकि साहित्य में इनके स्थान पर सौन्दर्य या आकर्षण पर। इसीलिए साहित्यकार भाषा में सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए अर्थ के अतिरिक्त उसकी ध्वनि, रूप, एवं वाक्य-रचना आदि में भी विशेषता लाता है। उदाहरण के लिए इन दो वाक्यों में—(१) सबकी दृष्टि धन पर लगी हुई है। (२) सबकी **टकटकी टके** पर लगी हुई है—अर्थ की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु पहले वाक्य में वैज्ञानिक ढंग से भाषा का प्रयोग हुआ है, जिसमें केवल अर्थ की शुद्धता, स्पष्टता एवं निश्चितता है, जबकि दूसरे वाक्य में साहित्यिक ढंग से भाषा का प्रयोग हुआ है जिसमें विशेष आकर्षण आ गया है। अस्तु, विज्ञान की भाषा में शुद्धता और स्पष्टता के अतिरिक्त उसका अपना सौन्दर्य या आकर्षण नहीं होता—उसमें जो भी आकर्षण होता है वह विषय का होता है, जबकि साहित्य की भाषा में आकर्षणहीन विषय को भी भाषा वैशिष्ट्य के द्वारा आकर्षक रूप दे दिया जाता है। वस्तुतः भाषा के जिन विशिष्ट तत्त्वों के कारण साहित्य की शैली का निर्माण होता है, उन्हें गुण, अलंकार, ध्वनि, वक्रता, प्रतीक, आदि का नाम दिया जाता है, जिनकी व्याख्या अन्यत्र विस्तार से की जायगी। अतः, यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भाषागत वैशिष्ट्य के कारण साहित्यकार की शैली में विशिष्ट आकर्षण का संचार हो जाता है जिसका सामान्यतः विज्ञान की भाषा में अभाव होता है।

●

७
पाठक और शैली

●

७.१. पाठक की अप्रत्यक्ष सत्ता—

शैली के चार स्रोतों में से एक श्रोता या पाठक है। जब भी हम कुछ बोलते हैं या लिखते हैं तो वहाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में पाठक की काल्पनिक सत्ता हमारे मन में प्रायः विद्यमान रहती है। वैसे कुछ विशेष परिस्थितियों में हम स्वगत-भाषण एवं आत्माभिव्यक्ति भी करते हैं कि किन्तु वहाँ भी श्रोता के प्रतिनिधि के रूप में हमारे अपने व्यक्तित्व का ही एक अंश सदा विद्यमान रहता है जो हमारे उच्चरित या लिखित अंश पर श्रोता या पाठक की दृष्टि से प्रत्यावलोकन करता रहता है। कवि या लेखक जब अपनी लिखी हुई पंक्तियों को पुनः देखता है तो वहाँ उसकी दृष्टि में उससे सम्बन्धित पाठक की दृष्टि भी विद्यमान रहती है—या यों कहिए कि वह अपने पाठकों की दृष्टि को ध्यान में रखता हुआ ही अपनी रचना का प्रत्यावलोकन करता है। अतः श्रोता या पाठक चाहे प्रत्यक्ष रूप में विद्यमान न हो तो भी उसका दृष्टिकोण लेखक को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। एक लेखक का जिस वर्ग के पाठकों से सम्बन्ध होता है, उस वर्ग का थोड़ा-बहुत प्रभाव उसकी शैली पर अवश्य पड़ता है। इस प्रभाव का विश्लेषण यहाँ क्रमशः तीन शीर्षकों—(१) रुचि (२) स्तर और (३) लक्ष्य—के अन्तर्गत किया जाता है।

७.२. पाठकों की रुचि का प्रभाव—

किसी भी लेखक का जिस वर्ग के पाठकों से सम्बन्ध होता है, उस वर्ग की रुचि का प्रभाव लेखक के विषय-चयन एवं उसकी शैली पर पड़ता है। कुछ पाठक सरल एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति को पसन्द करते हैं तो कुछ शब्द-क्रीड़ा, अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य आदि को। लेखक जिस वर्ग को ध्यान में रखकर साहित्य-रचना करता है, उसी वर्ग के अनुरूप उसकी शैली में थोड़ा वैशिष्ट्य आ जाता है। उदाहरण के लिए,

हिन्दी के मध्यकालीन दरबारी कवि पाठकों के एक ऐसे वर्ग से सम्बन्धित थे, जो रीति-तत्त्वों एवं उक्ति-वैचित्र्य को पसन्द करता था, फल-स्वरूप इन कवियों ने प्रयास पूर्वक इन तत्त्वों को अपने काव्य में स्थान दिया है जबकि इसके विपरीत भारतेन्दु-युग एवं द्विवेदी-युग के लेखक अपने युग की लोक-रुचि के अनुसार सरल एवं स्वाभाविक शैली का प्रयोग किया है। अस्तु, पाठकों या सामाजिक की रुचि का थोड़ा-बहुत प्रभाव सम्बन्धित साहित्यकार की शैली पर पड़ना स्वाभाविक है।

७.३. पाठकों के स्तर का प्रभाव—

पाठकों की रुचि की ही भाँति उनके स्तर का भी लेखक की शैली पर प्रभाव पड़ता है। सामान्यतः कोई भी लेखक जिस स्तर के पाठकों के लिए कुछ लिखता है, उस स्तर के अनुरूप शैली का प्रयोग उसके द्वारा होगा। एक ही लेखक जब बच्चों के लिए कोई पुस्तक लिख रहा है तो उसकी शैली में सहज ही सरलता, स्पष्टता, रोचकता एवं व्याख्यात्मकता आदि गुणों का समावेश हो जायगा जबकि उच्च स्तर के वयस्क एवं प्रौढ़ पाठकों के लिए लिखी गई पुस्तक की शैली अपेक्षाकृत गंभीर एवं ठोस होगी। इसी प्रकार विभिन्न वर्गों व विभिन्न श्रेणी के पाठकों के स्तर के अनुसार उनसे सम्बन्धित लेखक की शैली में न्यूनाधिक अन्तर का आ जाना स्वाभाविक है।

७.४. लेखक का लक्ष्य—

लेखक और पाठक के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते समय हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि लेखक का लक्ष्य क्या है—अर्थात् वह पाठक से क्या चाहता है। कुछ लेखक अपने पाठकों को केवल अपने ज्ञान से प्रभावित करना चाहते हैं, कुछ उन्हें अपने विचारों का अनुयायी बना कर अपने मत या संप्रदाय का प्रचार करना चाहते हैं तो कुछ उन्हें केवल आनन्द प्रदान करना चाहते हैं। इस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में लेखकों के विभिन्न लक्ष्य हो सकते हैं और उनके अनुसार उनकी शैली में भी परस्पर भिन्नता आ सकती है। जहाँ लेखक का लक्ष्य केवल अपनी विद्वता का ही प्रदर्शन करना होता है, वहाँ उसकी शैली में शुष्कता, जटिलता एवं दुरूहता का समावेश हो सकता है, या काव्य-कौशल के प्रदर्शन का लक्ष्य होने पर उसकी शैली चमत्कार-प्रधान हो सकती है जबकि अपते मत या संप्रदाय के प्रचार का लक्ष्य होने पर उसकी शैली विचारोत्तेजकता, तार्किकता एवं व्यंग्यात्मकता से ओत-प्रोत हो सकती है। किन्तु जहाँ लेखक का लक्ष्य पाठक को विशुद्ध आनन्द प्रदान करना होता है, वहाँ उसकी शैली में रसात्मकता या सरसता का प्राधान्य होना संभव है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि केवल लेखक के लक्ष्य या प्रयोजन-मात्र से ही उसकी शैली में ये विशिष्टताएँ आ जाती हैं—अपितु लक्ष्य के साथ-साथ लेखक की कुछ अन्य क्षमताएँ भी अपेक्षित हैं। हमारा प्रतिपाद्य यहाँ इतना ही है कि अन्य

कारणों के साथ-साथ लेखक के प्रयोजन का भी शैली के निर्माण में आंशिक रूप से योग रहता है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि शैलीगत वैशिष्ट्य में लेखक के निजी व्यक्तित्व, विषय, भाषा आदि के वैशिष्ट्य के साथ-साथ पाठक का वैशिष्ट्य भी एक कारण है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

७.५. उपसंहार—

शैली के स्रोतों—व्यक्ति, विषय, भाषा एवं पाठक—का अलग-अलग अध्यायों में अध्ययन प्रस्तुत करने के अनन्तर यहाँ निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि शैली का निर्माण किसी एक ही स्रोत पर आधारित नहीं होता, अपितु उसमें इन सभी स्रोतों का न्यूनाधिक योग-दान रहता है। लेखक की रुचि, प्रवृत्ति एवं परिस्थिति के भेद से कहीं किसी स्रोत को अधिक प्रमुखता मिल सकती है तो कहीं किसी अन्य को। फिर भी अन्य स्रोतों की भी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः इस निष्कर्ष के अनुसार किसी भी रचना-शैली पर विचार करते समय इन सभी स्रोतों को ध्यान में रखना उचित होगा।

●

८
परंपरागत सिद्धान्तों का अनुशीलन :
अलंकार सिद्धान्त

●

८.१. परंपरागत सिद्धान्त और शैली—

परंपरागत काव्य-शास्त्र में अनेक ऐसे सिद्धान्त मिलते हैं जिनमें शैली के विभिन्न पक्षों की व्याख्या विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत की गई है। इन सिद्धान्तों में अलंकार, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति, बिम्ब, प्रतीक आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि ये सिद्धान्त सर्वथा निर्दोष नहीं हैं, किन्तु इनके अध्ययन, विश्लेषण, संशोधन एवं समन्वय के आधार पर शैली सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों एवं तत्त्वों की जानकारी उपलब्ध की जा सकती है। यहाँ हम इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए सर्व प्रथम अलंकार-सिद्धान्त का अनुशीलन प्रस्तुत करते हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भारतीय एवं पाश्चात्य—दोनों क्षेत्रों में समान रूप से हुआ है, अतः यहाँ दोनों के दृष्टिकोण को समन्वित करते हुए इसकी विवेचना की जायगी।

८.२. अलंकार : विभिन्न अर्थ एवं अन्य पर्यायवाची—

अलंकार का शाब्दिक अर्थ है—सजावट, शृंगार, आभूषण आदि।[१] काव्य-शास्त्र में भी 'अलंकार' का अर्थ किया गया है—'जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय।'[२] दूसरे शब्दों में जिन प्रयोगों से काव्य में सौन्दर्य की उत्पत्ति या अभिवृद्धि होती है, उन्हें अलंकार कहा गया है।[३] इसीलिए वामन ने 'अलंकार' को 'सौन्दर्य' का पर्यायवाची तक माना है।[४]

---

१. प्रामाणिक हिन्दी शब्द-कोष।
२. काव्य-दर्पण : रामदहिनमिश्र, पृ० ६९।
३. दंडी : काव्यादर्श २।१।
४. वामन : काव्यालंकार सूत्र।

भारतीय काव्य-शास्त्र में 'अलंकार' शब्द का काव्य-शास्त्रीय अर्थ में प्रयोग सर्वप्रथम भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' में मिलता है; किन्तु वहाँ अलंकार के समकक्ष ही एक ओर शब्द भी मिलता है—'लक्षण'।[५] भरतमुनि ने काव्य के ३६ लक्षणों की चर्चा करते हुए हेतु, संशय, दृष्टान्त, निदर्शना आदि की गणना लक्षणों में की थी जब कि अलंकारों के अन्तर्गत केवल चार ही भेदों—उपमा, दीपक, रूपक, यमक का ही उल्लेख किया था, किन्तु परवर्ती आचार्यों ने अधिकांश लक्षणों को अलंकारों में स्थान देकर दोनों को घुला-मिला दिया।[६] इसी प्रकार आगे चलकर अलंकार के लिए 'चित्र' शब्द का भी प्रयोग होने लगा।[७] अस्तु, भारतीय काव्य-शास्त्र में 'लक्षण' और 'चित्र' भी कभी-कभी 'अलंकार' के समानार्थक रहे हैं।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी अलंकार के विभिन्न पर्यायवाची प्रचलित रहे हैं, जिनमें तीन उल्लेखनीय हैं—ट्रोप्स (Tropes), फिगरस (Figures), और ओरनामेंट्स (Ornaments)। 'ट्रोप' का शाब्दिक अर्थ है—वक्र, घुमावदार; क्विन्टिलियन ने 'अर्थ की वक्रता' को 'ट्रोप' माना है।[८] 'फिगर' का शब्दिक अर्थ है, रूप एवं आकार। काव्य-शास्त्र में रूपगत विशिष्टता को ही 'फिगर' कहा गया है। ओरनामेंट' का अर्थ है—अलंकार, आभूषण। इन तीनों ही शब्दों का प्रयोग प्राचीन ग्रीक एवं रोमन काव्य-शास्त्र में मिलता है।[९] प्रारंभ में इनके अर्थ में परस्पर सूक्ष्म अंतर था, किन्तु आगे चलकर लुप्त हो गया। अतः अब वे लगभग समानार्थक हो गये है—यह दूसरी बात है कि इनमें से 'फिगर' का प्रचलन अधिक हो गया है तथा शेष दो अप्रचलित होते जा रहे हैं। शदार्थ की दृष्टि से ट्रोप, फिगर एवं ओरनामेंट को हम क्रमशः लक्षण, चित्र, एवं अलंकार के समकक्ष रख सकते हैं।

८.३. 'अलंकार' की परिभाषा एवं लक्षण—

विभिन्न आचार्यों ने 'अलंकार' की विभिन्न शब्दों में परिभाषाएँ की हैं। भामह के शब्दों में 'शब्द और अर्थ की वक्रता ही वाणी का इष्ट अलंकार है' तो दंडी के विचार से 'काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार कहे जाते हैं।' इसी प्रकार रुद्रट के अनुसार "अभिव्यक्ति के विशेष प्रकार ही अलंकार हैं।'[१०] इन तीन परिभाषाओं से अलंकार के तीन लक्षणों पर क्रमशः प्रकाश पड़ता है—(१) शब्दार्थ की वक्रता या विचित्रता (२) उनसे सौन्दर्य की सृष्टि (३) अभिव्यक्ति के विशेष प्रकार। पाश्चात्य

---

५. भरतमुनि : नाट्य-शास्त्र १६।५।
६. वही : १६।४३।
७. हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य : डॉ० सत्यदेव चौधरी, पृ० ६३१।
8. Shipley : Dictionary of world literary terms.
9. Demetrius : On Style, 131.
१०. भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा।

विद्वानों ने भी अलंकारों (Figures of Speech) की परिभाषा करते हुए प्राय: इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख किया है। 'आक्सफोर्ड जूनियर एन्साइक्लोपीडिया' में अलंकारों की परिभाषा करते हुए लिखा गया है—"These are established modes of expression which by differing from the normal and expected, make what is said more vivid." (ये अभिव्यंजना की निश्चित विधियाँ हैं जो कि सामान्य एवं संभाव्य से भिन्न होने के कारण कथ्य को अधिक सजीव बना देती हैं।) यदि इस परिभाषा को हम तीन खंडों में बाँटें तो उसमें भारतीय आचार्यों द्वारा निरूपित तीनों लक्षणों का समावेश हो जायगा ; देखिये—

पाश्चात्य परिभाषा		भारतीय परिभाषाएँ
(१) "These are modes of expression....." (ये अभिव्यंजना की विधियाँ हैं···)	=	(१) 'अभिधान प्रकार विशेषा'···· (रुद्रट)
(२) "...Which by differing from the normal and expected...." (जो कि सामान्य एवं संभाव्य से भिन्न होने के कारण···)	=	(२) 'वक्राभिधेय·····' (भामह)
(३) "....make what is said more vivid." (कथ्य को अधिक सजीव बनाती है।)	=	(३) 'शोभाकरान् धर्मान्' (दंडी)

अस्तु, भारतीय एवं पाश्चात्य—दोनों दृष्टिकोणों से अलंकारों के तीन सामान्य लक्षण—(१) वैचित्र्य (२) शोभाकारक (३) अभिव्यंजना-प्रकार—स्वीकार किये जा सकते हैं।

८.४. अलंकारों का वर्गीकरण—

भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों ने अलंकारों के शताधिक भेदोपभेद करते हुए, उन्हें अनेक वर्गों में विभाजित किया है। भारतीय आचार्यों ने सर्व प्रथम उन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया है—(१) शब्दालंकार (२) अर्थालंकार (३) उभयालंकार।[११] शब्दालंकारों शब्द की ध्वनि एवं रूप के कारण अलंकृति आती है जबकि अर्थालंकारों में अलंकृति का आधार अर्थ होता है। उभयालंकारों में प्रथम दोनों वर्गों की

११. काव्य-दर्पण : श्री रामदहिन मिश्र।

विशेषताएँ मिलती हैं। पाश्चात्य आचार्यों में भी क्विण्टिलियन तथा उनके परवर्ती विद्वानों ने सभी अलंकारों को दो वर्गों में विभाजित किया है—(१) फिगरस् आफ स्पीच (२) फिगरस् आफ थॉट।[१२] इनमें से प्रथम वर्ग शब्दालंकार का तथा दूसरा अर्थालंकार का पर्यायवाची है। आगे चलकर एक अन्य विद्वान् (Puttenhana) ने एक तीसरे वर्ग उभयालंकार की भी कल्पना की,[१३] जो कि भारतीय वर्गीकरण के सर्वथा अनुरूप है।

अर्थालंकारों को भी अनेक वर्गों में बाँटा गया है। भारतीय आचार्य रुय्यक के अनुसार इनके सात वर्ग हैं[१४]—(१) सादृश्य मूलक (२) विरोध मूलक (३) शृंखला मूलक (४) तर्क-न्याय मूलक (५) वाक्य-न्याय मूलक (६) लोक-न्याय मूलक (७) गूढार्थ-प्रतीति मूलक। दूसरी ओर पाश्चात्य दृष्टि से अर्थालंकारों के आठ प्रमुख वर्ग माने गये हैं[१५]—(१) तुलनात्मक (२) नाम-विपर्यय (३) वैषम्यमूलक (४) अतिरंजना मूलक (५) प्रश्नोत्तर सूचक (६) विपर्यय मूलक (७) शब्द-क्रीड़ा मूलक (८) क्रम-वैचित्र्य मूलक। यदि इन वर्गों को भारतीय वर्गीकरण की तुलना में रक्खें तो उन्हें तालिका रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

भारतीय वर्ग		पाश्चात्य वर्ग
१. शब्दालंकार	=	शब्द-क्रीड़ा मूलक (७)
२. अर्थालंकार	=	फिगरस् आफ थॉट
(अ) सादृश्य मूलक	=	तुलनात्मक (१)
(आ) विरोध मूलक	=	वैषम्य मूलक (३) अतिरंजना मूलक (४) विपर्यय मूलक (६),
(इ) शृंखला मूलक	=	क्रम-वैचित्र्य मूलक (८)
(ई) तर्क-न्याय मूलक	=	प्रश्नोत्तर सूचक (५)
(उ) वाक्य-न्याय मूलक		×
(ऊ) गूढार्थ प्रतीति मूलक		×

भारतीय और पाश्चात्य—दोनों प्रकार के वर्गीकरणों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि जहाँ भारतीय वर्गीकरण अलंकारों की आधारभूत विशेषताओं को ध्यान में रखकर किया हुआ है, वहाँ पाश्चात्य वर्गीकरण ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए 'नाम-विपर्यय' एवं 'प्रश्नोत्तर सूचक' वर्ग मूल विशेषताओं के स्थान पर उक्ति के बाह्य रूप को सूचित करते हैं, जबकि शेष वर्ग अन्य विशेषताओं पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य वर्गीकरण में कुछ वर्ग ऐसे हैं जो किसी एक ही वर्ग में

---

12. A history of criticism, volume I : G. Saintsbury, Page 302.
13. Shipley : Dictionary of world literary terms.
१४. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० ३३८।
15. Oxford Junior Encyclo-paedia.

समन्वित किये जा सकते हैं, जैसे—विषम, अतिरंजना, अवरोध, विपर्यय आदि वर्गों को विरोध मूलक वर्ग में रखा जा सकता है। अस्तु, हम भारतीय वर्गीकरण में ही पाश्चात्य वर्गों को समन्वित करते हुए आगे विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य अलंकारों का विश्लेषण प्रस्तुत कर सकते हैं।

८.५. अलंकारों का विश्लेषण : आधारभूत तत्त्व—

भारतीय एवं पाश्चात्य अलंकारों का विश्लेषण मुख्यतः दो दृष्टिकोणों से किया जा सकता है—(१) अलंकार के सौन्दर्य का आधारभूत तत्त्व क्या है ? (२) अलंकार का भाषा के किस पक्ष से सम्बन्ध है या उसका क्षेत्र वर्ण, शब्द, वाक्य, प्रसंग आदि में से, किससे सम्बन्धित है। यहाँ पहले प्रत्येक वर्ग पर क्रमशः आधार-भूत तत्त्व की दृष्टि से विचार किया जाता है।

(१) **शब्दालंकार**—भारतीय शब्दालंकारों के अन्तर्गत मुख्यतः अनुप्रास एवं उसके विभिन्न भेद, यमक, पुनरुक्ति वीप्सा आदि अलंकार आते हैं।[१६] इन सब में स्वर, वर्ण, शब्द या शब्द-समूहों की आवृत्ति होती है। जैसे—छेकानुप्रास में अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति, वृत्यानुप्रास में एक ही वृत्ति से सम्बन्धित स्वर-व्यंजनों की आवृत्ति। लाटानुप्रास में वाक्यों या वाक्यांशों की आवृत्ति, यमक में भिन्नार्थक शब्दांशों की आवृत्ति, पुनरुक्ति में सार्थक शब्दों की आवृत्ति होती है। इस प्रकार इस समूह के अलंकारों का आधारभूत तत्त्व 'आवृत्ति' को माना जा सकता है।

उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त शब्दालंकारों का एक प्रकार और है, जिसमें एक ही शब्द अनेक अर्थ एक साथ व्यक्त करता है—इसे 'श्लेष' कहते हैं। सामान्यतः एक शब्द एक ही अर्थ का द्योतक होता है, किन्तु श्लिष्ट शब्द एक ही साथ अनेक अर्थ प्रस्तु करके उक्ति में वैचित्र्य ला देता है—अतः श्लेष में अलंकृति का आधार अर्थ-वैचित्र्य को माना जा सकता है।

पाश्चात्य शब्दालंकारों की संख्या भारतीय शब्दालंकारों से बहुत अधिक है। पाश्चात्य विद्वानों ने अकेले अनुप्रास के ही बीसों भेदों की कल्पना की है; जैसे—(१) Tautotes—एक ही शब्द की आवृत्ति (२) Paramoion—शब्दारंभ में आवृत्ति (३) Parechesis—यमक (४) Anaphora पंक्तियों के आरंभ में शब्दावृत्ति (५) Epistrophe—अंतिम शब्द की आवृत्ति (६) Symploche—आरम्भ और अंत में आवृत्ति (७) Mesarchia—प्रारंभ और बीच में आवृत्ति (८) Antimet-abole—शब्द-समूह की भिन्न अर्थ में आवृत्ति आदि।[१७] इनके अतिरिक्त और भी भेद हैं जिनमें आवृत्ति की प्रधानता रहती है—Antimetathesis, Paradiastole,

---

१६. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, ३४५-३४७।
17. Shipley : Dictionary of world literary terms.

Ploche, Antistrophe, Synonymy, Exergasia, Epexegasia आदि[१८]। अस्तु, इन सबके मूल तत्त्व के रूप में आवृत्ति को स्वीकार किया जा सकता है। आवृत्ति की ही भाँति अर्थ-वैचित्र्य भी पाश्चात्य अलंकारों में मिलता है। भारतीय श्लेष का पर्यायवाची 'पन' Pun प्रचलित है।

पाश्चात्य शब्दालंकारों में आवृत्ति और अर्थ-वैचित्र्य के अतिरिक्त एक तीसरा तत्त्व और भी उपलब्ध होता है, जिसे हम **व्याकरण-वैचित्र्य** कह सकते हैं। अनेक अलंकारों में लिंग, वचन, पुरुष, काल आदि में परिवर्तन करके या विभक्ति आदि के लोप के द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया जाता है ; जैसे, Asyndeton, Change of number, Change of person, Change of adjective आदि[१९] में। अस्तु, हमें शब्दालकारों का तीसरा आधार व्याकरण-वैचित्र्य भी स्वीकार करना होगा।

(२) **अर्थालंकार (क) सादृश्य मूलक**—इस वर्ग में भारतीय अलंकारों में से उपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रान्ति, उल्लेख, अपहनुति, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार आते हैं, जिनकी संख्या २८ तक पहुँचती है। दूसरी ओर पाश्चात्य अलंकारों में से Metaphor, Simile, Periphrasis, Parabole, Parable, Personification, Hyperbole, Hypostatization आदि अलंकार आते हैं।[२०] इन अलंकारों की मुख्य विशेषता यह है कि इनमें प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत विषय का समावेश किया जाता है। यह समावेश भी विभिन्न अलंकारों में विभिन्न प्रकार से किया जाता है ; जैसे किसी में सादृश्य के द्वारा, जबकि किसी में भेद के द्वारा किया जाता है। सादृश्य के भी तीन उपभेद किये जा सकते हैं—(१) जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों साथ-साथ समान रूप से विद्यमान रहते हैं। जैसे, उपमा अलंकार में—"मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है।" यहाँ मुख और चन्द्रमा, दोनों की सह-स्थिति है। (२) जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत इतने निकट आ जाते हैं कि दोनों एकाकार हो जाते हैं। जैसे, रूपक अलंकार में (मुख-चन्द्र को देखकर कौन प्रसन्न नहीं होगा !) (३) जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत की घनिष्ठ एकता के कारण एक की सत्ता लुप्त हो जाती है ; जैसे रूप-कातिशयोक्ति अलंकार में (इस चन्द्र को देखकर किस हृदय-सागर में ज्वार नहीं आता !)

इस प्रकार सादृश्यमूलक अलंकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत के मेल या संयोग के विभिन्न रूप एवं स्तर मिलते हैं किन्तु इन सबके सामान्य आधार-तत्त्व के रूप में 'अप्रस्तुत-योग' को स्वीकार किया जा सकता है।

१८-२१. पाश्चात्य अलंकारों का परिचय निम्नांकित ग्रंथों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है—(1) Oxford junior encyclopaedia ; volume 7. (2) Shipley's dictionary of world literary terms. (3) A history of criticism, vol. I, By Saintsbury. (4) On style by Demetrius. (5) On sublime, by Longinus. (6) Aesthetic by B. Croce. (7) The Appreciation of poetry By E. G. Moll. (8) Elements of poetry By J. R. Krenzer.

(ख) **विरोध मूलक अलंकार**—इस वर्ग में भारतीय अलंकारों में से विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, विचित्र, असंगति, अधिक, विषम आदि तथा पाश्चात्य अलंकारों में से Antethesis (विरोधाभास) Inversion (विपर्यय), Paradox (विरोध), Litotes (निषेध), Oxymoron (असंगति), Hypotyposis (अविद्यमान की विद्यमानता), Hyperbaton (स्थानान्तरण), Contrast (वैषम्य) आदि आते हैं। इन अलंकारों में अप्रस्तुत का योग नहीं होता अपितु प्रस्तुत में ही किसी प्रकार की वक्रता, विचित्रता, या विषमता लाकर चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। अस्तु, इस वर्ग के आधारभूत तत्त्व के रूप में हम 'वक्रता' या 'वैचित्र्य' को स्वीकार कर सकते हैं।

(ग) **शृंखलामूलक अलंकार**—इस वर्ग में कारणमाला, एकावली, सार, माला दीपक, Climax (उत्तरोत्तर उत्कर्ष) आदि अलंकार आते हैं। इन सबमें चमत्कार का आधार तथ्यों के क्रम की विशिष्टता में निहित होता है। अस्तु, इस वर्ग का आधारभूत तत्त्व क्रम-वैशिष्ट्य माना जा सकता है।

(घ) **तर्क-न्याय मूलक**—इस वर्ग में 'काव्यलिंग' 'अनुमान' आदि अलंकार आते हैं जिनमें चमत्कार का आधार औचित्य या समानुपात (Balance) होता है।

(ङ) **वाक्य-न्यायमूलक**—इसमें यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय Aposiopesis, Asyndetion, Epiphonema आदि अलंकार आते हैं। इनमें सौन्दर्य का आधार वाक्य-रचना सम्बन्धी वैशिष्ट्य होता है।

(च) **लोक न्याय-मूलक**—इस वर्ग में प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, प्रश्नोत्तर, Interrogation, Interruption आदि अलंकार आते हैं। इनमें सामान्यतः प्राकृतिक नियमों एवं लोक स्वभाव की अनुकृति के द्वारा वैशिष्ट्य लाया जाता है। अतः इनके आधारभूत तत्त्व के रूप में स्वाभाविकता को स्वीकार किया जा सकता है।

(छ) **गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक**—इस वर्ग में व्योजोक्ति, अर्थ-वक्रोक्ति, सूक्ष्म, भाविक, समासोक्ति, Enigma (गूढ़ प्रश्न), Irony (व्यंग्योक्ति), Parenthesis (गर्भित वाक्य) आदि अलंकार आते हैं। वस्तुतः इनमें मूल अर्थ को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत न करके गूढ़ रूप में प्रस्तुत किया जाता है ; इसीलिए इन्हें 'गूढ़ार्थ-प्रतीति' वर्ग में रक्खा गया है। अर्थ की इस गूढ़ता का रहस्य यह है कि इनमें अभिधा शक्ति के स्थान पर व्यंजना-शक्ति का उपयोग किया जाता है। अतः इनके आधारभूत तत्त्व के रूप में व्यंजना-शक्ति या व्यंग्यात्मकता को स्वीकार किया जा सकता है।

इस प्रकार विभिन्न वर्गों के विश्लेषण से विभिन्न अलंकारों में निम्नांकित दस आधारभूत तत्त्वों की सत्ता सिद्ध होती है—

१. आवृत्ति (शब्दालंकारों में)
२. अर्थ-वैचित्र्य („ „)

३. व्याकरण-वेचित्र्य (शब्दालंकारों में)
४. अप्रस्तुत-योग (सादृश्य मूलक अलंकारों में)
५. वक्रता या वैचित्र्य (विरोध मूलक अलंकारों में)
६. क्रम-वैशिष्ट्य (शृंखला मूलक अलंकारों में)
७. औचित्य (तर्क-न्याय मूलक अलंकारों में)
८. वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य (वाक्य-न्याय मूलक अलंकारों में)
९. स्वाभाविकता (लोक-न्याय मूलक अलंकारों में)
१०. व्यंग्यात्मकता (गूढ़ार्थ-प्रतीति मूलक अलंकारों में)

८.६. अलंकारों का क्षेत्र-निर्धारण—

विभिन्न वर्ग के अलंकारों में परस्पर तात्त्विक भेद के अतिरिक्त क्षेत्रीय भेद भी है। जहाँ कुछ अलंकारों का क्षेत्र स्वर एवं व्यंजन तक सीमित है वहाँ कुछ पूरे वाक्य से सम्बन्धित हैं। इन्हें हम निम्नांकित ६ क्षेत्रों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) स्वर सम्बन्धी अलंकार—जैसे वृत्यानुप्रास आदि।
(२) व्यंजन सम्बन्धी अलंकार—जैसे छेकानुप्रास।
(३) शब्द-रूप सम्बन्धी—जैसे यमक, पुनरुक्ति।
(४) शब्दार्थ सम्बन्धी—जैसे श्लेष।
(५) वाक्य सम्बन्धी जैसे उपमा, रूपक आदि।
(६) वाक्य-समूह या प्रसंग सम्बन्धी—जैसे व्याजोक्ति।

सामान्यतः अनुप्रास सम्बन्धी अलंकार स्वर एवं व्यंजनों तक, व्याकरण-वैचित्र्य सम्बन्धी शब्द-रूप तक, तथा गूढ़ार्थ-प्रतीति मूलक को छोड़कर शेष वर्गों के अलंकार वाक्य तक सीमित होते हैं जबकि गूढ़ार्थ-प्रतीति मूलक वाक्य-समूहों या प्रसंग से सम्बन्धित होते हैं।

८.७. अलंकार-प्रयोग का लक्ष्य—

साहित्य में अलंकारों का प्रयोग क्यों किया जाता है—इस प्रश्न के उत्तर में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न उत्तर दिये हैं। श्री अरस्तू महोदय के विचार से अलंकारादि भाषा को लोक-सामान्य स्तर से ऊँचा उठा देते हैं तथा इनसे कथन में दीप्ति एवं आह्लादकता आती है।[२२] दमित्रियस महोदय के मतानुसार इनसे आकर्षणहीन कथ्य भी आकर्षक बन जाता है।[२३] इस प्रकार अरस्तू एवं दमित्रियस—दोनों ने ही अलंकार-प्रयोग का लक्ष्य साहित्य में सौन्दर्य, आकर्षण या आह्लादकता का संचार करना माना है। भारतीय विद्वानों ने भी यही मत प्रकट किया है। दंडी के अनुसार

22. Rhetoric : Chapter v.
23. On style, 134.

अलंकार काव्य में शोभा उत्पन्न करते हैं तो वामन के बिचार से वे काव्य-सौन्दर्य में अभिवृद्धि करते हैं।[२४]

आधुनिक युग में भी अलंकार-प्रयोग का लक्ष्य सौन्दर्योत्पादन ही माना गया है किन्तु इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए आक्सफोर्ड जुनियर एन्साइक्लोपीडिया में बताया गया है कि अलंकार पाठक की कल्पना-शक्ति को इस प्रकार उत्तेजित करते हैं कि जिससे वह प्रस्तुत विचारों को अधिक व्यापक रूप में ग्रहण करने में समर्थ हो जाती है।[२५] श्री शिपले ने और अधिक विस्तार से विचार करते हुए, अलंकार-प्रयोग के ९ प्रयोजन माने हैं[२६]—(१) विषय का स्पष्टीकरण (२) सादृश्य प्रस्तुत करना (३) शक्तिमता (४) सजीवता (५) साहचर्य जगाना (६) हास्य उत्पन्न करना (७) अलंकृति (८) सौन्दर्य (९) विशिष्ट में सामान्य का प्रदर्शन। वस्तुतः ये नौ प्रयोजन एक ही आकर्षण-शक्ति की विभिन्न प्रक्रियाओं को सूचित करते हैं, अतः इन सबका समन्वय आकर्षण-शक्ति की चार प्रक्रियाओं—संयोजन, संप्रेषण, द्रवण एवं अभिव्यक्ति—में किया जा सकता है। देखिये—

(१) संयोजन की प्रक्रिया—विषय मे रुचि या आकर्षण उत्पन्न करके उससे पाठक का सम्बन्ध स्थापित करवा देना।

(२) संप्रेषण की प्रक्रिया—विषय का स्पष्टीकरण, सादृश्य, साहचर्य।

(३) द्रवण की प्रक्रिया—सजीवता, शक्तिमता।

(४) अभिव्यक्ति—हास्य उत्पन्न करना।

अतः हमारे विचार से उपर्युक्त सभी मतों का समन्वय करते हुए कहा जा सकता है कि अलंकारों का लक्ष्य शैली में आकर्षण-शक्ति को जागृत करना है तथा इसी आकर्षण-शक्ति की प्रक्रिया के कारण उसमें प्रेषणीयता द्रवण-शीलता एवं आह्लादकता की क्षमता आती है। आचार्य क्विण्टिलियन ने भी यही लिखा था—"....the greatest power of figures is to render Oratory attractive." अर्थात अलंकारों की सबसे बड़ी शक्ति भाषण को आकर्षक बना देना है[२७]। अस्तु, संक्षेप में कहें तो अलंकार-प्रयोग का लक्ष्य है—आकर्षण शक्ति की उद्दीप्ति।

८.८. अलंकार-प्रयोग का औचित्य—

साहित्य में अलंकारों का प्रयोग किस स्थिति में एवं किस सीमा तक उचित है—इसका समाधान करते हुए विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। श्री अरस्तू महोदय ने 'अलंकारों के बादशाह रूपक' की विवेचना करते समय इसके

---

२४. काव्यादर्श एवं काव्यालंकार सूत्रवृत्ति।
25. Oxford junior encyclopaedia.
26. Dictionary of world literary terms.
27. A history of Criticism : G. Saintsbury, vol. I, Page. 302

प्रयोग-औचित्य के सम्बन्ध में तीन बातों का निर्देश किया है—(१) अलंकार हमेशा उत्कृष्ट उपमान पर ही आधारित होने चाहिएँ। (२) उपमान अधिक दूरारूढ़ नहीं होना चाहिए। (३) उपमान उत्तम कोटि का होना चाहिए।[२८] आगे चलकर दमित्रियस एवं लोंजाइनस ने भी कई नये उपबन्धों की चर्चा की है। दमित्रियस के विचार से अलंकार का प्रयोग स्वाभाविक एवं कलात्मक रूप में होना चाहिये[२९] तो लोंजाइनस के मत से अलंकार का प्रयोग इस प्रकार होना चाहिए कि किसी का ध्यान भी न जाय कि वह अलंकार है।[३०] दूसरे, उनके विचार से अलंकार-प्रयोग के पीछे भावावेग की प्रेरणा होनी चाहिए।[३१] भारतीय आचार्यों ने भी अलंकार-प्रयोग के लिए औचित्य की शर्त लगाई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस विषय पर विस्तार से लिखते हुए प्रतिपादित किया है कि अलंकारों का प्रयोग सदा प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-साधन के लिए ही होता है, अतः उनका प्रयोग उसी सीमा तक उचित है जहाँ तक कि वे विषय की मार्मिक अनुभूति में सहायक सिद्ध होते हैं, अन्यथा उनका प्रयोग निष्फल सिद्ध होगा।[३२] इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने अलंकार-प्रयोग के सम्बन्ध में विभिन्न तथ्यों का निर्देश किया है, जिन्हें साहित्यकार, साहित्य एवं पाठक की दृष्टि से निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) साहित्यकार की दृष्टि से—साहित्यकार को भावावेग की प्रेरणा से, स्वाभाविक रूप में और कलात्मक ढंग से अलंकारों का प्रयोग करना चाहिए।

(ख) साहित्यिक रचना की दृष्टि से—साहित्य में अलंकारों का प्रयोग इस प्रकार होना चाहिए—(१) उत्कृष्ट उपमान पर आधारित (२) उपमान अधिक दूरारूढ़ न हों (३) उत्तम कोटि का हो (४) उसमें औचित्य हो (५) भाव के उत्कर्ष साधक हों।

(ग) पाठक की दृष्टि से अलंकारों का प्रयोग इस प्रकार होना चाहिए—(१) पाठक का ध्यान उनकी ओर न जाय, (२) वे पाठक को विषय की मार्मिक अनुभूति प्रदान करने में सहायक हों।

यदि उपर्युक्त तीनों वर्गों पर समन्वयात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि इनमें सबसे अधिक बल स्वाभाविकता, औचित्य एवं भावात्मकता पर दिया गया है। वस्तुतः ये तीनों विशेषताएँ अलंकार के प्रसंग में एक ही विशिष्टता की द्योतक हैं; वह विशिष्टता है—भावात्मकता। जब एक व्यक्ति भावावेग के समय

---

28. Aristotle's Rhetoric, Page. 150
29. On Style, Page. 140
30. On the sublime, Page. 187
३१. रस-मीमांसा, पृ० ४८-४९।
३२. वही।

तदनुरूप अलंकारों का प्रयोग करता है तो वह प्रयोग हमें स्वाभाविक एवं उचित प्रतीत होता है, अन्यथा वह कृत्रिम एवं अनुचित प्रतीत होगा। उदाहरण के लिए, यदि एक व्यक्ति क्रोध के आवेश में कहे कि "मैं उसे पीस डालूँगा!" तो उसका यह प्रयोग भावावेग के अनुरूप कहा जा सकता है, किन्तु यदि मन की शान्त अवस्था में ऐसा कहे तो यह स्वाभाविक एवं उचित प्रतीत नहीं होगा। अस्तु, जो शब्दावली भावावेग के समय प्रयुक्त की जाती है उसी को यदि सामान्य अवस्था में प्रयुक्त किया जाय या सामान्य शब्दावली को भावावेग के समय प्रयुक्त किया जाय तो ये दोनों ही बातें अस्वाभाविक एवं अनुचित प्रतीत होंगी। अतः अलंकारगत स्वाभाविकता एवं विशिष्टता का आधार भावानुकूलता ही है। जब अलंकार भावानुकूल रूप में प्रयुक्त होंगे तो पाठक को भी उन्हीं के अनुकुल भाव की अनुभूति प्राप्त होगी—इस प्रकार कवि, काव्य और पाठक तीनों की ही दृष्टि से अलंकार-प्रयोग की स्वाभाविकता, औचित्य एवं सफलता का रहस्य उनकी भावानुकूलता में निहित है। ऐसी स्थिति में हम 'भावानुकूलता' को ही अलंकार-प्रयोग की एक मात्र कसौटी मान सकते हैं—किन्तु यहाँ इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की है। जैसा कि हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं—साहित्यकार साहित्य-रचना के समय जिन भावों की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति करता है, वे लौकिक भावों के परिष्कृत रूप होते हैं—उनमें वे 'अहं' का अभाव होता है। इन अहं-शून्य भावों को ही हमने आकर्षण का नाम दिया है—अतः 'भावानुकूलता' के स्थान पर "आकर्षण-अनुकूलता' को भी अलंकार-प्रयोग की कसौटी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः किसी भी कार्य का औचित्य उसके लक्ष्य की पूर्ति में निहित है—पीछे हमने अलंकारों का लक्ष्य आकर्षण शाक्ति को उद्दीप्त करना स्वीकार किया है, अतः अलंकार-प्रयोग का औचित्य भी इसी लक्ष्य की पूर्ति में अर्थात् आकर्षण-शक्ति के उद्दीपन में निहित है। अस्तु, जो अलंकार साहित्य में आकर्षण उत्पन्न करने में सफल सिद्ध होते हैं, उन्हीं का प्रयोग उचित एवं सार्थक माना जा सकता है।

८.६. निष्कर्ष—

अन्त में हम भारतीय एवं पाश्चात्य अलंकार-सिद्धान्त के अनुशीलन से उपलब्ध निष्कर्षों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

(क) अलंकारों के नामकरण, लक्षण-निरूपण एवं वर्गीकरण की दृष्टि से भारतीय एवं पाश्चात्य आलंकारिकों में पर्याप्त मतैक्य मिलता है।

(ख) भारतीय एवं पाश्चात्य आलंकारिकों ने अलंकार के तीन सामान्य लक्षण स्वीकार किये हैं—(१) वैचित्र्य (२) सौन्दर्योत्पादक (३) अभिव्यंजना-प्रणाली के विभिन्न रूप।

(ग) भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने स्थूल रूप से सभी अलंकारों को तीन वर्गों में विभाजित किया है—शब्दालंकार, अर्थालंकार, और उभयालंकार।

(घ) भारतीय एवं पाश्चात्य अलंकार मुख्यतः इन दस तत्त्वों पर आधारित हैं—(१) आवृत्ति (२) अर्थ-वैचित्र्य (३) व्याकरण-वैचित्र्य (४) अप्रस्तुत-योग (५) वक्रता या वैचित्र्य (६) क्रम-वैशिष्ट्य (७) औचित्य (८) वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य (९) स्वाभाविकता (१०) व्यंग्यात्मकता।

(ङ) विभिन्न अलंकारों को इन ६ आधार-क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है—(१) स्वर (२) व्यंजन (३) शब्द-रूप (४) शब्दार्थ (५) वाक्य (६) वाक्य-समूह या प्रसंग।

(च) अलंकार-प्रयोग का लक्ष्य रचना में आकर्षण-शक्ति की उद्दीप्ति करना है तथा जो अलंकार इस लक्ष्य की पूर्त्ति में साधक सिद्ध होते हैं, उन्हीं का प्रयोग उचित एवं सार्थक कहा जा सकता है।

●

९
गुण-सिद्धान्त और शैली

●

९.१. गुण : सामान्य परिचय—

काव्य-शैली के कुछ सामान्य तत्त्वों की चर्चा प्राचीन युग से लेकर अर्वाचीन युग तक बराबर होती रही है, जिन्हें भारतीय आचार्यों ने 'गुण' की संज्ञा दी है तथा पाश्चात्य आचार्यों ने 'क्वालिटी' (Quality) कहा है। 'गुण' और 'क्वालिटी' दोनों शब्दार्थ की दृष्टि से तो एक दूसरे के पर्यायवाची हैं हीं—साथ ही इनके भारतीय एवं पाश्चात्य भेदों में भी परस्पर गहरा साम्य है। भारतीय काव्य-शास्त्र में 'गुण' सम्बन्धी चर्चा भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' से आरम्भ होकर आधुनिक युगीन विद्वान् डा० नगेन्द्र तक पहुँची है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में आचार्य अरस्तू से लेकर बीसवीं शती के विद्वान् एफ० एल० ल्यूकस तक ने इनकी विवेचना की है। इससे सिद्ध होता है कि 'गुण' सिद्धान्त भारतीय एवं पाश्चात्य, समीक्षा-क्षेत्र में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक बराबर प्रचलित रहा है। यह तथ्य इस सिद्धान्त की महत्ता का द्योतक है।

९.२. गुण : परिभाषा—

पाश्चात्य विद्वानों ने गुण (Quality) की कोई विशेष परिभाषा नहीं दी—केवल इन्हें "शैली के विभिन्न लक्षण एवं तत्त्व"[1] मात्र कह कर काम चलाया है, जबकि भारतीय आचार्यों ने इनकी परिभाषा करते हुए इनके लक्षणों एवं विरोधी तत्त्वों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। आचार्य भरत ने "दोषों के विपरीत (तत्त्वों) को गुण" कहा है। यह परिभाषा अपने आप में अपूर्ण है, क्योंकि जब तक 'दोषों' का स्वरूप-ज्ञान न हो, तब तक गुणों का भी निर्णय इसके आधार पर नहीं

---

1. "Many characterestics of valid expression"—Shipley, Page 333.

किया जा सकता। वामन ने नई परिभाषा देते हुए कहा—"काव्य शोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः"[२] अर्थात् काव्य में शोभा उत्पन्न करने वाले धर्म गुण हैं। इसी प्रकार परवर्ती आचार्यों ने भी अपने-अपने दृष्टिकोणों से विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की; जैसे—"जो प्रधानभूत (रस) अंगी के आश्रित रहते हैं, उन्हें गुण कहते हैं।[३]" (ध्वनिकार) या "काव्य के ऐसे अचल एवं नियत धर्म जो कि प्रधान रस के उत्कर्ष हेतु हों, 'गुण' कहलाते हैं जैसे कि मनुष्य के शरीर में प्रधान आत्मा के शूरता आदि गुण होते हैं।"[४] (मम्मट) इसी परिभाषा में थोड़ा संशोधन करते हुए साहित्यदर्पणकार ने भी लिखा—"प्रमुखता प्राप्त रस के धर्म गुण होते हैं, जैसे कि आत्मा के गुण—शौर्य्य आदि।"[५] पंडितराज जगन्नाथ ने गुणों को रस के स्थान पर शब्दार्थ का धर्म सिद्ध करते हुए इस परिभाषा को दोष पूर्ण सिद्ध किया है। परंपरागत सभी परिभाषाओं का समाहार करते हुए डा० नगेन्द्र ने गुण की परिभाषा इस प्रकार स्थिर की है "गुण काव्य के उन उत्कर्ष साधक तत्त्वों को कहते हैं जो मुख्य रूप से रस के और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य-धर्म हैं।"[६] इस परिभाषा से गुण के निम्नांकित चार लक्षणों पर प्रकाश पड़ता है—

(१) गुण काव्य के तत्त्व हैं। (क्षेत्र)
(२) वे काव्य के उत्कर्ष साधक हैं। (लक्ष्य)
(३) वे मुख्य रूप से रस के नित्य-धर्म हैं। (आधार-भूमि)
(४) वे गौण रूप से शब्दार्थ के नित्यधर्म हैं। (आधार-भूमि)

वस्तुतः इन सभी परिभाषाओं में गुण के तीन पक्षों—उनके क्षेत्र, लक्ष्य एवं आधार—पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है, जिनसे गुण के विभिन्न सम्बन्धियों का तो ज्ञान होता है, किन्तु स्वयं गुण के स्वरूप का बोध नहीं होता। दूसरे, गुण के विभिन्न सम्बन्धों के सम्बन्ध में भी विभिन्न आचार्य एक-मत नहीं है। अस्तु, हमारे सामने चार प्रश्न विचारणीय हैं—सर्वप्रथम तो गुण का स्वरूप क्या हैं? शेष तीन प्रश्न गुणों के क्षेत्र, लक्ष्य एवं आधार सम्बन्धी हैं। इन पर हम आगे क्रमशः विचार करेंगे।

६.३. गुणों का स्वरूप—

सामान्यतः 'गुण' शब्द का प्रयोग किसी भी पदार्थ की अन्तरंग सूक्ष्म विशेषता के लिए किया जाता है। वस्तुतः 'गुण' कोई पृथक 'तत्त्व' न होकर, विभिन्न तत्त्वों

---

२. का० सू० ३।१।१
३. हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : सं० डा० नगेन्द्र, भूमिका, पृ० ६१।
४. वही, पृ० ६२।
५. वही, पृ० ६२।
६. वही, पृ० ६३।

की समन्वित विशेषता का पर्यायवाची होता हैं। 'गुण' का निवास पदार्थ के किसी एक अंग विशेष में या उसके एक अंश में नहीं रहता, वह सारे पदार्थ में व्याप्त रहता है। दूसरे शब्दों में 'गुण' पदार्थ की 'सामान्य विशेषता' का ही दूसरा नाम है। यह निष्कर्ष काव्यगत गुणों पर भी लागू किया जा सकता है। गुण का निवास काव्य के किसा एक अंग या एक अंश में न होकर—उसकी सामान्य विशेषता के रूप में होना चाहिए। यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि वह सामान्य विशेषता क्या है ? इसके समाधान के लिए हमें कुछ प्रमुख भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-गुणों के स्वरूप पर विचार करना चाहिए। उदाहरण के लिए प्रसाद (Clarity), समास (Brevity) शुद्धता (Propriety) आदि गुण ऐसे हैं जिन्हें अधिकांश भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों ने मान्यता दी है।[७] ये गुण काव्यगत शैली में ही नहीं—अपितु प्रत्येक विषय की भाषा-शैली में उपलब्ध होते हैं। स्पष्टता, संक्षिप्तता एवं शुद्धता का जितना ध्यान साहित्यिक रचनाओं में रखा जाता है, उतना ही वैज्ञानिक लेखों में भी। अतः उन्हें काव्य की सामान्य विशेषता न कह कर, 'भाषा-शैली की सामान्य विशेषता' कहना ही अधिक उचित होगा। इतना ही नहीं—सामान्य के साथ-साथ इन्हें 'आवश्यक विशेषता' मानना भी उचित होगा। क्योंकि इन गुणों के अभाव में कोई भी भाषा-शैली, चाहे वह विज्ञान में प्रयुक्त हो या साहित्य में, अपने लक्ष्य को पूरा नहीं कर सकेगी। अस्पष्टता, अनावश्यक विस्तार एवं अशुद्धता से युक्त भाषा-शैली न तो वैज्ञानिक तथ्यों पर ही यथेष्ट प्रकाश डाल सकेगी और न ही पाठक को अपने सौन्दर्य से आकर्षित कर सकेगी। अतः कहना चाहिए कि ये गुण भाषा-शैली की प्रारंभिक अपेक्षित योग्यताओं (Primary requisite qualifiations) के सूचक हैं। इनके अभाव में कोई भी भाषा-शैली शास्त्र, विज्ञान या साहित्य की रचना के उपयुक्त नहीं कही जा सकती।

६.४. गुणों का क्षेत्र—

गुणों के क्षेत्र के सम्बन्ध में भी कई मत प्रचलित रहे हैं। एक मत के अनुसार वे 'काव्य के धर्म' हैं, दूसरे मत के अनुसार वे 'रस के धर्म' हैं, तीसरे मत के अनुसार वे पाठक की 'चित्तवृत्ति के धर्म' हैं तो चौथे मत के अनुसार वे केवल शब्द और अर्थ के धर्म हैं।[८] दूसरे शब्दों में, गुणों को क्रमशः काव्य, रस, चित्तवृत्ति एवं शब्दार्थ से सम्बन्धित माना गया है, या यों कहिए कि गुणों की व्याप्ति क्रमशः शब्दार्थ से लेकर काव्य तक बताई गई है। आधुनिक दृष्टिकोण से इस प्रश्न को हम क्षेत्र (Scope) के निर्धारण का प्रश्न कहें तो भी अनुचित नहीं होगा।

---

७. पाश्चात्य गुणों के लिये द्रष्टव्य—(1) A hand book of literary criticism By william Henry Sheran (2) Style By F. L. Lucas.

८. हिन्दी काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति : सं० डा० नगेन्द्र भूमिका, पृ० ६४-६५।

गुणों को काव्य-धर्म मानने के तीन अर्थ हैं—एक तो यह है कि वे केवल काव्य में ही पाये जाते हैं, दूसरा यह कि उनके अभाव में काव्य नहीं बन सकता और तीसरा यह कि उनकी विद्यमानता से ही कोई रचना 'काव्य' कही जा सकती है। इस सम्बन्ध में जैसा कि पीछे स्पष्ट किया गया है, गुण केवल काव्य में ही नहीं, वैज्ञानिक लेखों में भी अपेक्षित है तथा केवल उनकी उपस्थिति से ही कोई रचना काव्यत्व से ओत-प्रोत नहीं हो सकती—अतः उन्हें काव्य-धर्म नहीं माना जा सकता है। जिस प्रकार गीली मिट्टी खिलौने बनाने का काम देती है—गीलेपन के अभाव में उससे खिलौने नहीं बनाये जा सकते, पर साथ ही गीलेपन के कारण ही मिट्टी को 'खिलौना' नहीं कहा जा सकता, ठीक उसी प्रकार गुणों से भाषा-शैली काव्य-रचना के योग्य तो बनती है किन्तु केवल उन्हीं से वह काव्यत्व की उपलब्धि नहीं कर सकती। वस्तुतः काव्य का काव्यत्व तो उसके आकर्षण धर्म में निहित है न कि गुणों में इसी प्रकार 'रस' और 'चित्तवृत्ति' सम्बन्धी मत भी काव्य-क्षेत्र से सम्बन्धित हैं, अतः उपर्युक्त मत के खण्डन के साथ ही ये भी खंडित हो जाते हैं। शेष चौथा मत जो कि शब्दार्थ सम्बन्धी है, संशोधित रूप में स्वीकार्य बन सकता है। 'शब्दार्थ' से यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि गुणों का निवास अलग-अलग शब्दों में होता है या शब्द-विशेष के वे धर्म हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता। किसी भी रचना में से दो-चार शब्द या दो-चार वाक्यों को बदल देने से ही उस रचना में 'गुणों' का संचार नहीं हो सकता, वस्तुतः गुणों का संचार तो समस्त रचना में सामान्य रूप से होता है, अतः हमें 'शब्द-अर्थ' के स्थान पर इन्हें "भाषा-शैली" के सामान्य धर्म (या योग्यता) के रूप में स्वीकार करना चाहिए। गुणों का सम्बन्ध रचना के किसी एक अंश से या किसी एक रचना से न होकर, एक रचयिता की सभी रचनाओं से होता है। उदाहरण के लिए हिन्दी-कवि केशवदास के काव्य में प्रसाद गुण का अभाव एवं मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में इस गुण के अस्तित्व को हम उनकी भाषा-शैली की सामान्य योग्यता कह सकते हैं। यह बात साहित्यकारों पर ही नहीं, अन्य शस्त्रों के विद्वानों पर भी लागू होती है। अतः संक्षेप में गुण का क्षेत्र किसी भी लेखक की भाषा-शैली के सामान्य रूप तक व्याप्त है।

६.५. गुणों की नित्यता—

प्रायः सभी आचार्यों ने गुणों को अचल, नित्य या स्थायी माना है। इसका आशय यह है कि काव्य से गुणों का सम्बन्ध स्थायी रहता है, अर्थात् कोई भी रचना उनके अभाव में सफल रचना नहीं हो सकेगी। जैसाकि हमने पीछे स्पष्ट किया है, गुण भाषा-शैली की प्रारम्भिक योग्यता को सूचित करते हैं, जिसके अभाव में किसी भी प्रकार की रचना सफल नहीं हो सकती। काव्य में ही नहीं, भाषा के माध्यम से रची जाने वाली प्रत्येक रचना में—चाहे वह साहित्यिक हो या शास्त्रीय—गुणों की नित्यता अपेक्षित है।

६.६. गुणों का लक्ष्य —

गुणों का काव्य में क्या लक्ष्य है—इस सम्बन्ध में मुख्यतः दो मत प्रचलित हैं। जो विद्वान् गुणों को अधिक महत्त्व नहीं देते वे इन्हें केवल काव्य के उत्कर्ष-साधक मात्र मानते हैं जबकि दूसरे पक्ष के विद्वान् इन्हें 'शोभाकारक' सिद्ध करते हुए काव्य की आत्मा घोषित करते हैं। हमारे विचार से ये दोनों ही मत गुणों के सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं। गुणों को उत्कर्ष-साधक मानने का अर्थ यह हुआ कि गुणों के अभाव में भी काव्य-रचना हो सकती है, केवल उसकी उत्कृष्टता में अन्तर पड़ेगा, किन्तु वस्तु-स्थिति यह नहीं है। यदि ऐसा ही होता तो गुणों का काव्य से नित्य या स्थिर सम्बन्ध मानने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जब गुणों का होना प्रत्येक स्थिति में आवश्यक ही है, तो उत्कर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, इतना अवश्य है कि गुणों की मात्रा न्यून होने पर भी किसी रचना को 'काव्य' संज्ञा दी जा सकती है, पर उस स्थिति में उसे सदोष या दोषपूर्ण काव्य कहा जायगा। गुणों की न्यूनता ही 'दोष' है यही कारण है कि कुछ आचार्यों ने 'दोष' के वैपरीत्य को ही गुण की संज्ञा दी है।[९] दूसरे शब्दों में गुणों के कारण काव्य में निर्दोषता का उन्मेष होता है। किन्तु निर्दोषता एवं शोभा में गहरा अन्तर है। किसी मलिन चेहरे को साबुन से साफ करके निर्मल एवं निर्दोष तो बनाया जा सकता है, किन्तु इसी से उसमें 'सुन्दरता' का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। स्वच्छता, निर्मलता एवं निर्दोषता के कारण पहले से विद्यमान सुन्दरता तो निखर सकती है, किन्तु वह नई सुन्दरता को जन्म नहीं दे सकती—यह दूसरी बात है कि अस्वच्छता, मलिनता एवं सदोषता किसी भी सुन्दरता को आच्छादित कर सकती है। अस्तु, हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुणों का लक्ष्य काव्य में स्वच्छता, स्पष्टता शुद्धता आदि का संचार करके उसे निर्दोष बनाना होता है, जिससे कि उसके (काव्य) सहज सौन्दर्य को आघात न पहुँचे, किन्तु वे स्वयं किसी प्रकार के नये सौन्दर्य का संचार नहीं कर सकते। अधिक से अधिक वे सौन्दर्य के वाहक या रक्षक तो कहे जा सकते हैं, किन्तु उसके उत्पादक या जनक नहीं माने जा सकते।

६.७. गुणों की संख्या—

यद्यपि गुणों की संख्या निश्चित करना कठिन है, फिर भी अनेक आचार्यों ने ऐसा करने का प्रयास किया है। भारतीय आचार्यों में सर्वप्रथम भरतमुनि ने निम्नांकित दस गुण निश्चित किये थे—(१) श्लेष, (२) प्रसाद, (३) समता, (४) समाधि, माधुर्य, (६) ओज, (७) सौकुमार्य, (८) अर्थ-व्यक्ति, (९) उदात्त, (१०) कान्ति[१०]। इन सभी गुणों को हम स्थूल रूप से चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

---

९. हि० का० सू० वृ०, पृ० ८२।
१०. हि० का० स० व०, पृ० ६७।

(१) अर्थ की स्पष्टता से सम्बन्धित—प्रसाद, सौकुमार्य, और अर्थ-व्यक्ति।
(२) अर्थ की प्रभावोत्पादकता से सम्बन्धित—ओज और उदात्त।
(३) अर्थ के माधुर्य से सम्बन्धित—श्लेष, समता, माधुर्य और कान्ति।
(४) अर्थ की संक्षिप्तता से सम्बन्धित—समास।

वस्तुतः उपर्युक्त दस गुणों का प्रतिनिधित्व तीन-चार गुणों से ही हो सकता है, इसी सत्य का अनुभव करते हुए आनन्दवर्द्धन, मम्मट, विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने गुणों की संख्या केवल तीन—प्रसाद, माधुर्य, और ओज—तक ही सीमित करदी थी। दूसरी ओर विस्तारवादियों ने इनकी संख्या में असाधारण वृद्धि का भी प्रयास किया किन्तु उन्हें विद्वानों द्वारा मान्यता नहीं मिली।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी गुणों की संख्या के सम्बन्ध में इसी प्रकार के प्रयास होते रहे हैं। आचार्य अरस्तू ने प्रारम्भ में मुख्यतः दो गुणों—औचित्य एवं स्पष्टता का उल्लेख किया, जबकि परवर्ती आचार्यों ने इनके अतिरिक्त सामंजस्य, समास, सजीवता, उदात्तता, शक्ति, शोभा, सुकुमारता, प्रवहणशीलता, मसृणता, अलंकृति, कान्ति, सरलता, श्रुति-माधुर्य आदि गुणों की भी चर्चा की[११]।

बीसवीं शताब्दी के आचार्यों में से श्री एफ० एल० ल्युकस महोदय का प्रयास बहुत महत्त्वपूर्ण है।[१२] उन्होंने अपने 'शैली' ग्रंथ में निम्नांकित गुणों की व्याख्या की है—स्पष्टता, संक्षिप्तता, विविधता, सरलता, व्यंग्यात्मकता, मधुरता, शुद्धता, शक्तिमत्ता, अलंकृति आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुणों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य का अभाव है। हम किन तत्त्वों को गुण रूप में स्वीकार करें और किन्हें नहीं—यह हमारे सामने समस्या है।

गुणों की संख्या निश्चित करते समय हमें गुण के पूर्वोक्त दो लक्षणों का पूरा ध्यान रखना चाहिए। एक तो यह कि गुण का काव्य से नित्य सम्बन्ध है—अर्थात् प्रत्येक रचना में उनका अस्तित्व अनिवार्य है। दूसरे गुण भाषा-शैली की प्रारंभिक योग्यता के ही सूचक हैं, उनका लक्ष्य सौन्दर्य-उत्पादन करना नहीं है। सौन्दर्य-सम्बन्धी तत्त्वों की गणना अलंकारों में होनी चाहिए, अन्यथा अलंकार और गुण में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। इन बातों को ध्यान में रखने पर उपर्युक्त सूचियों में से केवल तीन ही गुणों की श्रेणी में आते हैं—(१) शुद्धता (२) स्पष्टता (३) संक्षिप्तता। ये ही तीन गुण ऐसे हैं जिनकी अपेक्षा प्रत्येक प्रकार की काव्य-रचना में की जा सकती है तथा जिनका काव्य से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है। अनेक भारतीय आचार्यों ने स्पष्टता (प्रसाद) के अतिरिक्त ओज और माधुर्य को भी गुण माना किन्तु स्वयं उन्हीं के मतानुसार दोनों गुण दो भिन्न प्रकार की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं, अर्थात् वीररस की रचनाओं में ओज गुण मिलता है जबकि शृंगार रस की रचनाओं

११. हिन्दी काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति : सं० डा० नगेन्द्र, पृ० १००।
12. Style : F. L. Lucas, Page 50.

में माधुर्य। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन दो गुणों का सम्बन्ध कुछ रचनाओं से नित्य रहता है और कुछ से अनित्य। दूसरे, इस स्थिति में वे भाषा-शैली के सामान्य गुण न रहकर विषय-सापेक्ष या रस-सापेक्ष सिद्ध होते हैं। ये दोनों ही तथ्य इन्हें गुण मानने के विपक्ष में पड़ते हैं। साथ ही यह भी उल्लेनीय है कि ओज और माधुर्य के जो उदाहरण दिये गये हैं वे मूलतः अनुप्रासादि शब्दालंकारों से युक्त हैं; ऐसी स्थिति में उन्हें शब्दालंकार के उदाहरण मानें या गुण के—इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। 'माधुर्य' शब्द इतना व्यापक है कि उसमें सौन्दर्य-उत्पादक अलंकारादि सभी तत्त्वों को समाविष्ट किया जा सकता है—ऐसी स्थिति में 'गुण' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक करना पड़ेगा। वस्तुतः रीतिवादियों ने गुण को ही काव्य की आत्मा सिद्ध करने के लिए उसके इतने व्यापक स्वरूप की कल्पना की, किन्तु उन्हें अपने प्रयास में सफलता नहीं मिली। गुण की इस व्यापक कल्पना में रस, अलंकार आदि की भिन्न सत्ता के लिए कोई क्षेत्र नहीं रह जाता, अतः उन्हें भी गुण से अभिन्न माना जाना चाहिए था, किन्तु रीतिवादियों ने अलंकारादि को गुण से भिन्न मानकर, अपने ही प्रयास को असंगत बना दिया। उनका यह तर्क कि गुण का काव्य से नित्य सम्बन्ध है और अलंकार का अनित्य—स्वतोव्याघात दोष से युक्त है क्योंकि उनके द्वारा परिगणित गुणों में से अधिकांश का काव्य से अनित्य सम्बन्ध है। दस गुणों में से केवल एक गुण वाली गौड़ी को भी काव्य मान लेना इस बात का प्रमाण है कि शेष नौ गुण सभी प्रकार के काव्यों में आवश्यक नहीं है, वे नित्य-धर्मा नहीं है।

उपर्युक्त तर्क पाश्चात्य आचार्यों द्वारा परिगणित गुणों में से भी अधिकांश पर लागू होते हैं। सजीवता, उदात्तता, शोभा, मसृणता, अलंकृति आदि में से कुछ तो अस्पष्ट हैं (जैसे, शोभा) और शेष काव्य-शैली के सामान्य एवं स्थायी धर्म न होकर, विशिष्ट प्रवृत्तियाँ मात्र हैं, जिनका विकास विषय एवं शैली की विशिष्टता के आधार पर होता है। इस प्रकार 'व्यंग्यात्मकता' का सम्बन्ध भी गुणों की अपेक्षा काव्य की व्यंजना-शक्ति से अधिक है। अस्तु, इन्हें गुण स्वीकार करने पर हमें गुण के स्वरूप एवं क्षेत्र को इतना अधिक व्यापक एवं विस्तृत कर लेना पड़ेगा कि उसमें ध्वनि, अलंकार, रस आदि सभी सिद्धान्तों को गुण के अन्तर्गत ही स्थान दिया जा सके या फिर अन्य सिद्धान्तों की सत्ता को ही अस्वीकार करना होगा। हमारी दृष्टि से ये दोनों ही बातें उचित नहीं हैं। अतः अधिक अच्छा यही होगा कि हम गुणों का क्षेत्र केवल शुद्धता, स्पष्टता एवं संक्षिप्तता—इन तीन सामान्य विशेषताओं तक ही सीमित रक्खें।

९.८. गुणों के प्रतिरूप—दोष

अनेक प्राचीन आचार्यों ने शैली की विशिष्टता के अन्तर्गत 'दोषों' या 'काव्य-दोषों' की चर्चा की है। इन दोषों में से कुछ तो ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध शैली से न होकर काव्य की विषय-वस्तु से है, (जैसे, रस-दोष) जिनकी चर्चा

यहाँ अपेक्षित नहीं। शेष दोष शैली सम्बन्धी हैं। यद्यपि प्रारंभ में आचार्य भरतमुनि ने गुणों को दोषों का वैपरीत्य मानकर दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट कर दिया था किन्तु परवर्ती आचार्यों ने इनकी चर्चा जिस ढंग से की है उससे यह भ्रम हो जाना स्वाभाविक है कि ये दोनों परस्पर असम्बद्ध तत्त्व हैं। वस्तुतः गुण और दोष अलग-अलग तत्त्व न होकर एक ही तत्त्व या योग्यता के भाव और अभाव को सूचित करते हैं। जिस प्रकार 'फीकी चाय' और "मीठी चाय" में फीकापन और मीठापन दो भिन्न तत्त्वों को सूचित नहीं करते अपितु एक ही गुण की न्यूनता एवं अधिकता या अविद्यमानता एवं विद्यमानता को सूचित करते हैं, उसी प्रकार दोषों का अभाव ही गुण है या गुण का अभाव ही दोष है। ऐसी स्थिति में गुणों के समकक्ष ही दोषों की कल्पना उचित होगी।

जिस प्रकार संतुलित दृष्टि से देखने पर गुणों का समन्वय तीन भेदों—शुद्धता स्पष्टता एवं संक्षिप्तता—में हो जाता है, वैसे ही शैलीगत दोषों का समन्वय भी अशुद्धता, अस्पष्टता एवं शिथिलता में हो जाता है; उदाहरण के लिए भरतमुनि द्वारा परिगणित दस दोषों का विश्लेषण एवं वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।

(क) अशुद्धता या अनौचित्य

१. विषम (छन्द की अशुद्धि)
२. विसन्धि (संधि की अशुद्धि)
३. शब्दहीन (अपशब्द या अनुचित शब्द)
४. न्यायापेत (तर्क या प्रमाण रहित)

(ख) अस्पष्टता पर आधारित दोष

१. गूढ़ार्थ (अर्थ की जटिलता)
२. अर्थान्तर (अर्थ का अन्तरण)
३. अर्थ-हीन (अर्थ की हीनता)
४. भिन्नार्थ (भ्रमोत्पादक अर्थ)
५. एकार्थ (अनेक अर्थ के स्थान पर एक अर्थ)
६. अभिप्लुतार्थ (अर्थ की संक्षेप में पूर्णता)

उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि भरतमुनि द्वारा उल्लिखित सभी दोष या तो **अनौचित्य** पर आधारित हैं या अर्थ की **अस्पष्टता** पर। आगे चलकर भामह, दंडी वामन प्रभृति भारतीय आचार्यों ने भी दोषों की चर्चा की है, किन्तु इनमें सर्वाधिक व्यवस्थित एवं प्रौढ़ प्रयास आचार्य वामन का है।[१३] उन्होंने निम्नांकित चार वर्गों में बीस दोषों की गणना की—

---

१३. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति : द्वितीय अधिकरण।

(१) **पद-दोष**—

१. असाधु (व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध)
२. कष्ट (कर्ण-कटु)
३ ग्राम्य (ग्रामीण या अशिष्ट प्रयोग)
४. अप्रतीत (अप्रचलित प्रयोग)
५. अनर्थक (निरर्थक या अनावश्यक)

(२) **पदार्थ दोष**—

६. अन्यार्थ (शब्द का रूढ़ि च्युत अर्थ में प्रयोग)
७. नेयार्थ (कष्ट-कल्पना पर आधारित अर्थ)
८. गूढ़ार्थ (अप्रसिद्धार्थ)
९. क्लिष्ट (दूरारूढ़ अर्थ)
१०. अश्लील

(३) **वाक्य-दोष**—

११. भिन्न-वृत्ति (वृत्ति-भेद)
१२. यतिभ्रष्टि
१३. विसंधि (संधि-दोष)

(४) **वाक्यार्थ दोष**—

१४. व्यर्थ (पूर्वापर विरोधी)
१५. एकार्थ (निष्प्रयोजन आवृत्ति)
१६. संदिग्ध
१७. अप्रयुक्त
१८. अपक्रम (अर्थ में क्रम का अभाव)
१९. अलोक (लोक-विरुद्ध प्रयोग)
२०. विद्या-विरुद्ध (शास्त्र-विरुद्ध)

उपर्युक्त बीस दोषों का समन्वय भी पूर्व निर्धारित तीन दोषों में भली भाँति हो जाता है—

अनौचित्य	अस्पष्टता	शिथिलता
१. असाधु (१)	८. अप्रतीत (४)	१५. अलोक (१९)
२. ग्राम्य (३)	९. अन्यार्थ (६)	१६. अनर्थक (५)
३. अश्लील (१०)	१०. नेयार्थ (७)	१७. व्यर्थ (१४)
४. यतिभ्रष्ट (१२)	११. गूढ़ार्थ (८)	१८. एकार्थ (१५)
५. विसंधि (१३)	१२. क्लिष्ट (९)	
६. अपक्रम (१८)	१३. संदिग्ध (१६)	
७. विद्याविरुद्ध (२०)	१४. अप्रयुक्त (१७)	

उपर्युक्त तीनों सूचियों में १८ दोष आ जाते हैं, शेष दो दोष—कष्ट (कर्ण-कटु) एवं भिन्नवृत्ति—केवल माधुर्य के अभाव को सूचित करते हैं, अतः उन्हें दोष नहीं कहा जा सकता।

आचार्य वामन के अनन्तर कई आचार्यों ने रस-दोषों की भी कल्पना की—किन्तु जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, इनका सम्बन्ध शैली से न होकर विषय-वस्तु से है, अतः इनकी चर्चा अन्यत्र की जायगी।

पाश्चात्य आचार्यों ने दोषों की चर्चा अधिक विस्तार से नहीं की, फिर भी दोष सम्बन्धी उपर्युक्त धारणायें पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी मिलती हैं। आचार्य अरस्तू ने चार दोषों की व्याख्या की है, जो ये हैं—(१) समासों का अधिक प्रयोग (२) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग (३) दीर्घ एवं अनुपयुक्त विशेषणों का प्रयोग (३) दूरारूढ़ अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग।[१४] इनमें से प्रथम दो को अस्पष्टता में तथा शेष दो को अनौचित्य में समन्वित किया जा सकता है। आगे चलकर होरेस, डायोनीसियस, डिमैट्रियस, क्विन्टीलियन, दाँते, बैनजान्सन, पोप आदि विद्वानों ने भी शैली के दोषों या दोषपूर्ण शैलियों पर प्रकाश डालते हुए कृत्रिमता, शिथिलता, अनुपयुक्तता, आडम्बर युक्तता, शुष्कता, प्रवाहहीनता, जटिलता आदि की चर्चा की।[१५] इनमें से कृत्रिमता, अनुपयुक्तता, आडम्बरयुक्तता का सम्बन्ध अनौचित्य या अस्वाभाविकता से है जबकि जटिलता, का अस्पष्टता से तथा शेष का शिथिलता से सम्बन्ध है। अतः उपर्युक्त तीन दोषों में भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के सभी प्रमुख शैलीगत दोषों का प्रतिनिधित्व हो जाता है।

६.६. निष्कर्ष—

अस्तु, उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निम्नांकित निष्कर्षों की उपलब्धि होती है—(१) गुण भाषा-शैली के सामान्य तत्त्व हैं जिनका सम्बन्ध शास्त्रीय, वैज्ञानिक एवं साहित्यिक तीनों प्रकार की रचनाओं से है। (२) गुणों का सम्बन्ध रचना के किसी एक अंग या एक पक्ष से नहीं होता, अपितु वे सारी रचना में समान्य रूप से व्याप्त होते हैं। (३) गुण रचना को निर्दोष एवं सुपाठ्य बनाने में सहायक होते हैं, या वे सौन्दर्य के रक्षक मात्र हैं, उसके जनक या उत्पादक नहीं। (४) गुणों के केवल तीन भेद—शुद्धता, स्पष्टता एवं संक्षिप्तता—ही स्वीकार्य हैं, शेष का समन्वय इन्हीं में हो जाता है (५) गुणों का अभाव ही दोष है तथा सभी दोषों का समन्वय अनौचित्य (अशुद्धता), अस्पष्टता और शिथिलता में हो जाता है।

उपर्युक्त निष्कर्षों के आधार पर कहा जा सकता है कि गुण शैली के सामान्य तत्त्व हैं जिनका सम्बन्ध साहित्य और विज्ञान—दोनों से है।

●

१४-१५. हिन्दी काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति : डा० नगेन्द्र, पृ० ६७-१४१।

१०
शब्द-शक्तियाँ और ध्वनि

●

१०.१. सामान्य परिचय—

ध्वनि-सिद्धान्त भारतीय काव्य-शास्त्र का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसकी स्थापना 'ध्वन्यालोक' के रचियता ने लगभग आठवीं-नवीं शताब्दी में की थी। 'ध्वनि' का शाब्दिक अर्थ है—आवाज, लय, नाद आदि। इससे यह भ्रम हो सकता है कि इस सिद्धान्त का सम्बन्ध भाषा के नाद (Sound) पक्ष से होगा जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं है। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध मुख्यतः भाषा की अर्थ-शक्ति से या अर्थ-व्यक्त करने की विभिन्न विधियों से है, जिन्हें भारतीय आचार्यों ने शब्द-शक्तियों की संज्ञा दी है। ध्वनि-सिद्धान्त मुख्यतः शब्द-शक्तियों पर आधारित है, अतः इस सिद्धान्त का विवेचन करने से पूर्व हमें इन शक्तियों को भली-भाँति समझ लेना चाहिए।

(क) शब्द-शक्तियाँ

१०.२. शब्द-शक्तियाँ : सामान्य परिचय—

प्रत्येक कार्य किसी न किसी शक्ति के द्वारा संपन्न होता है—यह विज्ञान का अटल नियम है। इसी नियम के अनुसार शब्द भी अपना कार्य—अर्थ देने का कार्य जिस शक्ति के द्वारा संपादित करता है, उसे शब्द की शक्ति या शब्द-शक्ति कहा जाय तो अनुचित नहीं है। भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने भी इसी आधार पर शब्द-शक्तियों की स्थापना की है। इस 'शब्द-शक्ति' के रूप एवं स्तर-भेदों के बारे में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। सामान्यतः शब्द-शक्तियों के तीन प्रकार माने गये हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना, किन्तु इनके अतिरिक्त 'तात्पर्य' 'भावना' 'भोजक' आदि शक्तियों की भी कल्पना विभिन्न आचार्यों द्वारा हुई है। 'तात्पर्य' शक्ति को मानने वाले कतिपय आचार्य 'लक्षणा' और 'व्यंजना' के अस्तित्व का विरोध करते हैं तो दूसरी ओर व्यंजनादि के मानने वालों में से कुछ विद्वानों ने 'तात्पर्य'

शक्ति को अनावश्यक माना है। शेष दो—भावना एवं भोजक—का भी अन्तर्भाव 'व्यंजना' में ही कर लिया गया है। इस प्रकार शब्द-शक्तियों के प्रमुख भेद तीन—१. अभिधा २. लक्षणा ३. व्यंजना—ही स्वीकार किये गये हैं। इनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जाता है।

१०.३. शब्द-शक्तियों के वर्गीकरण का आधार—

सामान्यतः शब्दों का किसी एक निश्चित अर्थ में प्रयोग होता है, जिसे हम 'सामान्य अर्थ' कह सकते हैं; किन्तु कई बार वक्ता की विशेष मानसिक परिस्थितियाँ के प्रभाव से या अन्य कई कारणों से शब्दों का सामान्य प्रचलित अर्थ में प्रयोग न होकर किसी विशिष्ट अर्थ में होता है। यह विशिष्ट अर्थ कई बार मूल अर्थ से ही सम्बन्धित होता है जबकि कई बार उससे सर्वथा असम्बद्ध भी होता है।' इस प्रकार शब्दों का या भाषा का प्रयोग तीन प्रकार के अर्थों में माना जा सकता है—सामान्य अर्थ, सामान्य से सम्बद्ध विशिष्ट अर्थ और सामान्य से असम्बद्ध या अतिरिक्त विशिष्ट अर्थ—इन्हीं तीनों अर्थों को भारतीय आचार्यों ने क्रमशः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का नाम दिया है तथा इन्हें द्योतित करने वाली शक्तियों को क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का नाम दिया गया है। इनके अतिरिक्त एक चौथी शक्ति तात्पर्य भी मानी गई है, जिसका सम्बन्ध विभिन्न अर्थों में से अन्तिम प्रतिपाद्य अर्थ से होता है तथा इसके अन्तर्गत लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों प्रकार के अर्थ समाविष्ट हो जाते हैं। जहाँ अभिधा का सम्बन्ध प्रत्येक शब्द के अलग-अलग अर्थों से माना गया है वहाँ तात्पर्य शक्ति में पूरे वाक्य के अर्थ को ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार शब्द-शक्तियों के वर्गीकरण के मुख्यतः निम्नांकित तीन आधार हैं —

(१) अर्थ की सामान्यता या विशिष्टता।

(२) सामान्य (वाच्यार्थ) और विशिष्ट अर्थ (लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ) का पारस्परिक सम्बन्ध।

(३) अर्थ के क्षेत्र (शब्द या वाक्य या प्रसंग) की व्यापकता।

उपर्युक्त आधारों को ध्यान में रखते हुए हम आगे प्रत्येक शक्ति के स्वरूप का आख्यान पृथक-पृथक रूप में करेंगे।

१०.४. अभिधा शक्ति : परिभाषा—

अभिधा की परिभाषा करते हुए विभिन्न विद्वानों ने इसे 'शब्द के मुख्य अर्थ का बोध (संकेत-ग्रह) कराने वाली शक्ति' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)[1] या 'साक्षात्

---

१. रस-मीमांसा : रामचंद्र शुक्ल, पृ० ३७१।

संकेतित अर्थ का बोधक व्यापार' (पं० रामदहिन मिश्र)[२] अथवा 'शब्द के साक्षात्-संकेतित अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति' (डा० भोलाशंकर व्यास)[३] कहा है। इन तीनों परिभाषाओं में इस शक्ति का सम्बन्ध क्रमशः शब्द के मुख्य अर्थ, एवं साक्षात्संकेतित अर्थ से माना गया है। इन परिभाषाओं से यहाँ तीन धारणाएँ व्यक्त होती हैं—(१) 'मुख्य अर्थ' के उल्लेख से प्रतीत होता है कि शब्द में मुख्य अर्थ के अतिरिक्त कोई गौण अर्थ भी रहता है। (२) 'साक्षात् संकेतित अर्थ' से लगता है कि शब्द असाक्षात् या अप्रत्यक्ष रूप में किसी अन्य अर्थ का भी संकेत करता है। (३) 'संकेतित' के पीछे यह धारणा व्यक्त होती है कि शब्द अर्थ का संकेत मात्र है, वह स्वयं अर्थ नहीं है।

हमारे विचार से उपर्युक्त तीनों धारणाएँ महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में उनका उल्लेख अनपेक्षित है। जब तक कोई शब्द किसी विशेष वाक्य एवं प्रसंग के अंग के रूप में संगठित नहीं होता, तब तक उसके सामान्य प्रचलित अर्थ का ही बोध होता है; जो कि शब्द-कोषों में दिया हुआ होता है (कुछ श्लिष्ट पदों को छोड़कर)। केवल वाक्य-योजना या प्रसंग-विशेष के कारण से शब्दों का मुख्य अर्थ परिवर्तित या विकसित होता है, अन्यथा नहीं—अतः जहाँ तक शब्दार्थ का सम्बन्ध है; मुख्य और गौण अर्थ का प्रश्न उठाना ही यहाँ अप्रासंगिक और अनावश्यक है। इस प्रकार शब्द से सामान्य रूप में प्रत्यक्ष अर्थ का ही बोध होता है—अप्रत्यक्ष अर्थ की सत्ता केवल विशेष प्रसंग में ही उद्भत होती है, अतः 'साक्षात्' का प्रयोग भी यहाँ परिभाषा में अनावश्यक है। शब्द का अर्थ से क्या सम्बन्ध है—इस प्रश्न पर भी विभिन्न विचारक एक मत नहीं है; कुछ लोग शब्द को अर्थ का संकेत मानते हैं, कुछ उसे प्रतीक तथा कुछ उसे उसका बिम्ब मानते हैं। जतः 'संकेतित' का प्रयोग भी यहाँ विवादास्पद सिद्ध होगा। अस्तु, उपर्युक्त तीनों धारणाएँ मूल परिभाषा को स्पष्ट, निश्चित एवं प्रामाणिक रूप देने में बाधक सिद्ध होती हैं। अतः इन धारणाओं से बचते हुए इस परिभाषा को निम्नांकित रूप दिया जा सकता है—

"भाषा की जिस शक्ति से शब्द के सामान्य प्रचलित अर्थ का बोध होता है, वह अभिधा-शक्ति कही जाती है।"

उपर्युक्त परिभाषा में 'मुख्य संकेतित अर्थ' के स्थान पर 'सामान्य प्रचलित अर्थ' तथा 'संकेतित' के स्थान पर 'बोध' का प्रयोग किया गया है जो मूल शब्दों की भाँति विवादास्पद एवं अनिश्चित नहीं हैं। अतः यह परिभाषा परंपरागत परिभाषाओं से अधिक उपयुक्त सिद्ध होगी—ऐसी आशा की जा सकती है।

---

२. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० २०।
३. ध्वनि-संप्रदाय और उसके सिद्धान्त : डॉ० भोलाशंकर व्यास, पृ० ६६।

१०.६. अभिधा के तीन अवयव—

अभिधा के द्वारा जिन शब्दों का अर्थ-बोध होता है, उन्हें 'वाचक' शब्द कहते हैं। ये वाचक शब्द भी भारतीय आचार्यों के द्वारा तीन प्रकार के माने गये हैं[४]—(१) रूढ़ शब्द—जिनकी व्युत्पत्ति नहीं की जा सकती। जैसे पेड़, घोड़ा, घड़ा आदि। (२) यौगिक शब्द—जहाँ दो अवयवों (प्रकृति और प्रत्यक्ष) का योग होता है। जैसे—दो अवयवों (प्रकृति और प्रत्यय) का योग होता है। जैसे—भूपति (भू + पति), पाठशाला (पाठ + शाला) आदि। (३) योगरूढ—जिनमें उपर्युक्त रूढि और योग—दोनों प्रकार के सम्बन्धों का समन्वय हो ; जैसे—गणनायक (गणेश); मृगनयनी। वस्तुतः अवयवों का उपर्युक्त वर्गीकरण अभिधा के तीन स्रोतों का निर्देश करता है। किसी भी शब्द का वाच्यार्थ हम या तो पूर्वजों से सीख कर (परंपरा या रूढि से) या उनके घटक तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्ध से अथवा प्रथम दोनों के समन्वित आधारों से ग्रहण करते हैं।

१०.६. अभिधा के सहयोगी एवं प्रेरक तत्त्व—

प्राचीन आचार्यों ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध-ज्ञान के आठ कारण निर्धारित किये हैं, जिन्हें हम अभिधा के सहयोगी एवं प्रेरक तत्त्वों के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।[५] वे ये हैं—

(१) व्याकरण (२) उपमान या सादृश्य (३) कोष (४) आप्त-वाक्य (५) व्यहार (६) अन्य प्रसिद्ध पद का सान्निध्य (७) शेष वाक्य (८) विवरण या टीका के अनुसार।

यदि उर्युक्त तत्त्वों का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि इनमें से अधिकांश तत्त्व परंपरा से ही सम्बद्ध है—अर्थात् इनमें किसी प्रकार की मौलिकता या नवीनता के लिए बहुत कम स्थान है। उदाहरण के लिए, व्याकरण, कोष, आप्त वाक्य, विवरण या टीका—ये सभी तत्त्व परंपरा से सम्बद्ध हैं। उपमान या सादृश्य, व्यवहार एवं अन्य प्रसिद्ध पद का सान्निध्य—इन तत्त्वों में अवश्य थोड़ी बहुत नवीनता का गुंजाइश हैं, फिर भी ये प्रयोक्ता को अर्थ की पूरी स्वच्छन्दता प्रदान नहीं करते। उपमान उपमेय से, व्यवहार प्रतिपक्षी से, तथा सान्निध्य अन्य प्रसिद्ध पद से बँधा रहता है—अतः वाच्यार्थ के प्रयोग में प्रयोक्ता स्वेच्छा के अनुसार नहीं चल सकता। संक्षेप में, अभिधा शक्ति में अर्थ पर परंपरा का बहुत अधिक नियंत्रण रहता है।

---

४. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० २०।
५. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० १९।

१०.७. लक्षणा शक्ति : परिभाषा—

प्राचीन आचार्यों ने लक्षणा की परिभाषा सामान्यत: इस प्रकार की है—"मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढि या प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो उसे 'लक्षणा' कहते हैं।"[६] इस परिभाषा के विश्लेषण से लक्षणा शक्ति की तीन विशेषताएँ सूचित होती हैं—

(१) लक्षणा शक्ति में शब्द के वाच्यार्थ या मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित हो जाती है या वाच्यार्थ वहाँ अपने प्रचलित अर्थ में प्रस्तुत नहीं रहता—परिवर्तित हो जाता है।

(२) लक्षणा से प्राप्त लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से सम्बन्धित होता है अर्थात् दोनों में में कोई न कोई सम्बन्ध बना रहता है।

(३) लक्षणा शक्ति के पीछे किसी विशेष रूढ़ि या वक्ता के किसी विशेष प्रयोजन की प्रेरणा अवश्य रहती है।

लक्षणा के उपर्युक्त तीनों लक्षणों को प्राय: सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है किन्तु किसी ने यह स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया कि इन विशेषताओं का आधार-भूत कारण क्या है—अर्थात् लक्षणा में मुख्यार्थ की बाधा क्यों उपस्थित होती है? उसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध क्यों बना रहता है? और उसके पीछे रूढि या प्रयोजन की प्रेरणा क्यों रहती है? लक्षणा के स्वरूप को समझने के लिए इन प्रश्नों पर विचार करना अपेक्षित है।

१०.८. लक्षणा में मुख्यार्थ की बाधा क्यों?—

इस प्रश्न का हल खोजने के लिए हमें सबसे पूर्व लक्षणा के कुछ प्रमुख प्रतिनिधि उदाहरणों[७] पर विचार करना चाहिए—

(क) **पंजाब** लड़ाका है। (रूढि लक्षणा)

(ख) तुम्हारा नौकर बिल्कुल **गधा** है। (गौणी प्रयोजनवती)

(ग) सारा **रनिवास** रो रहा है। (शुद्धा प्रयोजनवती)

(घ) घी ही **जीवन** है। (शुद्धा प्रयोजनवती)

(ङ) राखी है पर **कलाई** नहीं। (उपादान लक्षणा)

उपर्युक्त उदाहणों के रेखांकित शब्दों—पंजाब, गधा, रनिवास, जीवन, कलाई—के वाच्यार्थ में बाधा उपस्थित होती है क्योंकि शेष वाक्य के अर्थ के साथ उसकी संगति नहीं बैठती। 'पंजाब' एक भौगोलिक प्रदेश का नाम है अत: वह लड़ाका कैसे हो सकता है या आदमी गधा कैसे हो सकता है, अथवा रनिवास (महल) रुदन

---

६. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० २१।

७. वही, पृ० २०-२५।

कैसे कर सकता है—अतः इन सभी प्रयोगों में शब्द विशेष के वाच्यार्थ की शेष वाक्य के अर्थ से असंगति होने के कारण इन्हें नये अर्थ में ग्रहण करना पड़ता है। वे नये अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—(क) पंजाब=पंजाब के लोग (ख) गधा=गधे जैसी बुद्धि वाला (ग) रनिवास=रनिवास में रहने वाले लोग (घ) जीवन=जीवन को बल देने वाला (ङ) कलाई=कलाई वाला व्यक्ति। यदि उपर्युक्त शब्दों (पंजाब, गधा आदि) की उनके अर्थ से तुलना करें तो यह तथ्य विदित होगा कि उनमें अर्थ-बोधक कुछ शब्दों की न्यूनता है अर्थात् 'पंजाब के लोग' के स्थान पर 'पंजाब' का या 'रनिवास के लोगों' के स्थान पर केवल 'रनिवास' का प्रयोग कर दिया गया है। यदि हम इन छोड़े गये शब्दों को इन वाक्यों मे जोड़ दें तो इनका अर्थ वही रहेगा, किन्तु इनकी लाक्षणिकता लुप्त हो जायगी। देखिये—

(क) पंजाब के **लोग** लड़ाकू हैं।

(ख) तुम्हारा नौकर बिल्कुल गधे **जैसा** है।

(ग) रनिवास के सारे **लोग** रो रहे हैं।

(घ) घी ही जीवन **का पोषक** है।

(ङ) राखी है पर कलाई **वाला** (भाई) नहीं है।

इन वाक्यों का अर्थ वही है किन्तु विशिष्ट शब्दों के जोड़ देने के कारण ये लाक्षणिक न रहकर अभिधात्मक बन गये हैं और साथ ही इनके अर्थ में सन्निहित विशेष चमत्कार का भी लोप हो गया है। अस्तु लक्षणा में कुछ शब्दों या शब्दांशों की न्यूनता के कारण ही मुख्यार्थ की संगति नहीं बैठती—इस न्यूनता या रिक्तता की पूर्त्ति श्रोता को अनुमान या कल्पना के बल पर करनी पड़ती है और इस अनुमान या कल्पना के कारण ही अर्थ में चामत्कारिकता आती है।

१०.६. लक्ष्यार्थ का वाच्यार्थ से सम्बन्ध—

लक्षणा की दूसरी विशेषता वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ की सुसम्बद्धता है। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है लक्षणा शक्ति के द्वारा मूल अर्थ से किसी सर्वथा भिन्न अर्थ का प्रकाशन नहीं होता अपितु मूल अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए संक्षिप्त शब्दावली का प्रयोग होता है या यों कहिए कि लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ की ही सूचना न्यून शब्दों में दी जाती है—अतः सूच्य और सूचक में परस्पर सम्बन्ध बना रहता है। लक्षणा द्वारा द्योतित अर्थ को लक्ष्यार्थ का नाम दे देने से यह भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि वह वाच्यार्थ से भिन्न है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ का ही पल्लवित एवं विकसित रूप होता है, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है। अतः दोनों एक ही अर्थ की दो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के—अविकसित एवं विकसित अवस्थाओं के द्योतक माने जा सकते हैं।

१०.१०. लक्षणा के पीछे रूढि या विशेष प्रयोजन की प्रेरणा—

भाषा में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द के पीछे कोई न कोई अर्थ या प्रयोजन निहित रहता है—अतः प्रत्येक प्रकार की अर्थ-शक्ति के पीछे किसी न किसी प्रयोजन की सत्ता स्वीकार की जानी चाहिए। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि लक्षणा के पीछे रूढि और विशेष प्रयोजन की सत्ता का उल्लेख विशेष रूप से क्यों किया गया है ?

जैसा कि लक्षणा के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है—लक्षणा में विस्तृत आशय को संक्षिप्त शब्दावली या सांकेतिक शब्दावली में व्यक्त किया जाता है। यह सांकेतक शब्दावली भी दो प्रकार की मानी जा सकती हैं—एक जो परम्परा से प्राप्त हो या जिसका प्रयोग रूढ हो चुका हो ; जैसे, 'मृत' के लिए 'स्वर्गीय' का प्रयोग होता है। दूसरे प्रकार की सांकेतिक शब्दावली वह है जिसमें व्यक्ति भाव की प्रेरणा से नया प्रयोग करता है तथा इस प्रयोग का लक्ष्य केवल अर्थ को सूचित करना ही नहीं; अपितु सम्बन्धित अर्थ पर विशेष बल देना होता है। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं—'घी ही जीवन है,' तो यहाँ हमारा लक्ष्य घी के पोषक तत्त्वों पर विशेष बल देना होगा। अस्तु, जहाँ रूढ प्रयोगों में वक्ता का लक्ष्य अर्थ पर विशेष बल देना नहीं होता, वहाँ नवीन प्रयोगों में वक्ता जान-बूझ कर विशेष प्रभावोत्पादन के लिए सांकेतिक शब्दावली का प्रयोग करता है। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि रूढ प्रयोग विशेष बल के अभाव में चमत्कार-शून्य होते हैं तथा वे प्रभाव की दृष्टि से अभिधा की कोटि में आ जाते हैं जबकि नवीन प्रयोग चमत्कार युक्त होते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि आचार्यों ने रूढ और नवीन—दोनों प्रकार के प्रयोगों को लक्षणा में स्थान दिया है। हमारे विचार से प्रयोग-रूढि के कारण अभिधा-शक्ति का विकास होता है—परंपरा से प्राप्त सारा शब्द-कोष रूढि के द्वारा ही विकसित है, तथा इस शब्द-कोष को अभिधावाची ही माना जाता है, अतः रूढ़ि से प्रेरित प्रयोगों को लक्षणा में स्थान देना उचित प्रतीत नहीं होता।

१०.११. लक्षणा के भेदोपभेद—

लक्षणा शक्ति के सबसे पूर्व दो भेद किये गये हैं—(१) रूढ़ि लक्षणा और (२) प्रयोजनवती। रूढ़ि लक्षणा के पीछे रूढ़ि की प्रेरणा होती है जबकि प्रयोजनवती में प्रयोक्ता का विशेष प्रयोजन होता है। हमारी भाषा में बहुत से प्रयोग ऐसे हैं जो धीरे-धीरे एक अर्थ से दूसरे अर्थ में परिवर्तित या प्रचलित होते रहते हैं। जब किसी शब्द का अन्य अर्थ या नया अर्थ इतना प्रचलित हो जाता है कि उसका व्यवहार सामान्य रूप से होने लगता है तो उस स्थिति में उसका यह नया अर्थ लक्ष्यार्थ न होकर वाच्यार्थ ही हो जाता है। उदाहरण के लिए 'गवेषणा' (गौ की खोज) 'पद्धति' (पद् + हति) 'स्वर्गीय' (स्वर्गवासी) आदि शब्दों में अर्थ का परिवर्तन हुआ है जिन्हें

प्राचीन आचार्यों के मत से रूढि लक्षणा के उदाहरणों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जबकि हमारे विचार से ये अभिधा के उदाहरण हैं क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग करते समय हम उस सारी प्रक्रिया में से नहीं गुजरते जो कि लक्षणा के लिए अपेक्षित है। लक्षणा के लिए पहले मुख्यार्थ का बोध तदनन्तर उसकी बाधा और उसके बाद उससे सम्बन्धित अर्थ की खोज—ये प्रक्रियाएँ अपेक्षित हैं जबकि 'गवेषणा' 'स्वर्गीय' आदि शब्दों के प्रयोग के समय हम इन प्रक्रियाओं को पार किये बिना ही सीधे सूच्य अर्थ तक पहुँच जाते हैं। वस्तुतः रूढि या परंपरा से प्रचलित चमत्कार-शून्य प्रयोग अभिधा के ही क्षेत्र में आते हैं; उन्हें लक्षणा के एक भेद के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं। पीछे अभिधा का विवेचन करते समय भी यह स्पष्ट किया जा चुका है कि परंपरा का सम्बन्ध अभिधा से है। ऐसी स्थिति में 'रूढि लक्षणा' की कल्पना अनावश्यक एवं असंगत है। संभवतः लक्षणावादियों ने क्षेत्र-विस्तार के लिए इस भेद की कल्पना की है, किन्तु इससे लक्षणा का विवेचन स्वतोव्याघात दोष से युक्त हो गया है। उदाहरण के लिए—'कर्म में कुशल' को आचार्य मम्मट रूढि लक्षणा का उदाहरण मानते हैं जबकि आचार्य शुक्ल इसका विरोध करते हैं। पं० रामदहिन मिश्र एक स्थान पर 'मुँह में ताला लगाना'—'दिल में छाले पड़ जाना'—जैसे मुहावरों को रूढि द्वारा विकसित मानकर रूढा लक्षणा में स्थान देते हैं, जबकि आगे चलकर 'पगड़ी की लाज रखना' 'फूटी कौड़ी भी नहीं'—जैसे मुहावरों को प्रयोजनवती के भेदों में रखते हैं।[८] हमारे विचार से 'दिल में छाले पड़ जाना'—में उतना ही प्रयोजन-वैशिष्ट्य है जितना कि 'पगड़ी की लाज' या 'फूटी कौड़ी' में है तथा सभी मुहावरों का रूढि से सम्बन्ध होता है—अतः कुछ को रूढि लक्षणा में रखना और कुछ को प्रयोजनवती में रखना संगत नहीं।

यहाँ एक बात और कही जा सकती है। रूढ प्रयोग भी कई बार चमत्कार युक्त होते हैं, जैसा कि उपर्युक्त मुहावरों में मिलता है—अतः यहाँ प्रश्न उठता है कि ऐसे मुहावरों को अभिधा में रक्खा जाय या लक्षणा में? इस प्रश्न का हल इस बात में निहित है कि अभिधा और लक्षणा की विभाजक रेखा क्या है? इन दोनों की दो भेदक विशेषताओं का उल्लेख पीछे हो चुका है, किन्तु उनसे यहाँ काम नहीं चलता। हमारे विचार से अभिधा और लक्षणा की भेदक एक तीसरी विशेषता और है, जिसकी ओर आचार्यों का ध्यान नहीं गया। वह विशेषता यह है कि जहाँ अभिधा का निवास अलग-अलग शब्दों में भी रहता है, वहाँ लक्षणा की उद्दीप्ति शब्द-समूहों, वाक्यांशों या वाक्यों में ही होती है। जब प्रत्येक शब्द का मूल अर्थ वाक्य-गत अर्थ के अनुकूल रहता है तो समझना चाहिए कि वहाँ अभिधा है अन्यथा वहाँ लक्षणा या व्यंजना होगी। इस सम्बन्ध में निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

---

८. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० २२-२५।

(क) मैंने **गवेषणा**-कार्य आरंभ कर दिया है।

(ख) **स्वर्गीय** पिताजी की स्मृति में।

(ग) **पगड़ी** की लाज रखना।

इन उदाहरणों में से (क) और (ख) के शब्दों के मूल अर्थ में वाक्य-योजना के कारण कोई अन्तर नहीं पड़ता जबकि उदाहरण (ग) में 'पगड़ी' का मूल अर्थ बदल कर वाक्य के अन्तर्गत 'पगड़ी वाला' बन जाता है। ध्यान रहे 'पगड़ी' शब्द को ज्योंही हम वाक्य से पृथक करते हैं त्यों ही उसका लक्ष्यार्थ लुप्त हो जाता है जबकि गवेषणा, स्वर्गीय आदि शब्दों के साथ ऐसा नहीं होता। अतः वाक्य-योजना के अन्तर्गत मूल शब्दों के अर्थ का बदलना और न बदलना ही लक्षणा और अभिधा के बीच की सीमा-रेखा है। वस्तुतः जहाँ अभिधा का क्षेत्र शब्दों में सीमित है, वहाँ लक्षणा का क्षेत्र शब्द-समूहों, वाक्य-खंडों और वाक्यों में व्याप्त है। मूल शब्द का अर्थ वाक्य के अन्तर्गत बदल जाने के कारण ही मुख्यार्थ की बाधा, तत्सम्बन्धी अन्य अर्थ की उपलब्धि और चमत्कार की उद्दीप्ति होती है। तथाकथित रूढि लक्षणा में ये बातें नहीं मिलतीं, जबकि मुहावरों एवं लोकोक्तियों में—जो कि चमत्कारयुक्त वाक्य या वाक्य-खंडों के रूप में प्रचलित होते हैं—ये मिलती हैं, अतः रूढि-लक्षणा को अस्तित्वहीन मानते हुए हम मुहावरों एवं लोकोक्तियों को लाक्षणिक प्रयोग के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रयोजनवती लक्षणा ही वास्तविक लक्षणा है। इसके भी आचार्यों ने दो भेद किये हैं[९]—(१) गौणी और (२) शुद्धा। शुद्धा के भी दो भेद-उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा—किये गये हैं।[१०] वस्तुतः ये भेद मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विभिन्न स्तर-भेदों पर आधारित हैं। चूंकि लक्षणा में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में पारस्परिक सम्बन्ध होता है, अतः इस सम्बन्ध की गहराई को नापने के लिए ही इन भेदों की कल्पना की गई है। उदाहरण के लिए गौणी लक्षणा में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच सादृश्य सम्बन्ध होता है जबकि शुद्धा में सामीप्य, आधाराधेय एवं तात्कर्म्य सम्बन्ध होते हैं। इसी प्रकार उपादान लक्षणा ओर लक्षण लक्षणा में भी यही अन्तर है कि जहाँ प्रथम में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध बना रहता है, वहाँ लक्षण लक्षणा में दोनों में सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। लक्षण-लक्षणा की यह विशेषता स्वयं लक्षणा के लक्षणों के प्रतिकूल पड़ती है, क्योंकि जहाँ लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से सम्बन्धित होता है वहीं लक्षणा या उसके किसी भेद की सत्ता स्वीकार की जा सकती है। ऐसी स्थिति में हमें या तो लक्षण लक्षणा की परिभाषा बदलनी होगी या फिर उसे लक्षणा के क्षेत्र से वहिष्कृत करना होगा। वस्तुतः लक्षण लक्षणा में वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार नहीं होता, अपितु उसका लक्ष्यार्थ से दूर का सम्बन्ध होता है। यह बात इसके निम्नांकित उदाहरणों पर भी लागू होती है :—

९-१०. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० २९-२५।

(क) पेट में आग लगी है।
(ख) मैंने चाहे कुछ इसमें विष अपना डाल दिया हो।
रस है यदि तो वह तेरे चरणों ही का जूठन है॥

उपर्युक्त उदाहरणों की व्याख्या करते हुए पं० रामदहिन मिश्र लिखते हैं—"पेट में आग लगी है—यह एक सार्थक वाक्य है। पर पेट में आग नहीं लगती। इससे अर्थ-बाध होता है। इसमें 'आग लगी है' वाक्य अपना अर्थ छोड़ देता है और लक्ष्यार्थ होता है कि 'जोर की भूख लगी है।' इसीसे लक्षण लक्षणा है।"[११] इसी प्रकार दूसरे उदाहरण के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"चरणों ही का जूठन' कहने में भी अर्थ-बाधा है। लक्ष्यार्थ होता है—आपके निकट रहने से ही, आपके संसर्ग से ही, अच्छी वस्तु प्राप्त हुई है। यहाँ 'चरणों का जूठन' अपना अर्थ बिल्कुल छोड़ देता है।"[१२]

हमारे विचार से यहाँ दोनों ही स्थलों पर मूल वाक्य अपने वाच्यार्थ को सर्वथा नहीं त्यागते, अन्यथा हम उनके लक्ष्यार्थ तक कैसे पहुँचते। किसी अंग में आग या जलन लगने पर जैसी पीड़ा होती है, वैसी ही पीड़ा भूख से व्याकुल होने पर हो सकती है; इसी साम्य के आधार पर पेट में आग लगने का लक्ष्यार्थ होता है कि पेट में (भूख से) आग लगने जैसी पीड़ा हो रही है। अतः भले ही इस लक्ष्यार्थ का वाच्यार्थ से दूर का ही सम्बन्ध माना जाय, किन्तु दोनों में सम्बन्ध अवश्य है। यदि दोनों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता तो उस स्थिति में इसे हम लक्षणा का उदाहरण न मान कर व्यंजना का उदाहरण मानते। यही बात दूसरे उदाहरण पर भी लागू होती है। इसमें भी "चरणों" का तात्पर्य है—"चरणों के संसर्ग का"—अतः इस अर्थ को भी सर्वथा असम्बद्ध नहीं माना जाता। अस्तु, हम लक्षण लक्षणा की परंपरागत परिभाषा में संशोधन करते हुए कहेंगे कि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर उपादान लक्षणा होती है जबकि दोनों में दूर का सम्बन्ध होने पर लक्षण लक्षणा होती है। अतः ये दोनों भेद इन सम्बन्धों के दो चरम छोरों को सूचित करते हैं।

लक्षणा के सभी भेदों के दो-दो उपभेद एक अन्य आधार पर भी किये गये हैं। वह आधार है—वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से सम्बन्धित विषयों का उल्लेख। जहाँ दोनों पक्षों का उल्लेख हो उसे सारोपा लक्षणा कहा गया है जबकि एक ही पक्ष (केवल लक्ष्यार्थ से सम्बन्धित विषय) का उल्लेख होने पर उसे साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण माना जाता है।[१३] हमारे विचार से ये भेद भी अनावश्यक तथा लक्षणा की मूल परिभाषा के प्रतिकूल हैं। लक्षणा में सदा वाच्यार्थ ही लक्ष्यार्थ में परिणत होता है अर्थात् लक्ष्यार्थ प्रत्यक्ष रूप में विद्यमान नहीं रहता, वह वाच्यार्थ की

११-१२. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० २५।

ओट में या उससे सम्बद्ध रूप में दूर स्थित रहता है। जहाँ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों के बोधक शब्द साथ विद्यमान होंगे वहाँ प्रयोग लाक्षाणिक न रहकर अभिधात्मक ही बन जायगा। यही कारण है कि सारोपा लक्षणा के उदाहरणों में मुख्यार्थ का बाध नहीं होता, जबकि लक्षणा के लिए ऐसा होना आवश्यक है। जैसे, निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) "आज **भुजंगों** से बैठे **वे** कंचन के घड़े दबाये।"

(ख) स्वर्ग-लोक की तुम **अप्सरि** थीं।
तुम वैभव में पली हुई थीं।

उपर्युक्त अंशों को सारोपा लक्षणा के उदाहरणों के रूप में उद्धृत किया गया है[१४] जबकि इनमें उपमेय और उपमान दोनों का स्पष्ट उल्लेख होने के कारण इनके वाच्यार्थ में बाधा उपस्थित नहीं होती—अतः इनमें लक्षणा की स्थिति मानना उचित नहीं। 'वह गधे जैसा मूर्ख है'—इस वाक्य में लक्षणा या सारोपा लक्षणा न मान कर अभिधा का ही अस्तित्व मानना उचित होगा।

इसी प्रकार लक्षणा के और भी अनेक उपभेद किये गये हैं, जो अनावश्यक, अस्पष्ट और असंगत हैं। संक्षेप में, लक्षणा के स्वीकार्य भेद निम्नलिखित ही सिद्ध होते हैं जो कि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के पारस्परिक सम्बन्धों के विभिन्न स्तरों को सूचित करते हैं—

(१) गौणी लक्षणा—सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित।

(२) शुद्धा लक्षणा—सामीप्य, आधाराधेय एवं तात्कर्म्य सम्बन्ध पर आधारित।

(३) उपादान लक्षणा—अति घनिष्ठ सम्बन्ध।

(४) लक्षण लक्षणा—अति दूर का सम्बन्ध।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त रूढि एवं प्रयोजनवती, सारोपा एवं साध्यवसाना आदि भेद लक्षणा के मूल रूप के विरुद्ध एवं असंगत सिद्ध होते हैं, अतः उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता।

१०.१२. व्यंजना-शक्ति : परिभाषा—

विभिन्न आचार्यों ने व्यंजना-शक्ति की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं, जिनमें से कुछ निम्नांकित हैं—

(क) आचार्य मम्मट—"अनेक अर्थ वाले शब्द का जब संयोगादि के द्वारा वाचकत्व नियत हो जाता है, तब भी उस शब्द के किसी और अर्थ का ज्ञान उत्पन्न

---

१३. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० २८।
१४. वही, पृ० २८।

होता है, वैसे ज्ञान के उत्पन्न करने वाले व्यापार का नाम अंजना—व्यंजना है।"[१५]

(ख) आचार्य विश्वनाथ—"अपना-अपना अर्थ-बोधन करके अभिधा आदि वृत्तियों के शान्त हो जाने पर जिससे अन्य अर्थ का बोधन होता है वह शब्द में तथा अर्थादिक में रहने वाली वृत्ति (शक्ति) व्यंजना कहलाती है।"[१६]

(ग) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—"व्यंजना शक्ति ऐसे अर्थ को बतलाती है जो अभिधा, लक्षणा या तात्पर्यवृत्ति द्वारा उपलब्ध नहीं होता।"[१७]

(घ) पं० रामदहिन मिश्र—(अ) शाब्दी व्यंजना की परिभाषा—"संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थ शब्द के प्रकृतोपयोगी एकार्थ के नियंत्रित हो जाने पर जिस शक्ति (के) द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है वह अभिधामूला शाब्दी व्यंजना है।"[१८]

(आ) आर्थी व्यंजना—"जो शब्द-शक्ति वक्ता, बोद्धव्य, चेष्टा आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है वह आर्थी व्यंजना कही जाती है।"[१९]

उपर्युक्त परिभाषाओं पर ध्यान दें तो एक बात स्पष्ट रूप में प्रतीत होगी कि इनमें व्यंजना की बहिरंग विशेषताओं पर ही प्रकाश डाला गया है उसके अंतरंग लक्षणों का निर्देश इनमें नहीं हुआ है। प्रायः सभी ने इसी तथ्य पर प्रकाश डाला है कि जो अर्थ अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य आदि से ज्ञात नहीं होता वह व्यंग्यार्थ है किन्तु व्यंग्यार्थ की निजी विशेषताएँ क्या है—इसका स्पष्टीकरण इन्होंने नहीं किया। वस्तुतः ये परिभाषाएँ अभाववादी (Negative) हैं अर्थात् वे व्यंजना क्या नहीं है—इसका उत्तर देती है, व्यंजना क्या है—इसका नहीं। अतः हमें इस सम्बन्ध में यहाँ स्वतन्त्र दृष्टिकोण से विचार करना होगा।

यदि हम अभिधा और लक्षणा के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए व्यंजना के लक्षणों पर विचार करें तो हमें तीन ऐसी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होंगी जिनके आधार पर व्यंजना की भावात्मक (Positive) परिभाषा की जा सकती है। वे विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) जहाँ अभिधा में एक साथ एक ही अर्थ विद्यमान रहता है तथा लक्षणा में एक अर्थ अन्य अर्थ में परिणत हो जाता है, वहाँ व्यंजना में एक साथ दो अर्थ विद्यमान रहते हैं तथा इस दूसरे अर्थ को—जो कि वाच्यार्थ के अतिरिक्त होता है—व्यंग्यार्थ कहते हैं।

---

१५. काव्य-प्रकाश : मम्मट, पृ० २८।
१६. साहित्य-दर्पण : विश्वनाथ, ।
१७. रस-मीमांसा : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३८०।
१८-१९. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० ३३-३८।

(२) जहाँ लक्षणा में वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ परस्पर सम्बद्ध होते हैं अर्थात् एक दूसरे के पूरक एवं सहायक होते हैं, वहाँ व्यंजना में दोनों अर्थ (वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ) एक दूसरे से स्वतंत्र या असम्बद्ध होते हैं।

(३) जहाँ अभिधा-शक्ति अलग-अलग शब्दों में भी सक्रिय रहती है तथा लक्षणा शक्ति अकेले शब्द में सक्रिय न रह कर शब्द-समूहों, वाक्यांशों या वाक्यों में ही उद्दीप्त होती है वहाँ व्यंजना-शक्ति अलग-अलग शब्दों और वाक्यों के स्थान पर प्रकरण या प्रसंग में सक्रिय होती है। उदाहरण के लिए—निम्नांकित प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

(अ) राम अयोध्या के राजा थे। (अभिधा)

(आ) आप से कौन कुश्ती लड़ सकता है—आप तो भीम हैं ! (लक्षणा)

(इ) अली कली ही सौं बंध्यौ, आगे कौन हवाल ! (व्यंजना)

यहाँ उदाहरण 'अ' में प्रत्येक शब्द का अर्थ अपरिवर्तित है—शब्दों का स्वतंत्र रूप में जो अर्थ है, उनका वही अर्थ वाक्य के अन्तर्गत भी है, अतः यह अभिधा का उदाहरण है। दूसरे वाक्य में 'भीम' शब्द का अर्थ बदल गया है ; जब हम 'भीम' का प्रयोग स्वतंत्र शब्द के रूप में करते हैं तो उसका अर्थ व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध रहता है जबकि यहाँ वह 'अत्यधिक बलवान' के अर्थ में परिणत हो गया है। वस्तुतः यह नया परिवर्तित अर्थ लाक्षणिक अर्थ है जिसका आविर्भाव वाक्य के अन्तर्गत ही हो पाता है, अलग-अलग स्वतन्त्र शब्दों में नहीं। इसके विपरीत तीसरे वाक्य में जो कि व्यंजना का उदाहरण है, व्यंग्यार्थ का प्रसार पूरे प्रसंग तक है। इसमें 'अली' 'कली' का व्यंग्यार्थ—जिसका सम्बन्ध महाराजा जयसिंह एवं उसकी नवविवाहिता पत्नी से है—प्रसंग पर आधारित है, अतः जब तक प्रसंग का ज्ञान न होगा, तब तक इसके व्यंग्यार्थ का भी बोध नहीं होगा। अतः हम कह सकते हैं कि जहाँ अभिधा का क्षेत्र अलग-अलग शब्दों में, लक्षणा का अलग-अलग वाक्यों में व्याप्त है, वहाँ व्यंजना का क्षेत्र प्रकरण या प्रसंग में व्याप्त रहता है।

अस्तु, व्यंजना की उपर्युक्त तीनों विशेषताओं को समन्वित करते हुए कहा जा सकता है कि व्यंजना भाषा की वह शक्ति है जिसके कारण किसी प्रकरण या प्रसंग-विशेष में एक साथ अनेक स्वतन्त्र अर्थों की अभिव्यक्ति या प्रतीति होती है।

१०.१३. व्यंग्यार्थ के प्रेरणा-स्रोत एवं उद्दीपक तत्त्व—

जैसा कि ऊपर बताया गया है, व्यंजना-शक्ति की उद्दीप्ति एक शब्द या एक वाक्य में न होकर, वाक्य-समूहों या प्रसंग में होती है। प्रसंग की विभिन्न विशेषताओं की प्रेरणा से ही व्यंजना शक्ति उद्दीप्त एवं सक्रिय होती है। प्राचीन आचार्यों ने इन विशेषताओं के अनेक भेद किये हैं जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं[२०]—

---

२०. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० ३८-४०।

(१) **वक्ता का वैशिष्ट्य**—जब एक सामान्य बात किसी विशिष्ट व्यक्ति के द्वारा कही जाती है तो कई बार उससे एक नया अर्थ व्यक्त होने लगता है जो व्यंग्यार्थ कहा जा सकता है ; जैसे, जब एक अध्यापक अपने विद्यार्थी से कहता है—'अब तुम्हारी जानकारी हमसे भी बढ़ गई है !' तो यहाँ इसके वाच्यार्थ के स्थान पर एक अन्य अर्थ ध्वनित होने लगता है जो व्यंग्यार्थ कहा जा सकता है।

(२) **बौद्धव्य का वैशिष्ट्य**—वक्ता की भाँति बौद्धव्य (जिससे बात कही जाय), की विशिष्टता के कारण भी व्यंग्यार्थ की निष्पत्ति मानी गई है। जैसे कि एक बच्चे को यह कहने पर कि 'तुम बहुत बड़े हो गये हो !' में होता है।

(३) **वाक्य का वैशिष्ट्य**—वाक्य-रचना के वैशिष्ट्य से भी नया अर्थ उद्दीप्त हो सकता है, जैसे, 'हम चोरी करने वाले हैं। तुम ईमानदार हो' के स्थान पर 'चोरी करने वाले तो हम हैं, और ईमानदार तो केवल तुम हो।' में नया अर्थ ध्वनित होता है।

(४) **अन्य-संनिधि**—वक्ता और बोद्धा के अतिरिक्त पास में स्थित किसी अन्य व्यक्ति या पदार्थ की उपस्थिति से भी वाच्यार्थ से अन्य अर्थ ध्वनित होने लगता है ; जैसे, किसी तीसरे व्यक्ति को देखकर दूसरे व्यक्ति से यह कहना—"हमें ठगों से सावधान रहना चाहिए।" (अर्थात् तीसरा व्यक्ति ठग है।)

(५) **देश-काल या प्रसंग का वैशिष्ट्य**—देश-काल या प्रसंग के वैशिष्ट्य के अनुसार भी नया अर्थ ध्वनित होने लगता है, जैसे, 'कम्बल ओढ़ लो, यह शिमला है।' (अर्थात् शिमला ठण्डा है) (ग) "अब तुम सरकारी मेहमान बन रहे हो। तुम्हारी सेवा में सदा राजकीय अधिकारी तत्पर रहेंगे। वे न केवल तुम्हारे भोजन-पान और वस्त्राभूषण का ध्यान रखेंगे अपितु तुम्हारी प्रत्येक क्रिया की पूरा व्यवस्था रखेंगे।" (जेल-यात्रा के प्रसंग में)।

(६) **वक्ता की वाणी और चेष्टादि का वैशिष्ट्य**—इससे भी एक ही बात नया अर्थ देने लगती है। जैसे, "हे ईश्वर ! तुम्हारी यह कैसी दुनियाँ है।" इसे भिन्न-भिन्न ढंग से उच्चरित करने पर इसके दो अर्थ निकल सकते हैं—(१) यह दुनियाँ अच्छी है (२) यह दुनियाँ बुरी है।

अस्तु, व्यंजना-शक्ति की उद्दीप्ति केवल वक्तव्य-वस्तु पर ही निर्भर नहीं रहती अपितु उसकी उद्दीप्ति के लिए प्रसंग सम्बन्धी विभिन्न तत्त्वों का संपर्क अपेक्षित है। इस संपर्क के अभाव में या इसका ज्ञान न होने पर व्यंग्यार्थ लुप्त हो जाता है और केवल वाच्यार्थ ही अवशिष्ट रह जाता है।

१०.१४. व्यंजना के भेदोपभेद—

प्राचीन आचार्यों ने व्यंजना के सामान्यतः दो भेद माने हैं—शाब्दी व्यंजन और आर्थी व्यंजना। शाब्दी व्यंजना के भी दो उपभेद किये गये हैं—अभिधामूला और

लक्षणामूला। हमें यह वर्गीकरण दोष-पूर्ण एवं असंगत प्रतीत होता है। इसमें निम्नांकित त्रुटियाँ विद्यमान हैं—

(क) व्यंजना का क्षेत्र शब्द या वाक्य नहीं, अपितु प्रकरण है, जबकि 'शाब्दी व्यंजना' सम्बन्धी भेद इस धारणा के प्रतिकूल पड़ता है, शाब्दी व्यंजना की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि 'अनेकार्थ शब्द के प्रकृतोपयोगी (प्रसंग के अनुकूल) एक अर्थ के नियंत्रित हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है वह अभिधामूला शाब्दी व्यंजना है।'[२१] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि इसमें अन्य अर्थ बाहर से या प्रसंग से उद्भूत नहीं होता अपितु पहले से ही विद्यमान रहता है क्योंकि मूल शब्द ही अनेकार्थक होता है। अनेकार्थक शब्द से अनेक अर्थों का उत्पन्न होना—स्वयं अभिधाशक्ति का ही कार्य है—व्यंजना का नहीं। व्यंजना तो वहाँ होगी जहाँ एक अर्थ वाले वाक्य समूह से एकाएक अन्य अर्थ की प्रतीति होगी। हमारी भाषा में असंख्य शब्द ऐसे हैं जिनके परम्परा से ही अनेक अर्थ प्रचलित हैं, या एक ही नाम अनेक व्यक्तियों एवं पदार्थों के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु ऐसे शब्दों के पीछे व्यंजना शक्ति का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए निम्नांकित प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

(अ) **कृष्ण** बादलों को देखकर मयूर नाचते हैं। (कृष्ण=काला)

(आ) राधा एक गोपी थी और **कृष्ण** एक ग्वाल। (कृष्ण=ऐतिहासिक व्यक्ति)।

(इ) 'अर्जुन' के संपादक महाशय **कृष्ण** का कल देहान्त हो गया।

(कृष्ण=पत्र-संपादक का नाम)

(ई) **कृष्ण** ! तुम जाओ। (कृष्ण=एक नौकर का नाम)

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में 'कृष्ण' शब्द का प्रयोग अलग-अलग प्रसंगों में अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त हुआ तथा प्रसंग के अनुसार उनका एक अर्थ नियंत्रित हो हो गया है जिससे इन सभी वाक्यों को 'अभिधामूला शाब्दी व्यंजना' के उदाहरणों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि इन वाक्यों में अभिधा शक्ति ही कार्य कर रही है—व्यंजना का अस्तित्व यहाँ स्वीकार नहीं किया जा सकता।

शाब्दी व्यंजना की उपर्युक्त परिभाषा में एक असंगति और विद्यमान है। जैसा कि हमने पीछे स्पष्ट किया है, तथा अन्य आचार्यों ने लक्षणा की परिभाषा करते हुए स्वीकार किया है, जहाँ एक अर्थ या वाच्यार्थ में बाधा उपस्थित होने के कारण दूसरा अर्थ ग्रहण किया जाता है उसे लक्षणा कहते हैं जबकि दूसरी ओर शाब्दी व्यंजना की भी यही विशेषता बताई गई है—"एक अर्थ के नियंत्रित (=बाधित) हो

---

२१. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० ३३।

जाने पर अन्य अर्थ का ज्ञान होता है, वह अभिधामूला शाब्दी-व्यंजना है।"[२२] वस्तुतः यह परिभाषा स्वयं व्यंजना के प्रतिकूल पड़ती है—क्योंकि लक्षणा और व्यंजना में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि जहाँ लक्षणा में एक अर्थ नियन्त्रित या बाधित हो जाता है, वहाँ व्यंजना में दोनों अर्थ सक्रिय रहते हैं। शाब्दी व्यंजना के जितने भी उदाहरण दिये गये हैं वे सब या तो वाच्यार्थ के द्योतक हैं या लक्ष्यार्थ के—व्यंग्यार्थ की सत्ता उनमें नहीं हैं। देखिये—

(अ) शंख-चक्र युत **हरि** कहे होत विष्णु को ज्ञान।

(आ) **नग** सूनो बिन मूँदरी।

(इ) बलि-बलि जाऊँ **कृष्ण** बल भैया।

(ई) अब तुम **मधु** लाओ तुरन्त।

(उ) **मरु** में जीवन दूर है।

पं० रामहिन मिश्र ने उपर्युक्त वाक्यों के विशिष्ट शब्दों में शाब्दी-व्यंजना का अस्तित्व माना है[२३] जबकि ये विशुद्ध वाच्यार्थ के उदाहरण हैं। यदि हमने व्यंजना का क्षेत्र इतना व्यापक कर दिया तो फिर सभी अनेकार्थक शब्द, श्लिष्ट पद एवं व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ (राममनोहर, सुन्दरलाल, कृष्णकान्त निर्मल, रजनी आदि) व्यंग्यार्थ से युक्त मानी जा सकती हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी काव्य या लेख में जहाँ-जहाँ व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का प्रयोग हुआ हो वे सब स्थल उपर्युक्त उदाहरणों के अनुसार व्यंग्य-युक्त माने जा सकते हैं—जबकि इनमें एक ही अर्थ प्रस्तुत है। वस्तुतः व्यंजना की सत्ता वहीं मानी जा सकती है, जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दो स्वतन्त्र सत्ताओं के रूप में एक साथ विद्यमान हों तथा व्यंग्यार्थ शब्दों की वाचकता या श्लिष्टता के कारण नहीं अपितु प्रकरण की विशिष्टता के कारण उद्भूत हो। इसके विपरीत तथाकथित शाब्दी व्यंजना में एक ही अर्थ विद्यमान रहता है—दूसरा अर्थ नियंत्रित हो जाता है—तथा वह अर्थ भी शब्दों की वाचकता पर निर्भर रहता है। अतः हम 'शाब्दी व्यंजना' को व्यंजना के भेद के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। शाब्दी व्यंजना से सम्बन्धित उपर्युक्त श्लिष्ट या अनेकार्थक शब्दों को व्यंग्यात्मकता के अभाव में अभिधा के अन्तर्गत ही स्थान देना उचित है। शाब्दी व्यंजना की अस्वीकृति के साथ-साथ ही व्यंजना का दूसरा भेद—आर्थी व्यंजना भी अनावश्यक सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उपर्युक्त विवेचन के अनुसार प्रत्येक व्यंजना 'आर्थी' ही होती है, अतः इस विशेषण का प्रयोग अनावश्यक एवं भ्रामक है।

१०.१५. शब्द-शक्तियों की पारस्परिक तुलना—

पूर्व विवेचित शब्द-शक्तियों के पारस्परिक अंतर को और अधिक स्पष्ट करने

---

२२. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० ३३।

२३. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० ३३-३४।

के लिए यहाँ कतिपय उपशीर्षकों के अन्तर्गत उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है—

(क) **स्रोत की दृष्टि से**—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—तीनों का ही निवास सामान्यतः भाषा में होता है किन्तु इनके द्वारा सूच्य अर्थ के स्रोत में परस्पर भेद है। जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, अभिधा की आधार भूमि परम्परा है। किसी वस्तु, पदार्थ, क्रिया, व्यापार आदि को जिस नाम से पुकारने की परम्परा पड़ जाती है, वही उसका वाचक शब्द बन जाता है। हम 'हाथी' को 'हाथी' या 'पत्थर' को 'पत्थर' क्यों कहते हैं ? इसका परम्परा के सिवा कोई अन्य कारण नहीं बताया जा सकता। प्रत्येक नया प्रयोग भी जब आगे चलकर रूढ़ हो जाता है तो वह भी अभिधात्मक बन जाता है।

आचार्यों ने लक्षणा का स्रोत रूढ़ि और प्रयोजन में माना है, किन्तु रूढ़िबद्ध प्रयोगों को हमने अभिधा के अन्तर्गत स्थान देते हुए केवल विशेष प्रयोजन से सम्बद्ध प्रयोगों को ही लक्षणा के रूप में मान्यता दी है। प्रश्न है, यहाँ 'प्रयोजन' से क्या अभिप्राय है ? जैसा कि पीछे कहा जा चुका है—भाषा में प्रत्येक सार्थक वाक्य का कोई न कोई प्रयोजन (= अर्थ) होता है, अतः प्रयोजन को लक्षणा का ही विशेष लक्षण क्यों माना जाय ? यदि हम लक्षणा के स्वरूप का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि इसमें वक्ता का प्रयोजन विशेष प्रभाव उत्पन्न करना होता है और इस विशेष प्रभाव का मूल कारण यह होता है कि स्वयं वक्ता के मन में कोई विशेष भाव या आशय होता है। उदाहरण के लिए—जब हम एक 'कुटिया' को 'कुटिया' कहते हैं तो इसमें हमारा कोई विशेष आशय नहीं होता, किन्तु जब हम एक अच्छे-खासे महल के लिए 'कुटिया' शब्द का प्रयोग करते हैं तो लगता है कि यहाँ हमारा कोई विशेष आशय है। अस्तु, 'प्रयोजन' से तात्पर्य है ; 'विशेष आशय' या 'विशेष भाव'।

इस विशिष्ट प्रयोजन या भाव को समझने के लिए यहाँ एक बात और कहीं जा सकती है। सामान्यतः हमारी भाषा स्थूल पदार्थों एवं सामान्य विचारों की सूचना देने में तो सक्षम है किन्तु कई बार वह हमारी सूक्ष्म अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में असमर्थ हो जाती है। उदाहरण के लिए, जब हम गुड़ और मिश्री के स्वाद का अन्तर बताने लगते हैं या किसी आन्तरिक पीड़ा [का बखान करने लगते हैं अथवा किसी विशेष अनुभूति के स्वाद की मात्रा की नाप-जोख करने लगते हैं, तो हमारी भाषा असमर्थ हो जाती है। हमारा एक पैसा खोजाने से भी हमें दुःख होता है, परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाने से भी, घर में चोरी हो जाने से भी, भाई की मृत्यु से भी, किन्तु यहाँ सभी प्रकार का 'दु.ख' एक जैसा नहीं है। इन सबसे होने वाली 'पीड़ा' न केवल गंभीरता की दृष्टि से अपितु स्वाद की दृष्टि से भी एक जैसी नहीं होती। किन्तु हमारी भाषा—कम से कम अभिधा शक्ति के द्वारा—अनुभूतियों के इस सूक्ष्म अन्तर को सूचित नहीं कर पाती। जब लंगड़ा आदमी अधिक तेज चलने का प्रयास

करता है तो वह फिसल जाता है और अपने असली रास्ते से च्युत हो जाता है; अकथ्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के समय भाषा की भी यही दशा हो जाती है—वह जितना कह सकती है, उससे अधिक कहने का प्रयास करती है; जिसका परिणाम यह होता है कि वह अपने सामान्य मार्ग (अभिधा) से च्युत होकर दायें-बायें या आगे-पीछे लुढक कर वक्र हो जाती है। वक्रता की इसी स्थिति का नाम 'लक्षणा' शक्ति है। अस्तु, लक्षणा के पीछे 'भावातिरेक' या 'आशय की गंभीरता' अथवा 'प्रयोजन की विशेषता' होती है। हम इसे सामान्यतः प्रयोजन-वैशिष्ट्य की संज्ञा दे सकते हैं।

लक्षणा की ही भाँति व्यंजना के पीछे भी वक्ता का विशेष प्रयोजन या विशेष आशय होता है—अभिधा की भाँति व्यंजना सामान्य परिस्थिति में उद्दीप्त नहीं होती। किन्तु लक्षणा और व्यंजना के स्रोतों में परस्पर थोड़ा अन्तर है; जहाँ लक्षणा में भावातिरेक को खुली छूट होती है—वक्ता अपने भावातिरेक को या प्रयोजन-वैशिष्ट्य को छिपाने या नियंत्रित करने का प्रयास नहीं करता वहाँ व्यंजना में ऐसा करना पड़ता है। व्यंग्यार्थ के प्रयोग के समय वक्ता कुछ ऐसी परिस्थिति में होता है जिसके कारण वह अपने आशय को उन्मुक्त रूप में या प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त नहीं कर पाता। फलतः उसे अपनी बुद्धि की सहायता लेनी पड़ती है जिससे कि वह सर्वथा भिन्न माध्यम से अपने प्रयोजन को व्यक्त कर सके। इसे, यों स्पष्ट कर सकते हैं कि लक्षणा-शक्ति में अपनी ही अल्प पूँजी से काम चलाना पड़ता है—भले ही वह प्रयोजन को देखते हुए कितनी ही कम क्यों न हो; जबकि व्यंजना में सारी पूँजी दूसरों से उधार लेनी पड़ती है तथा उसे यह पूँजी 'बौद्धिक कौशल' से उपलब्ध होती है। अस्तु, लक्षणा और व्यंजना दोनों का लक्ष्य विशेष भाव की अभिव्यक्ति करना होता है किन्तु एक में स्वच्छन्द भावातिरेक होता है जबकि दूसरी में भावातिरेक बौद्धिक कौशल द्वारा नियंत्रित रहता है या यों कहिए कि व्यंजना में बौद्धिक कौशल द्वारा अपने आशय को अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत करना पड़ता है। अतः संक्षेप में हम व्यंजना का स्रोत बुद्धि-नियंत्रित भावातिरेक या नियंत्रित भावातिरेक में मान सकते हैं।

(ख) अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से—सूच्य अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से अभिधा का सम्बन्ध सामान्य, स्थिर एवं निश्चित अर्थ से होता है जबकि शेष दोनों से सम्बन्धित अर्थ असामान्य (विशिष्ट), अस्थिर एवं अनिश्चित होते हैं। वाच्यार्थ प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक अवस्था में अपरिवर्तित एवं निश्चित रहता है जबकि लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ का प्रयुक्त शब्दावली से केवल क्षणिक एवं अस्थिर सम्बन्ध रहता है। व्यंग्यार्थ का सम्बन्ध तो लक्ष्यार्थ से भी अधिक क्षीण, परिवर्तनशील एवं अस्थायी होता है। उदाहरण के लिए निम्नांकित तीन वाक्य द्रष्टव्य हैं—

(अ) रामचन्द्र **अयोध्या** के राजा थे।

(आ) सारा **रनिवास** रो रहा है।

(इ) **बाज** ! पराये पानि परी तू **पच्छीननु** न मारि ! (बिहारी)

उपर्युक्त वाक्यों में से प्रथम वाक्य के प्रत्येक शब्द का अर्थ सर्वत्र अपरिवर्तित रहेगा, जहाँ कहीं परिवर्तित होगा वहाँ अभिधा न रहकर लक्षणा या व्यंजना की प्रेरणा रहेगी। दूसरे उदाहरण में 'रनिवास' का अर्थ 'रनिवास के सारे लोग' है—यह अर्थ इसी वाक्य में है, अन्यत्र भी 'रनिवास' का यही अर्थ रहे, यह आवश्यक नहीं। तीसरे, उदाहरण में 'बाज' का व्यंग्यार्थ 'महाराजा जयसिंह' हैं तथा 'पच्छीननु' का व्यंग्यार्थ 'हिन्दू-नरेश' है—प्रयुक्त शब्दों से इन अर्थों का सम्बन्ध प्रायः न के बराबर है। केवल इसी पंक्ति में प्रसंग के कारण दोनों में यह आकस्मिक सम्बन्ध है—जो अन्य प्रसंगों में प्राप्य नहीं।

(ग) **अर्थ संख्या की दृष्टि से**—विभिन्न शब्द-शक्तियों द्वारा सूच्य अर्थों की संख्या की दृष्टि से भी इनका अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है। अभिधा जहाँ सर्वत्र एक समय एक ही अर्थ को सूचित करती है वहाँ लक्षणा में दो अर्थ रहते हैं किन्तु इनमें से एक अर्थ (वाच्यार्थ) अधूरा होता है जिसकी पूर्ति दूसरे अर्थ से होती है। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि लक्षणा में डेढ अर्थ (एक आधा + एक पूरा) एक साथ रहते हैं। व्यंजना में एक साथ दो या दो से अधिक अर्थ रहते हैं तथा वे दोनों अर्थ अपने-आप में पूर्ण एवं स्वतन्त्र होते हैं। इस प्रकार अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में अर्थों की संख्या का अनुपात क्रमशः इस प्रकार माना जा सकता है—१ : १½ : २। (अभिधा = १ ; लक्षणा = १½ ; व्यंजना २)

(घ) **कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से**—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के कार्य-क्षेत्र में भी परस्पर गहरा अन्तर है। अभिधा का कार्य-क्षेत्र शब्दों से आरंभ हो जाता है अर्थात् अलग-अलग शब्दों का जो अर्थ हम प्राप्त करते हैं, वह उनका अभिधात्मक अर्थ ही होता है। शब्द-कोष में शब्दों के वाच्यार्थ ही रहते हैं। जब तक शब्दों का मूल अर्थ वाक्य या प्रसंग में भी अपरिवर्तित रहता है तब तक ही उस वाक्य या प्रसंग में अभिधा शक्ति मानी जाती है—शब्दार्थ के परिवर्तन के साथ ही अभिधा लक्षणा या व्यंजना में परिवर्तित हो जाती है। या यों कहिए कि वाक्य या प्रसंग के विभिन्न अर्थों में से जो अर्थ शब्दों के मूल अर्थ का समन्वित रूप होता है वही वाच्यार्थ कहलाता है। इसके विपरीत लक्षणा शक्ति अकेले शब्द में कभी सक्रिय नहीं होती—जब शब्द या शब्दों का संगठन वाक्य या उक्ति के रूप में होता है तब ही विशेष परिस्थिति में लक्षणा उद्दीप्त होती है। इस प्रकार लक्षणा का क्षेत्र वाक्य है। व्यंजना का क्षेत्र लक्षणा से भी अधिक व्यापक है। उसकी उद्दीप्ति अकेल वाक्य में न होकर वाक्य-समूह या प्रकरण के क्षेत्र में होती है। जब तक कोई वाक्य किसी प्रसंग से सम्बद्ध नहीं हो जाता या वह किसी प्रसंग का अंग नहीं बन जाता तब तक उससे व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती ; यहाँ तक कि व्यंग्यार्थ के होते हुए भी प्रसंग-ज्ञान के अभाव में उसका बोध नहीं हो पाता। इसका स्पष्टीकरण पीछे किया जा

चुका है। अस्तु, शब्द, वाक्य एवं प्रसंग को क्रमशः तीनों शक्तियों का कार्य-क्षेत्र माना जा सकता है, किन्तु यहाँ यह ध्यान रहे कि ये तीनों इनकी प्रारम्भिक सीमाएँ ही हैं—अंतिम नहीं। अर्थात् शब्द अभिधा की प्रारंभिक सीमा है, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह वाक्य और प्रसंग में नहीं रहती। वस्तुतः जब तक वाक्य और प्रसंग में लक्षणा या व्यंजना उद्दीप्त नहीं होती तब तक अभिधा ही कार्य-रत रहती है। इतना ही नहीं, इनके उद्दीप्ति होने पर भी सहचारी रूप में अभिधा सक्रिय रहती है। इसी प्रकार प्रत्येक वाक्य में लक्षणा की और प्रत्येक प्रसंग में व्यंजना की ही उद्दीप्ति हो, यह भी आवश्यक नहीं है। केवल विशेष परिस्थितियों में ही ये शक्तियाँ उद्दीप्त होती हैं, अन्यथा अभिधा ही कार्य-रत रहती है। अतः यों कह सकते हैं कि जहाँ अभिधा का प्रसार शब्दों से लेकर सामान्य प्रसंग-योजना तक है, वहाँ लक्षणा का विशिष्ट वाक्य-योजना से लेकर प्रसंग-योजना तक है जबकि व्यंजना का क्षेत्र विशिष्ट प्रसंग-योजना से लेकर प्रबन्ध-योजना तक माना जा सकता है। व्यंजना के क्षेत्र की इस अन्तिम-सीमा—प्रबन्ध-योजना—के प्रमाण-स्वरूप 'पद्मावत' और 'कामायनी' जैसे प्रबन्ध-काव्यों को देखा जा सकता है जिनमें कुछ पात्रों और परिस्थितियों का चित्रण सारे प्रबन्ध में व्यंजना के रूप में किया गया है।

(ङ) **प्रभाव की दृष्टि से**—प्रभाव की दृष्टि से अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का महत्त्व उत्तरोत्तर अधिक है। अभिधा में कथन-शैली सामान्य रहती है अतः उसका अपना कोई विशेष प्रभाव या आकर्षण नहीं होता—उसमें केवल कथ्य की विशेषता और मार्मिकता का ही आकर्षण रहता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि अभिधा में द्रव्यगत आकर्षण ही हो सकता है, रूपगत या शैली गत आकर्षण नहीं। इसके विपरीत लक्षणा और व्यंजना में शैलीगत आकर्षण रहता है और यदि इसके साथ द्रव्यगत आकर्षण भी हो तो उनका प्रभाव और भी बढ़ जाता है। लक्षणा और व्यंजना के आकर्षण में भी परस्पर थोड़ा अन्तर है। लाक्षणिक प्रयोगों के पीछे स्वच्छन्द भावावेग रहता है अतः उनमें भावात्मक आकर्षण की मात्रा अधिक रहती है जबकि व्यंजना में भावातिरेक पर बौद्धिक नियंत्रण रहने के कारण उसमें बौद्धिकता से युक्त भावात्मक आकर्षण रहता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि अभिधा में द्रव्यगत आकर्षण या ऐन्द्रिक आकर्षण, (क्योंकि द्रव्य या विषय मुख्यतः ऐन्द्रिक प्रभाव के कारण ही आकर्षित करता है) लक्षणा में भावात्मक आकर्षण और व्यंजना में बौद्धिकता समन्वित भावात्मक आकर्षण रहता है। वस्तुतः प्रभाव की दृष्टि से इन तीनों शक्तियों का उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व है।

शब्द-शक्तियों की पारस्परिक तुलना से उपलब्ध निष्कर्षों को यहाँ तालिका रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

शब्द-शक्तियों की पारस्परिक तुलना

तुलना का दृष्टिकोण	अभिधा	लक्षणा	व्यंजना
१. अर्थ के स्रोत की दृष्टि से→	परंपरा	भावातिरेक जन्य प्रयोग	बुद्धि नियंत्रित भावात्मक प्रयोग
२. अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से→	सामान्य, स्थिर, निश्चित	विशिष्ट, अस्थिर, दूरारूढ़	विशिष्ट, क्षणिक, दुरूह
३. अर्थ-संख्या की दृष्टि से→	एक	डेढ़ (एक आधा+ एक पूर्ण)	दो या दो से अधिक
४. कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से→	शब्द से लेकर सामान्य प्रसंग योजना तक	विशिष्ट वाक्य से लेकर प्रसंग तक	विशिष्ट प्रसंग से लेकर प्रबंध तक
५. आकर्षण-भेद की दृष्टि से→	द्रव्यगत (ऐन्द्रिक) आकर्षण	भावात्मक आकर्षण	बौद्धिकता समन्वित भावात्मक आकर्षण
६. प्रभाव की दृष्टि से→	न्यूनतम प्रभाव	गंभीर प्रभाव	अधिक गंभीर प्रभाव

(ख) ध्वनि-सिद्धान्त

१०.१६. ध्वनि : परिभाषा—

शब्द-शक्तियों पर आधारित सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ध्वनि है। इसकी स्थापना करते हुए ध्वन्यालोक के रचयिता ने लिखा था—"सहृदयों के द्वारा प्रशंसित जो अर्थ काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है, उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद हैं।[1] प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही है·····काव्य की आत्मा वही अर्थ है। वह

१. ध्वन्यालोक : प्रथम उद्योत, कारिका २।

व्यंग्यार्थ और उसको अभिव्यक्त करने की शक्ति से युक्त कोई विशेष शब्द ही है।[२] व्यंग्य और व्यंजक के सुन्दर प्रयोग से ही कवियों को महाकवि पद की प्राप्ति होती है।[३]....जहाँ अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्ति करते हैं उस काव्य-विशेष को विद्वान लोग ध्वनि काव्य कहते हैं।[४] ध्वन्यालोक में प्रतिपादित उपर्युक्त मंतव्य से निम्नांकिन बातें स्पष्ट हैं—

(क) इसमें वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान को अधिक महत्त्व दिया गया है।

(ख) प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है।

(ग) प्रतीयमान अर्थ व्यंग्यार्थ का पर्यायवाची है।

(घ) प्रतीयमान अर्थ या व्यंग्यार्थ से युक्त काव्य ही ध्वनि काव्य है।

अस्तु, स्पष्ट है कि ध्वनि-संप्रदाय में व्यंजना शक्ति का ही नया नामकरण करते हुए ध्वनि कहा गया है—दोनों में नाम का ही अन्तर है, विषय का नहीं क्योंकि जहाँ भी व्यंग्यार्थ है वहाँ व्यंजना या ध्वनि का अस्तित्व है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में केवल व्यंग्यार्थ युक्त काव्य को ध्वनि मान लिया गया था किन्तु ग्रन्थ के उत्तर भाग में कदाचित् ध्वनि के विभिन्न स्तर-निर्धारण के लिए स्वयं ग्रन्थकार ने या उसके परवर्ती व्याख्याताओं ने ध्वनि काव्य के लिए व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण होना भी आवश्यक ठहरा दिया है। यही कारण है कि प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने ध्वनि की परिभाषा करते हुए उसमें व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण होना आवश्यक माना है। परन्तु साथ ही वाच्यार्थ से हीन व्यंग्यार्थ की भी सर्वथा उपेक्षा नहीं की गई, उसे उत्तमोत्तम न सही, उत्तम काव्य माना गया है। अतः हम कह सकते हैं कि ध्वनि सिद्धान्त में व्यंग्यार्थ की महत्ता प्रत्येक स्थिति में स्वीकार की गई है—चाहे वह उच्चस्तरीय ध्वनि के रूप में हो या गुणीभूत व्यंग्य के रूप में।

१०.१७. सौन्दर्य का अस्तित्व वाच्यार्थ में अथवा व्यंग्यार्थ में—

ध्वनि काव्य में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों की सत्ता रहती है—अतः यह विचारणीय है कि काव्य के काव्यत्व या सौन्दर्य की सत्ता दोनों में से किस में रहती है? इस सम्बन्ध में पूर्ववर्ती आचार्य भी विचार कर चुके हैं किन्तु वे किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्यत्व की सत्ता वाच्यार्थ में ही मानी थी; उनके शब्दों में—"काव्य की रमणीयता प्रत्येक स्थिति में

---

२. ध्वन्यालोक : प्रथम उद्योत, कारिका ४।
३. वही, कारिका ८।
४. हिन्दी ध्वन्यालोक : भूमिका डा० नगेन्द्र, पृ० ३५-३९।

वाच्यार्थ में ही रहती है चाहे वह योग्य हो या उत्पन्न हो अथवा अयोग्य।"[५] इसके विपरीत पं० रामदहिन मिश्र एवं डा० नगेन्द्र ने व्यंग्यार्थ के पक्ष में अपना निर्णय दिया है।[६] डॉ० नगेन्द्र ने शुक्ल जी के मत का दृढ़ता पूर्वक खण्डन करते हुए अपने पक्ष में मुख्यतः दो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं—(१) रमणीयता या सौन्दर्य का सम्बन्ध रस से है और रस व्यंग्य होता है। (२) वाच्यार्थ स्वयं व्यंग्यार्थ का साधन या माध्यम है जबकि व्यंग्यार्थ साध्य है।[७] निश्चित ही डा० नगेन्द्र की ये युक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं तथा केवल वाच्यार्थ को ही काव्यत्व का सारा श्रेय नहीं दिया जा सकता अन्यथा ध्वनि तत्त्व की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? दूसरे, स्वयं ध्वनिवादियों ने यह निर्देश किया है कि ध्वनि की सत्ता वहीं हैं जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक रमणीय होता है—ऐसी स्थिति में वाच्यार्थ में ही रमणीयता का अधिवास कैसे माना जा सकता है ? अतः आचार्य शुक्ल का मत स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता किन्तु दूसरी ओर विरोधी मत भी दोष-शून्य नहीं है। यह तथ्य है कि यदि हम व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ से पृथक करदें तो वह भी सौन्दर्य-हीन बन जाता है—यहाँ तक कि उसकी व्यंजकता का सारा गौरव ही नष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए "जीकर हाय पतंग मरे क्या।" इससे यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि यदि पतंग जीवित रहेगा तो उसे मृत्यु जैसा ही कष्ट भोगना पड़ेगा। अब यदि हम इस व्यंग्यार्थ को ही सीधे शब्दों में प्रस्तुत करदें तो उसमें वह सौन्दर्य नहीं रहेगा जो 'जीकर हाय पतंग मरे क्या'—इस उक्ति में है। वस्तुतः बिना वाच्यार्थ की ओट लिए जब व्यंग्यार्थ प्रत्यक्ष रूप से सामने आ जाता है तो वह सौन्दर्यहीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में व्यंग्यार्थ को ही उक्ति के सारे सौन्दर्य का श्रेय देना भी उतना ही अनुचित है जितना कि वाच्यार्थ को सारा श्रेय देना है।

हमारी दृष्टि में उपर्युक्त विवाद मूलतः एक गलत धारणा पर आधारित है। जब दो भिन्न कोटि की वस्तुओं के संयोग से कोई नई वस्तु निर्मित होती है तो उसकी उत्पत्ति का श्रेय किसी एक को नहीं दिया जा सकता। ऐसी स्थिति में किसी एक को श्रेय देने का प्रश्न उठाना वैसा ही है जैसा कि किसी बच्चे से यह पूछना कि तुम अपनी माँ के बेटे हो या अपने पिता के। अस्तु, हमारे विचार से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के संयोग से ही रमणीयता का आविर्भाव होता है—दोनों को पृथक कर देने पर दोनों ही श्री-हीन हो जाते हैं; वाच्यार्थ विहीन व्यंग्यार्थ या व्यंग्यार्थ-हीन वाच्यार्थ दोनों ही ध्वनि की संज्ञा से मण्डित नहीं हो सकते। जिस प्रकार सिर और धड़—दोनों के जुड़े रहने में ही प्राणों का अस्तित्व है वैसे ही वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की सह-स्थिति में ही सौन्दर्य की सत्ता है; दोनों को वियुक्त कर देने पर दोनों ही प्राणहीन या सौन्दर्य-हीन हो जाते हैं। फिर व्यंग्यार्थ विषय-वस्तु की दृष्टि से कोई

५-७. हिन्दी ध्वन्यालोक : भूमिका डा० नगेन्द्र, पृ० ३५-३९।

विशिष्ट तत्त्व नहीं है—उसकी विशिष्टता उसके बाह्य सम्बन्धों पर ही आधारित है ; जब किसी भी वाच्यार्थ को अप्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो वही व्यंग्यार्थ बन जाता है, जबकि किसी व्यंग्यार्थ को प्रत्यक्ष रूप से कह देने पर वह वाच्यार्थ में परिणत हो जाता है। अतः महत्त्व 'वस्तु' का नहीं, स्थिति' का है—और वह स्थिति यह है कि दोनों एक साथ स्थित रहें। दूसरे, शब्दों में ध्वनि के सौन्दर्य का अधिवास दो अर्थों की **सह-स्थिति** में हैं।

आकर्षण-सिद्धान्त की शब्दावली में यदि उपर्युक्त सह-स्थिति की व्याख्या करें तो कह सकते हैं कि दो परस्पर विरोधी तत्त्वों के पारस्परिक संपर्क से ही आकर्षण शक्ति उद्दीप्त होती है। जिस प्रकार नर और मादा, प्रोटान और इलैक्ट्रान या चुम्बक के उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के पारस्परिक संपर्क से शक्ति उद्दीप्त होती है उसी प्रकार दो विरोधी अर्थों के पारस्परिक संपर्क—या दोनों की सह-स्थिति से उक्ति की आकर्षण-शक्ति—रमणीयता—उद्दीप्त होती है। आकर्षण सिद्धान्त की इस युक्ति से ध्वनि सम्बन्धी एक तथ्य पर और प्रकाश पड़ता है—वह यह कि ध्वनि में संपृक्त होने वाले दोनों अर्थों (वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ) में पारस्परिक विरोध या प्रकृति-भेद भी होना आवश्यक है, अन्यथा उसकी आकर्षण-शक्ति उद्दीप्त नहीं होती। उदाहरण के लिए "आजकल तो आप बहुत दुबले हो गये हैं।" इस वाक्य से कई अर्थ ध्वनित हो सकते हैं ; जैसे, "आप कम खाते हैं" "आप बीमार हैं।" "आप अधिक परिश्रम करते हैं।" आप का स्वास्थ्य गिर रहा है।" "आप आराम कीजिये।" आदि किन्तु ये सभी अर्थ मूल अर्थ के इतने समीप हैं कि इनमें किसी प्रकार की विशिष्टता या चमत्कार के दर्शन नहीं होते। पर यदि हमें यह ज्ञात हो कि उपर्युक्त वाक्य एक ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में कहा गया है जो दिन-प्रति-दिन स्थूल होता जा रहा है तो यहाँ प्रकरण के वैशिष्ट्य से उक्त वाक्य—'आजकल तो आप बहुत दुबले हो गये हैं!—के वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न प्रकृति का व्यंग्यार्थ—(अर्थात् आप तो बहुत मोटे हो गये हैं)—ध्वनित होगा तथा यह व्यंग्यार्थ पूर्ववर्ती अन्य सभी अर्थों से अधिक चमत्कार पूर्ण होगा। अस्तु, ध्वनि का सौन्दर्य या उसकी रमणीयता दो पारस्परिक विरोधी या भिन्न प्रकृति के अर्थों की सह-स्थिति पर निर्भर है। वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ में प्रकृति एवं क्षेत्र की जितनी अधिक भिन्नता या दूरी होगी, उतना ही उनसे अधिक आकर्षण उत्पन्न हो सकेगा। अतः ध्वनि में दो परस्पर-भिन्न अर्थों की सह-स्थिति ही चमत्कार या आकर्षण का कारण है ; इनमें से किसी एक को—वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ को—इस चमत्कार-सृष्टि या आकर्षण-उद्दीप्ति का श्रेय नहीं दिया जा सकता।

१०.१७. ध्वनि के भेदोपभेद—

ध्वनि के भेदोपभेदों का वर्गीकरण मुख्यतः दो आधारों पर किया गया है—

एक, शब्द-शक्तियों एवं कथन-शैली के आधार पर एवं दूसरा, विषय-वस्तु या कथ्य की दृष्टि से। दोनों प्रकार के वर्गीकरण संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(क) **शब्द-शक्तियों की दृष्टि से**—ध्वनि के दो भेद किये गये हैं—लक्षणा-मूलक एवं अभिधा-मूलक। 'जिसके मूल में लक्षणा हो उसे लक्षणा मूलक ध्वनि कहा गया है, जबकि मूल में अभिधा होने से अभिधा-मूलक ध्वनि कहते हैं'।[८] इनके भी दो-दो उपभेद किये गये हैं। लक्षणामूला के उपभेद हैं—अर्थान्तर संक्रमित वाच्य एवं अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य तथा अभिधामूला के उपभेद हैं—असंलक्ष्यक्रम एवं संलक्ष्यक्रम[९] जहाँ मुख्यार्थ का बाध होने पर वाचक शब्द का वाच्यार्थ लक्षणा द्वारा अपने दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाय—(जैसे 'अबलायें सदैव ही **अबलायें** हैं बेचारी) वहाँ अर्थान्तर संक्रमित ध्वनि मानी गई है, जबकि वाच्यार्थ का पूर्ण तिरस्कार होने पर अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि की सत्ता स्वीकार की गई है।[१०] वस्तुतः ये भेद लक्षणा के ही सूचक हैं, क्योंकि जैसा पीछे शब्द-शक्तियों के विवेचन में स्पष्ट किया गया है—मुख्यार्थ के बाध होने पर जिस अर्थ की उपलब्धि होती है वह लक्ष्यार्थ होता है न कि व्यंग्यार्थ। इन दोनों भेदों के जो लक्षण एवं उदाहरण दिये गये हैं वे वस्तुतः लक्षणा के हैं व्यंजना के नहीं। व्यंजना में दो अर्थ एक साथ स्थित रहते हैं—उसमें वाच्यार्थ का अन्तरण या सर्वथा तिरस्कार नहीं होता। ऐसी स्थिति में इन्हें ध्वनि के अन्तर्गत कैसे लिया जा सकता है।

उपर्युक्त दृष्टि से विचार करें तो न केवल लक्षणा-मूलक ध्वनि के दो उपभेद, अपितु स्वयं लक्षणा मूलक ध्वनि ही व्यंग्यार्थ या ध्वनि के प्रतिकूल पड़ती है। जिसके मूल में लक्षणा है, उसे लक्ष्यार्थ कहें न कि व्यंग्यार्थ ? और जब व्यंग्यार्थ ही नहीं तो वह व्यंजना कैसी ? फिर व्यंजना और व्यंग्यार्थ के अभाव में 'लक्षणा-मूलक ध्वनि' को ध्वनि कैसे कहा जा सकता है ? इस दृष्टि से यह भेद ध्वनि के मूलरूप के प्रतिकूल सिद्ध होता है, अतः यह विचारणीय है कि ध्वन्यालोक के रचियता ने इसे ध्वनि के अन्तर्गत स्थान क्यों दिया।

'ध्वन्यालोक' के आरंभिक अंश को देखने पर ज्ञात होगा कि उसमें अर्थ के दो ही भेद—वाच्यार्थ एवं प्रतीयमान स्वीकार किये गये हैं।[११] प्रतीयमान को व्यंग्यार्थ का पर्यायवाची माना गया है—ऐसी स्थिति में 'लक्ष्यार्थ' एवं तत्सम्बन्धी शक्ति लक्षणा की कोई सत्ता नहीं रहती। वस्तुतः ध्वन्यालोककार ने लक्षणा शक्ति और लक्ष्यार्थ को स्वतन्त्र रूप से मान्यता नहीं दी है। इसका कारण हमारे विचार से यह है कि इससे पूर्व लक्षणावादियों ने ध्वनि को मान्यता देने से इन्कार कर दिया था—उनका तर्क था कि ध्वनि का समावेश लक्षणा में ही किया

८-१०. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० २२९-२३५।
११. ध्वन्यालोक : प्रथम उद्योत, कारिका।

जा सकता है, उसे पृथक या स्वतन्त्र रूप में स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? ध्वन्यालोक के रचयिता ने लक्षणावादियों के इस तर्क का उत्तर देते हुए न केवल प्रतीयमान अर्थ की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की है अपितु उन्होंने 'लक्षणा' के ही स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त कर देने का प्रयत्न किया। जिस प्रकार लक्षणावादियों ने ध्वनि को अपने क्षेत्र में समाविष्ट करने का प्रयास किया था, वैसे ही ध्वनिकार ने भी 'जैसे को तैसा' की नीति का अनुसरण करते हुए लक्षणा को ध्वनि में उपसंहृत करते हुए उसे ध्वनि का एक भेद मात्र मान लिया है। पर ध्वनिकार भूल गये कि ऐसा करके वे अपने ही मत का खण्डन कर बैठे। चाहे लक्षणा में ध्वनि को मिलावें, या ध्वनि में लक्षणा को—दोनों ही स्थितियों में दोनों की पृथक सत्ता समाप्त हो जाती है। अस्तु, लक्षणावादियों ने दोनों की अभिन्नता के जिस मत का प्रतिपादन किया था, उसी को ध्वनिकार भी अन्ततः स्वीकार कर बैठे—यह दूसरी बात है कि उन्होंने 'लक्षणा' के स्थान पर 'ध्वनि' का लेबिल लगा कर ध्वनि की प्रमुखता सिद्ध करदी। किन्तु जैसा कि शब्द-शक्तियों के विवेचन के आधार पर पीछे स्पष्ट किया गया था, लक्षणा और ध्वनि में प्रत्येक दृष्टि से गहरा अन्तर है, अतः हम उपर्युक्त दोनों पक्षों के ही मत की अतिवादिता को स्वीकार नहीं कर सकते। लक्षणा और व्यंजना को पृथक मानने की स्थिति में 'लक्षणामूलक ध्वनि' अपने आप में असंगत एवं अस्तित्वहीन सिद्ध हो जाती है।

अभिधामूलक ध्वनि एवं उसके उपभेद भी भ्रामक है। व्यंग्यार्थ के मूल में सदा व्यंजना शक्ति रहती है, अतः उस अर्थ को 'अभिधामूलक' कैसे माना जा सकता है। यदि व्यंग्यार्थ के साथ वाच्यार्थ के रहने के कारण ऐसा माना जाता है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि प्रत्येक व्यंग्यार्थ के साथ वाच्यार्थ रहता है—वाच्यार्थ की सह स्थिति के बिना कोई भी अर्थ व्यंग्यार्थ बन ही नहीं सकता, अतः व्यंग्यार्थ या ध्वनि से पूर्व 'अभिधा मूलक' जैसा विशेषण अनावश्यक एवं अनपेक्षित है। ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना के समय अभिधा से पृथक व्यंजना शक्ति की कल्पना स्पष्ट रूप से विकसित नहीं हो पाई थी; कदाचित् इसीलिए ऐसा किया गया है।

अभिधामूला ध्वनि के दो उपभेद किये गये हैं—असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। इनमें से पहला भेद ध्वनि सिद्धान्त के मूल लक्ष्य के प्रतिकूल है क्योंकि ध्वनि का चमत्कार इस बात में है कि उसमें एक साथ दो अर्थ प्रतीत होते हैं—एक ही माध्यम से दो स्वतन्त्र अर्थों की अभिव्यक्ति होती है ; किन्तु जहाँ दोनों अर्थों की सत्ता का भेद ही 'असंलक्ष्य' या अदृष्ट रहेगा वहाँ यह चमत्कार उत्पन्न नहीं होगा। इस सम्बन्ध में असंलक्ष्य क्रम ध्वनि के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं[१२]—

---

१२. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० २३१।

(अ) "पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा।
सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा॥
जिअन-मूरि जिमि जुगवत रहऊँ।
दीप-बाति नहिं टारन कहऊँ॥
सो सिय चलनि चहति बन साथा।
आयसु काह होइ रघुनाथा॥"

(आ) कंधो पर बड़े बाल वे,
बने अहो! आँतों के जाल।
फूलों की वह वरमाला भी हुई,
मुण्डमाला सुविशाल॥

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में बिल्कुल स्वाभाविक एवं सरल अभिधात्मक शैली में विषय का वर्णन किया गया है—इन वर्णनों में वाच्यार्थ की ही सत्ता है, व्यंग्यार्थ की नहीं। फिर भी इन्हें या इसी प्रकार के उदाहरणों को 'असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य' कहकर इन्हें ध्वनि के रूप में स्वीकार किया गया है। रामदहिन मिश्र की व्याख्या के अनुसार पहले उदाहरण में करुण रस की व्यंजना है और दूसरे में 'भयानकता' का निरूपण हुआ है—अतः ये ध्वनि के उदाहरण हैं, जबकि हमारे विचार से यह ठीक नहीं। प्रत्येक चर्चा में या किसी भी वर्णन में चाहे वह बिल्कुल अभिधा में हो, उसमें किसी न किसी विषय का निरूपण तो रहता ही है. किन्तु यदि हम प्रत्येक प्रकार के "विषय-निरूपण" को ही 'असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य' कहने लगें तो फिर न केवल सारा साहित्य अपितु इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, विज्ञान एवं दर्शन की सारी पुस्तकें असंलक्ष्य व्यंग्य ध्वनि से युक्त सिद्ध हो जायेंगी। उदाहरण के लिये निम्नांकित अंश द्रष्टव्य हैं—

(अ) "अकबर हिन्दुओं से अच्छा व्यवहार करता था। वह परोपकारी, दयालु, उदार एवं न्यायी था।" (व्यंग्य—अकबर की महानता)

(आ) "भारतवर्ष में चालीस करोड़ व्यक्ति रहते हैं। यह हिमालय से कुमारी अंतरीप तक फैला हुआ है। इसमें अनेक जातियों और उनके धर्मों से लोग रहते हैं।" (व्यंग्य—भारत की विशालता)

(इ) "पंचवर्षीय योजना के परिणाम से खेती की उन्नति हुई है; लोगों की आमदनी बढ़ी है, बेकारी कम हुई है.....।" (व्यंग्य—योजना की सफलता)

उपर्युक्त उद्धरण क्रमशः इतिहास, भूगोल एवं अर्थ-शास्त्र से सम्बन्धित हैं तथा इनमें किसी न किसी विषय का—क्रमशः अकबर की महानता, भारत की विशालता, योजना की सफलता—का वर्णन या विवेचन हुआ है। ये वर्णन विशुद्ध अभिधात्मक हैं—व्यंजना की सत्ता इनमें नहीं है, किन्तु यदि हम अभिधामूला असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि' की तथाकथित परिभाषा एवं उदाहरण को स्वीकार करें तो ये सब उदाहरण भी ध्वनि या उच्चकोटि के काव्य के उदाहरण सिद्ध हो जाते हैं। उस स्थिति में कोई

भी वर्णन ध्वनि-शून्य या काव्यत्व से हीन नहीं रहेगा। वस्तुतः यह भेद ध्वनि की मूल आत्मा के प्रतिकूल है—जब तक वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ दोनों की स्वतन्त्र सत्ता का क्रम पृथक-पृथक दृष्टिगोचर नहीं होता, तब तक उसे ध्वनि नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि ही वास्तविक ध्वनि है, किन्तु उसे अभिधामूला बताना उचित नहीं। व्यंग्यार्थ या ध्वनि की सत्ता केवल वहीं स्वीकार की जा सकती है जहाँ वाच्यार्थ से पृथक किसी अन्य अर्थ की प्रतीति व्यंजना के माध्यम से हो। यह बात केवल संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि पर ही लागू होती है तथा इसे छोड़कर शेष सभी भेद ध्वनि के मूल स्वरूप के प्रतिकूल पड़ते हैं, अतः उन्हें स्वीकार नहीं किया जाता है। जब ध्वनि का सर्वत्र एक ही रूप या भेद है, तो उस स्थिति में उससे पूर्व 'संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य' जैसे विशेषण का प्रयोग अनपेक्षित है।

अस्तु, उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि ध्वनि के ये भेद उस स्थिति में किये गये थे जबकि अभिधा, लक्षणा, व्यंजना का क्षेत्र भली-भाँति स्पष्ट नहीं हुआ था तथा जिस समय एक के क्षेत्र पर दूसरे के द्वारा अधिकार कर लेने की प्रवृत्ति चल रही थी, किन्तु अब न तो वह स्थिति ही रही है और न ही इस प्रवृत्ति को उचित माना जाता है, अतः उपर्युक्त सभी भेदों को—जो कि ध्वनि के मूल रूप के विरुद्ध पड़ते हैं—हम बिना किसी संकोच के त्याग सकते हैं।

१०.१९. विषय-वस्तु की दृष्टि से ध्वनि के भेद—

विषय-वस्तु की दृष्टि से भी ध्वनि के तीन भेद किये गये हैं[१३]—(१) रस-ध्वनि (२) अलंकार ध्वनि और (३) वस्तु ध्वनि। जहाँ भाव, भावोदय, रस आदि की व्यंजना होती है उसे 'रसध्वनि' कहा गया है जबकि अलंकार और वस्तु ध्वनि में क्रमशः अलंकार और तथ्यों की व्यंजना होती है। इन तीनों में रस-ध्वनि को श्रेष्ठ माना गया है। हमारे विचार से यह वर्गीकरण भी कई असंगतियों पर आधारित है। एक तो ध्वनि सिद्धान्त शैली पक्ष से ही सम्बन्धित है अतः विषय-वस्तु की दृष्टि से उसका वर्गीकरण अवैज्ञानिक है। फिर विषय-वस्तुओं के तीन ही भेद क्यों—अनेक भेद हो सकते हैं; संसार के जितने भी विषय हैं वे सब काव्य में वर्णित हो सकते हैं तथा उन सबकी अभिव्यक्ति ध्वनि के माध्यम से हो सकती है, अतः ऐसी स्थिति में रस, अलंकार और वस्तु—ये तीन ही भेद क्यों? संसार में जितने भेद विषयों के हैं, उतने ही भेद ध्वनि के होने चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी विचित्र बात है कि एक ओर ध्वनि सिद्धान्त ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानता है तो दूसरी ओर वह रस और अलंकार के क्षेत्र पर भी अनुचित अधिकार जमाता है। वस्तुतः इन भेदोपभेदों के द्वारा ध्वनि-संप्रदाय के अनुयायी ऐसे काव्य-क्षेत्र को भी अपने अधिकार

---

१३. भारतीय साहित्य-शास्त्र : बलदेव उपाध्याय, पृ० २७४।

में ले लेते हैं, जिसमें कि सौन्दर्य का आधार शैली गत विशेषता न होकर विषय का सहज-स्वाभाविक निरूपण है। उदाहरण के लिये निम्नांकित पद द्रष्टव्य है—

"मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसों कहत मोल को लीन्हौं, तोहिं जसुमति कब जायौ ?"

इस अंश में एक बालक की उक्तियों को बिल्कुल स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया गया है—इसमें आकर्षण का आधार विषय की स्वाभाविकता हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से इसमें बालक के चरित्र का निदर्शन हुआ है तो काव्य-शास्त्र की दृष्टि से यह प्रसंग वात्सल्यभाव से ओत-प्रोत है। इसमें वाच्यार्थ की ही सत्ता है—व्यंग्यार्थ की नहीं। अतः इसे ध्वनि का उदाहरण नहीं माना जा सकता, जबकि ध्वनिवादी इस पर 'रस-ध्वनि' का लेबिल लगा देंगे क्योंकि उनके मत से इसमें वात्सल्य भाव की व्यंजना हुई है। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यदि हम 'व्यंजना' शब्द का अर्थ इतना व्यापक कर दें कि जिससे प्रत्येक प्रकार के 'विषय-निरूपण' का वह पर्यायवाची बन जाय तो उस स्थिति में हम किसी भी प्रकार की चर्चा को 'ध्वनि' की संज्ञा दे सकते हैं क्योंकि प्रत्येक चर्चा में किसी न किसी विषय का निरूपण तो रहता ही है। ऐसी स्थिति में हाट और बाजारों के बीच बोली जाने वाली निम्नांकित चर्चाएँ भी ध्वनि से युक्त सिद्ध हो जायँगी—

(अ) "तेल कल दो रुपये सेर था, आज सवा दो रुपये सेर।" (अर्थात् महँगाई बढ़ रही है=महँगाई की व्यंजना)।

(आ) "हमारी दुकान पर कोई भी आ जाय, हम सबसे एक ही दाम लेते हैं।" (अर्थात् हम ईमानदार हैं=ईमानदारी की व्यंजना)।

उपर्युक्त उद्धरणों में भी किसी न किसी तथ्य की व्यंजना हुई है, फिर भी इन्हें काव्य-कोटि में नहीं रक्खा जा सकता।

अस्तु, विषय-वस्तु के आधार पर किये गये भेदों को स्वीकार कर लेने पर एक ओर तो ध्वनि का क्षेत्र इतना व्यापक हो जाता है कि उसमें प्रत्येक सामान्य बार्ता को भी स्थान दिया जा सकता है. दूसरे इससे रस और अलंकार सिद्धान्त के क्षेत्र पर ध्वनिवादियों का अनुचित अधिकार हो जाता है। इतना ही नहीं, इससे ध्वनि सिद्धान्त की ही इस मूल स्थापना का—कि काव्य का सौन्दर्य कथ्य में नहीं अपितु कथन-विधि (=व्यंजना शक्ति) में है—भी खंडन हो जाता है। अतः हम किसी भी दृष्टि से ध्वनि के इन भेदोपभेदों का अनुमोदन नहीं कर सकते।

१०.२०. निष्कर्ष—

अन्त में हम शब्द-शक्ति एवं ध्वनि-सिद्धान्त के अध्ययन से उपलब्ध निष्कर्षों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

(क) ध्वनि-सिद्धान्त का सम्बन्ध भाषा की अर्थ-शक्ति से है।

(ख) भाषा की अर्थ-शक्ति (शब्द-शक्ति) को तीन रूपों में विभाजित किया जा सकता है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इन तीनों में अर्थ के स्रोत, अर्थ की प्रकृति, अर्थ की संख्या, कार्य-क्षेत्र, आकर्षण-प्रकार एवं प्रभाव की दृष्टि से परस्पर गहरा अन्तर मिलता है।

(ग) अभिधा शक्ति का सम्बन्ध सामान्यतः परम्परा या रूढ़ि से उपलब्ध अर्थ से है, जबकि लक्षणा में भावावेग की प्रेरणा से अर्थ-सम्बन्धी नये प्रयोग होते हैं।

(घ) लक्षणा के सामान्यतः तीन लक्षण माने जा सकते हैं—(१) वाच्यार्थ में बाधा या असंगति (२) वाच्यार्थ से सम्बन्धित एवं (३) विशिष्ट प्रयोजन से प्रेरित।

(ङ) लक्षणा के भेदोपभेदों में से रूढ़ि लक्षणा, सारोपा एवं साध्यवसाना आदि भेद लक्षणा के मूल स्वरूप के प्रतिकूल पड़ते हैं, अतः ये त्याज्य हैं।

(च) व्यंजना की अब तक अभाववादी (Negative) परिभाषाएँ की गई हैं जो संतोषजनक नहीं। इनके स्थान पर नई परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है—व्यंजना भाषा की वह शक्ति है जिसके कारण किसी प्रकरण-विशेष में एक साथ अनेक स्वतंत्र अर्थों की अभिव्यक्ति होती है।

(छ) व्यंजना के भेदोपभेदों में से शाब्दी व्यंजना, अभिधामूला, लक्षणामूला आदि भेद असंगत एवं निरर्थक हैं।

(ज) ध्वनि मूलतः व्यंजना-शक्ति पर आधारित होती है।

(झ) ध्वनि का सौन्दर्य न वाच्यार्थ में रहता है और न व्यंग्यार्थ में, अपितु वह दोनों की सह-स्थिति पर आधारित होता है।

(ञ) ध्वनिकार ने लक्षणा शक्ति को पृथक् रूप में मान्यता न देकर उसका समावेश व्यंजना में ही करने का प्रयास किया है जिससे ध्वनि-विवेचन में अनेक असंगतियाँ आ गई हैं।

(ट) ध्वनि के लक्षणा मूलक, अभिधामूलक, असंलक्ष्यक्रम, रस-ध्वनि, अलंकार ध्वनि, वस्तु-ध्वनि आदि भेद किये गये हैं किन्तु वे भ्रामक, असंगत एवं ध्वनि के मूल रूप के प्रतिकूल हैं, अतः उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(ठ) ध्वनि का मूल क्षेत्र भाषा के शैलीपक्ष की विशिष्टता—व्यंजना शक्ति तक ही सीमित है किन्तु ध्वनिवादियों ने अभिधा, लक्षणा आदि शक्तियों एवं विषय-गत सौन्दर्य को भी अपने अधिकार-क्षेत्र में ले लेने का प्रयास किया जो उचित नहीं कहा जा सकता।

११
वक्रोक्ति-सिद्धान्त

●

११.१. सामान्य परिचय—

'वक्रोक्ति' सिद्धान्त की स्थापना भारतीय आचार्य कुन्तक ने की थी। इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य का सौन्दर्य वक्रोक्ति में ही निहित है। आचार्य कुन्तक के अतिरिक्त भामह, दण्डी, आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यों ने भी वक्रोक्ति का महत्त्व स्वीकार किया है, किन्तु इसका सर्वांगीण विवेचन करते हुए इसे एक स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य कुन्तक को ही प्राप्त है, अतः आगे वक्रोक्ति पर विचार करते समय हम मुख्यतः आचार्य कुन्तक के विचारों को ही आधार रूप में ग्रहण करेंगे।

११.२. वक्रोक्ति का स्वरूप—

वक्रोक्ति का शाब्दिक अर्थ है—वह उक्ति जिसमें वक्रता या वैचित्र्य हो। आचार्य कुन्तक ने भी इसी अर्थ को स्वीकार करते हुए वक्रोक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्नांकित तीन तथ्यों पर प्रकार डाला है।[1]

(१) **प्रसिद्ध कथन से भिन्न**—वक्रोक्ति की पहली विशेषता यह बताई गई है कि वह प्रसिद्ध कथन से भिन्न होती है। प्रसिद्ध कथन से तात्पर्य है—शास्त्र में प्रयुक्त एवं लोक-व्यवहार में प्रचलित। इसी को हम सामान्य और स्वाभाविक भी कह सकते हैं। कुन्तक के विचार से वक्रोक्ति सामान्य और स्वाभाविक उक्ति से भिन्न होती है।

(२) **वैदग्ध्यपूर्ण**—वक्रोक्ति की दूसरी विशेषता यह है कि वह "वैदग्ध्यपूर्ण"

---

१. वक्रोक्ति जीवितम् १।१० (संपादक—डा० नगेन्द्र)।

होती है। 'वैदग्ध्य' का अर्थ है—चातुर्य। काव्य में 'वैदग्ध्य' या 'चातुर्य' वह तत्त्व है जो एक ओर प्रतिभाशाली कवि के कौशल पर आश्रित होता तो दूसरी ओर वह सहृदय पाठकों का मनः प्रसादन करता है। ऐसी स्थिति में हम काव्यगत चातुर्य का अर्थ कर सकते हैं—'काव्य-चमत्कार' या "काव्य का सौन्दर्य।"

(३) **वैचित्र्य**—वक्रोक्ति की तीसरी विशेषता उसका वैचित्र्य युक्त होना है। वस्तुतः यह विशेषता पहली विशेषता के अन्तर्गत ही समाविष्ट हो जाती है क्योंकि असामान्य और अस्वाभाविकता में ही वैचित्र्य निहित रहता है।

इस प्रकार वक्रोक्ति की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं—

(१) अस्वाभाविकता या वैचित्र्य (२) वैदग्ध्य या काव्य-चमत्कार।

११.३. स्वाभाविकता का विरोध क्यों ?—

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वक्रोक्ति संप्रदाय में स्वाभाविकता का इतना विरोध क्यों किया जाता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य कुन्तक से पूर्व अनेक आचार्य स्वाभाविक उक्ति या स्वभावोक्ति को अलंकार मानकर उसमें सौन्दर्य की सत्ता स्वीकार कर चुके थे। आचार्य कुन्तक ने इसका विरोध करते हुए दो तर्क दिये हैं[२]—(१) 'स्वाभावोक्ति' अलंकार्य है अलंकार नहीं अर्थात् वह विषय का गुण है, शैली का नहीं। विषय का यथातथ्य वर्णन ही—अलंकार-शून्य वर्णन ही—स्वाभावोक्ति है, अतः इसे शैली का वैशिष्ट्य या अलंकार नहीं कहा जा सकता। (२) जहाँ तक विषय का सम्बन्ध है वक्रोक्ति में भी वस्तुओं के स्वाभाविक रूप का ही आख्यान होता है—यदि उनका स्वरूप या स्वाभाविक रूप ही विकृत या खंडित हो गया तो वह पाठकों को ग्राह्य नहीं हो सकेगा, अतः विषय की स्वाभाविकता वक्रोक्ति में भी रहती है।

अस्तु, आचार्य कुन्तक के विचारानुसार विषय की स्वाभाविकता तो स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति दोनों में ही रहती है, किन्तु स्वभावोक्ति शैलीगत उस विशेष वैदग्ध्य से वंचित रहती है जोकि वक्रोक्ति में काव्यत्व का संचार करता है—इसीलिए 'स्वभावोक्ति' और 'वक्रोक्ति' में वही अन्तर है जो सामान्य भाषा में और कवि की वाणी में रहता है।

संक्षेप में, कुन्तक के विचार इस प्रकार प्रस्तुत किये जा अकते हैं—

	विषय	शैली	गुण	स्तर
१. स्वभावोक्ति	स्वाभाविक	सामान्य	चमत्कार-शून्य	साधारण-स्तर
२. वक्रोक्ति	स्वाभाविक	विशिष्ट	चमत्कारयुक्त	काव्य-स्तर

---

२. वक्रोक्ति जीवितम्, प्रथमोन्मेष, कारिका ११ : हिन्दी अनुवाद, पृ० ५२-५४।

११.४. वक्रोक्ति की व्यापकता—

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को अत्यन्त व्यापक रूप प्रदान करने का प्रयास किया है। इस व्यापकता का परिचय उनके द्वारा किये गये वक्रोक्ति के भेदोपभेदों से मिलता है। उन्होंने वक्रोक्ति के निम्नांकित छह प्रमुख भेद किये हैं।[3]

(१) **वर्ण-विन्यास-वक्रता**—इसके अन्तर्गत वर्ण सम्बन्धी सभी प्रकार के प्रयोग आजाते हैं। अतः अनुप्रास, यमक, रीति-गुणों, वृत्तियों आदि सबको वर्ण-वक्रता का नाम दिया जा सकता है।

(२) **पद-पूर्वार्ध-वक्रता**—इसमें शब्द के पूर्वार्द्ध भाग से सम्बन्धित सभी प्रकार के प्रयोग आ जाते हैं। सामान्यतः शब्दालंकारों एवं लाक्षणिक प्रयोगों का समन्वय इसमें हो जाता है।

(३) **पद-परार्ध-वक्रता**—इसमें शब्द के उत्तरार्द्ध सम्बन्धी सभी प्रयोग आ जाते हैं।

(४) **वाक्य-वक्रता**—इसके अन्तर्गत वाक्य सम्बन्धी विभिन्न प्रयोग आ जाते हैं, जिनमें प्रायः सभी अर्थालंकारों का समन्वय हो जाता है।

(५) **प्रकरण-वक्रता**—इससे प्रसंग या प्रकरण की विशिष्टता सम्बन्धी प्रयोग आ जाते हैं। व्यंजना और ध्वनि के उदाहरणों को भी इसके अन्तर्गत लिया जा सकता है।

(६) **प्रबन्ध-वक्रता**—इसमें कथा-वस्तु से सम्बन्धित प्रायः सभी विशेषताओं—कथानक की नवीनता, मौलिकता, प्रबन्धात्मकता आदि का सन्निवेश इसमें होजाता है।

वक्रोक्ति के भेदों की यह विविधता जहाँ इस सिद्धान्त को अत्यन्त व्यापक रूप प्रदान करती है, वहाँ उसे यह अस्पष्टता एवं अनिश्चितता से भी समन्वित करती है। उपर्युक्त भेदों के अनुसार काव्य की प्रत्येक विशेषता को—चाहे वह विषयगत हो या शैलीगत अथवा उसका सम्बन्ध वर्ण से हो या वाक्य से—'वक्रोक्ति' कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में काव्य के विभिन्न तत्त्वों (अनुप्रास, श्लेष, अलंकार, गुण, ध्वनि, प्रतीक) की पारस्परिक विशिष्टता का लोप हो जाता है और वे सब एक ही संज्ञा—वक्रोक्ति—से ही भूषित हो जाते हैं। जबकि इन तत्त्वों में प्रकृति, स्वरूप, एवं क्षेत्र की दृष्टि से परस्पर गहरा अन्तर विद्यमान है। अतः वक्रोक्ति को इतने व्यापक रूप में स्वीकार करना हमें उचित प्रतीत नहीं होता। कुन्तक-परवर्ती आचार्यों ने भी इस व्यापकता को अस्वीकार किया है।

११.५. वक्रोक्ति का मूल-क्षेत्र—

वक्रोक्ति को यदि सामान्य अर्थ में ग्रहण किया जाय तो इसका मूल क्षेत्र

---

३. वक्रोक्ति जीवितम् द्वितीय उन्मेष से चतुर्थ उन्मेष तक।

'उक्ति' या 'वाक्य-योजना' तक सीमित प्रतीत होता है। 'वक्रोक्ति' का 'उक्ति' शब्द ही इस बात का परिचायक है कि इसके अन्तर्गत न तो वर्णों एवं शब्दों के सौन्दर्य को लिया जा सकता है और न ही प्रसंग एवं प्रबन्ध के वैशिष्ट्य को। एक उक्ति में भी सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए कई विधियों का उपयोग किया जा सकता है ; जैसे, अलंकारों की भाँति उनमें किसी विशिष्ट तत्त्व (=-उपमान) का मिश्रण कर देना ; या उक्ति को विचित्र या वक्र रूप में प्रस्तुत करना या अप्रस्तुत के माध्यम से सारी बात को प्रस्तुत करना। वक्रोक्ति का सम्बन्ध इनमें से केवल 'वक्रता' से ही है ; शेष विधियाँ अलंकार और ध्वनि से सम्बन्धित हैं। अतः हम वक्रोक्ति की दो सीमाएँ स्वीकार कर सकते हैं—(१) उसका क्षेत्र उक्ति या वाक्य तक सीमित है। (२) उसमें सौन्दर्य की सृष्टि केवल 'वक्रता' के आधार पर होती है। इस 'वक्रता' की और अधिक व्याख्या हम आगे विस्तार से करेंगे ; यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वक्रता से युक्त उक्ति ही—या जिस उक्ति में वक्रता हो वही—वक्रोक्ति है।

११.६. निष्कर्ष—

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के सम्बन्ध में उपलब्ध निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(क) आचार्य कुन्तक के मतानुसार 'वक्रोक्ति' का अर्थ है—वैचित्र्यपूर्ण कथन-शैली।

(ख) वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति में परस्पर विरोध है, किन्तु यह विरोध विषयगत न होकर शैलीगत है। वक्रोक्ति में शैलीगत सौन्दर्य रहता है जबकि स्वभावोक्ति में विषयगत।

(ग) वक्रोक्ति का क्षेत्र वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्धात्मकता तक मानते हुए उसमें काव्यगत सभी विशेषताओं को स्थान देने का प्रयास किया गया है जिससे अलंकार, रीति, ध्वनि आदि सभी काव्य-सिद्धान्तों का समन्वय उसमें हो जाता है ; किन्तु हम इस व्यापकता को स्वीकार करना उचित नहीं समझते।

(घ) वक्रोक्ति का मूल क्षेत्र केवल उक्ति की वक्रता तक सीमित है। इस 'वक्रता' की व्याख्या अन्यत्र विस्तार से की जायगी।[४]

●

---

४. 'वक्रता' की विस्तृत व्याख्या इसी खंड के "परंपरागत तत्त्वों की व्याख्या" शीर्षक अध्याय में देखिये।

१२
बिम्ब-विधान

●

१२.१. सामान्य परिचय—

आधुनिक युगीन पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी साहित्यकारों ने काव्य में कल्पना को महत्त्व देते हुए बिम्बात्मकता (Imagery) का समर्थन किया। उनके विचार से कल्पना यदि काव्य की मूल शक्ति है तो उस शक्ति का मुख्य कार्य बिम्ब-बिधान है; अतः कल्पना और बिम्ब-विधान में परस्पर गहरा सम्बन्ध है। फिर भी प्रारम्भ में बिम्ब-विधान की अपेक्षा कल्पना पर ही अधिक बल दिया गया था किन्तु आगे चलकर स्थिति इसके विपरीत हो गई, जिसके परिणाम-स्वरूप बिम्ब-बिधान को एक स्वतन्त्र और मौलिक सिद्धान्त के रूप में मान्यता प्राप्त हो गई। वैसे बिम्ब सिद्धान्त कल्पना सिद्धान्त की अपेक्षा बहुत संकीर्ण है, क्योंकि जहाँ कल्पना के क्षेत्र में विषय और शैली—दोनों पक्ष आते हैं वहाँ बिम्ब का सम्बन्ध मुख्यतः शैली से है। अतः यहाँ इसी की संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत की जाती है।

१२.२. बिम्ब : मनोवैज्ञानिक विवेचन—

'बिम्ब' शब्द का प्रयोग यहाँ हम अंग्रेजी 'इमेज' (Image) के समानार्थक के रूप में कर रहे हैं, जिसका अर्थ है—आकृति, प्रतिमा, रूप आदि।[1] शास्त्रीय दृष्टि से यह शब्द मूलतः मनोविज्ञान से सम्बन्धित है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार जब हम इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य जगत् की अनुभूति प्राप्त करते हैं तो उसके फलस्वरूप हमारे मानस में कुछ ऐसे प्रभाव अंकित हो जाते हैं जो मूर्त्त रूप में होते हैं। जब हम बाह्य जगत् के विभिन्न पदार्थों की अनुपस्थिति में भी उन पदार्थों का ध्यान करते हैं तो उस समय ये पूर्व संचित मूर्त्त रूप ही हमारे ध्यान के केन्द्र में या अचेतन स्तर से चेतन स्तर पर उपस्थित हो जाते हैं।[2] अस्तु, पूर्व अनुभूतियों के प्रभाव के

1-2. Modern Educational Psychology : B. N. Jha, Page 320-22.

रूप में संचित ये मूर्त्त रूप या मानस प्रतिभाएँ ही 'बिम्ब' कही जाती हैं तथा इन्हीं के माध्यम से हमारे मस्तिष्क की अनेक शक्तियाँ—मुख्यतः स्मृति और कल्पना—अपना कार्य संपादित करती हैं।[3] साहित्य के क्षेत्र में भी साहित्यकार बहुत से विषयों का वर्णन इन बिम्बों के माध्यम से ही करता है। इतना ही नहीं वह ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जिससे उसके विषय का वैसा ही बिम्ब पाठक के भी मन में उत्पन्न हो सके और इस प्रकार बिम्ब-योजना के माध्यम से ही साहित्यकार की अनुभूति पाठक के मन तक प्रेषित होती है। बिम्ब-सिद्धान्त इसी बिम्ब-योजना को साहित्य में सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करता है।

१२.३. साहित्यिक बिम्ब : स्वरूप-मीमांसा—

वैसे तो हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में—जहाँ भी कल्पना का उपयोग करते हैं—आंशिक रूप में बिम्बों की सहायता लेते हैं, किन्तु यहाँ हमारा लक्ष्य केवल काव्यगत बिम्बों या साहित्यिक बिम्बों के ही विवेचन तक सीमित है। विभिन्न विद्वानों ने काव्यगत बिम्बों की विभिन्न विशेषताओं का उद्घाटन किया है, जिनमें से कुछ ये हैं—

(क) "अपने सरलतम रूप में यह (बिम्ब) शब्दों के माध्यम से निर्मित एक चित्र है।"[4]

(ख) "काव्यात्मक बिम्ब शब्दों के माध्यम से निर्मित एक ऐसा चित्र है जिसका किसी न किसी प्रकार के ऐन्द्रिक गुण से संपर्क हो।"[5]

(ग) "काव्यात्मक बिम्ब एक ऐसा शब्द-चित्र है जो कि भाव या संवेग से अनुप्राणित होता है।"[6]

(घ) "बिम्ब एक ऐसा शब्द है जो कि ऐन्द्रियानुभूति का भाव जाग्रत करता है।"[7]

(ङ) "किसी भी कलात्मक बिम्ब का आधार यह है कि उसका कार्य (क्या) है ? वह ऐन्द्रिक गुणों और उत्तेजनात्मक प्रभाव उत्पन्न करने में (कितना) योग देता है।.....बिम्ब, यद्यपि वह सदा ऐन्द्रिकता से युक्त होता है, फिर भी अपने आप में

---

3. Modern Educational Phychology : B. N. Jha, Page 320-22.
4. "In its simplest from, it is a picture made out of words."
—C. D. Lewis : Poetic Image, Page 18.
5. "The poetic image is a picture in words touched with some sensuous quality", The same, Page 18. Same, Page 19.
6. "...A poetic image is a word-picture charged with emotion or passion."
7. "An image is a word which arouses ideas of sensory peraption."
—Robin Skelton : The Poetic pattern, Page 90.

अनिश्चित होता है, क्योंकि उसका असली रूप उसके इसी (प्रभावोत्पादक) कार्य में निहित है।"[८]

(च) "बिम्ब-विधान को अलंकार या साज-सज्जा के रूप में (ऊपर से थोपा हुआ तत्त्व) नहीं समझना चाहिए, यह संपूर्ण काव्य का एक आंगिक अवयव होता है।"[९]

(छ) "बिम्ब को वस्तु की वास्तविक प्रतिलिपि मात्र न मानकर उसे एक ऐसे विचार से समन्वित समझना चाहिए जो कि (वस्तु की किसी) ऐन्द्रिक विशेषता पर ध्यान केन्द्रित कर दे।"[१०]

उपर्युक्त उक्तियों के आधार पर काव्यात्मक बिम्ब की सामान्यतः पाँच विशेषताएँ बताई जा सकती हैं जो क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) बिम्ब क्या है ? =चित्र (क, ख, ग के अनुसार)।
(२) बिम्ब का माध्यम =शब्द (क, ख, ग, घ के अनुसार।
(३) बिम्ब का गुण =ऐन्द्रिकता (ख, ग, ङ, च के अनुसार)।
=भावात्मकता (ग के अनुसार)।
(४) बिम्ब का लक्ष्य या कार्य =ऐन्द्रिक उत्तेजना (ङ)।
=भावोद्वेलन (ङ)।
(५) बिम्ब के निषेधात्मक लक्षण=बाह्य रूप से आरोपित अलंकार नहीं (च)
=केवल प्रतिलिपि मात्र नहीं (छ)।

काव्यात्मक बिम्ब की इन पाँच विशेषताओं को बिम्ब के पाँच सामान्य लक्षणों के रूप में स्वीकार करते हुए इनका और अधिक स्पष्टीकरण किया जाता है।

१२.४. साहित्यिक बिम्ब के पाँच लक्षण—

(१) **चित्रात्मकता**—साहित्यिक (काव्यात्मक) बिम्ब का सबसे पहला लक्षण चित्रात्मकता है। वस्तुतः यह लक्षण न केवल साहित्यिक बिम्ब में अपितु प्रत्येक प्रकार के बिम्ब में होता है—'बिम्ब' का अर्थ ही वास्तव में 'प्रतिमा' या 'चित्र' है। किन्तु

---

8. "Thus what any art image depends finally on its function ; on its contribution by sensuous character and evocative effect..... The image, although always a sensuous form, is indeter minate in itself and receives it true character from its contibutory function." —Ronald Peacock : The Art of Drama, Page 34.
9. "Imagery is not to be considered as mere ornament or decoration. It is an organic part of a poem as a whole."
—J. R. Kreuzer : Elements of poetry, Page 121.
10. "Image must not be conceived as material copy of thing but merely as the content of a thought in which attention is centred on sensory quality of some sort."
—J. E. Downey : Creative Imagination, Page 12.

यहाँ हमें यह स्पष्ट रूप में जान लेना चाहिए हैं बिम्बों के चित्रात्मक होते हुए भी प्रत्येक चित्र को हम बिम्ब नहीं कह सकते। सामान्यतः 'चित्र' शब्द से हमारा आशय किसी कलाकार द्वारा रेखाओं के माध्यम से प्रस्तुत रूपाकृति की प्रतिलिपि से होता है—इस दृष्टि से चित्र मनुष्य द्वारा निर्मित कृत्रिम रचना है, जबकि बिम्ब हमारे मानस में बाह्य प्रभाव से निर्मित प्राकृतिक रचना है। चित्रकार अपने मानसिक बिम्ब की ही प्रतिलिपि कागज पर रेखाओं के माध्यम से प्रस्तुत करता है—इस दृष्टि से कलात्मक चित्र 'बिम्ब' नहीं, अपितु 'प्रतिबिम्ब' मात्र हैं—वास्तविक बिम्ब तो हमारे मन के अन्तर्गत ही स्थित रहते हैं।

(२) **शब्द-रूपात्मकता**—साहित्यिक बिम्ब शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत होता है, अतः इसका दूसरा लक्षण शब्द-रूपात्मकता है वस्तुतः यह शब्द-रूपात्मकता बिम्ब की अपनी विशेषता नहीं है ; अपितु साहित्य-क्षेत्र की विवशता है। साहित्यकार को प्रत्येक बात शब्दों के माध्यम से ही कहनी पड़ती है—यदि शब्दों को छोड़कर वह किसी और माध्यम को अपनावे तो वह साहित्यकार न रहकर कुछ और बन जाता है ; इसलिए साहित्यकार अपने मानस-बिम्बों को भी शब्दों के माध्यम से ही प्रस्तुत करता है किन्तु यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या शब्दों के माध्यम से बिम्बों को प्रस्तुत करना संभव है ? गहराई से सोचने पर इसका उत्तर निषेधात्मक रूप में ही प्राप्त होगा। किसी भी बिम्ब का जैसा प्रतिबिम्ब रंग और रेखाओं के माध्यम से सम्भव है, वैसा शब्दों के माध्यम से सम्भव नहीं। शब्दों के माध्यम से किसी वस्तु का वर्णन, विवरण या विश्लेषण तो संभव है किन्तु उसका वास्तविक चित्र या प्रतिबिम्ब प्रस्तुत नहीं हो सकता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि हम किसी भी व्यक्ति को, जिसे हमने पहले नहीं देखा है—केवल उसके शाब्दिक विवरण के आधार पर ही उसकी रूपाकृति का ऐसा बोध प्राप्त नहीं कर सकते जिससे कि उसे देखने पर तुरन्त पहचान लें जबकि इसके विपरीत हम किसी भी अनजान व्यक्ति के चित्र के माध्यम से उसकी सही पहचान कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना कि साहित्यकार शब्दों के माध्यम से चित्र प्रस्तुत करता है—या किसी वस्तु का चित्रण करता है, असत्य है। फिर भी ऐसा कहा जाता है—इसका कारण यह है कि यहाँ हम 'चित्र' और 'चित्रण' दोनों शब्दों को ही उनके अभिधेयार्थ में प्रयुक्त नहीं करते अपितु उनका प्रयोग लक्षणा में करते हैं। जिस प्रकार 'मोहन गधा है'—में गधे का सामान्य अर्थ बदल जाता है, वैसे ही यहाँ 'चित्र' और 'चित्रण' का भी प्रचलित अर्थ लक्ष्यार्थ में बदल जाता है। किन्तु जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है—यदि हम शास्त्रीय या वैज्ञानिक विवेचन में शब्दों को लक्ष्यार्थ में प्रयुक्त करने लगे तो उससे हमारा विवेचन असंगत एवं त्रुटिपूर्ण हो जायगा। अतः यहाँ भी हमें 'चित्र' और 'चित्रण' के स्थान पर ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जोकि इनके लक्ष्यार्थ को वाच्यार्थ में प्रस्तुत कर सकें। इसके लिए सबसे पहले हमें 'चित्र' और 'चित्रण' से सम्बन्धित कुछ उदाहरणों का विश्लेषण करके

उसका लक्ष्यार्थ जान लेना होगा—अतः यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं जिन्हें 'चित्र' और 'चित्रण' की संज्ञा दी गई है[११]—

(अ) बहुत दिनों बाद खुला आसमान,
निकली है धूप, हुआ खुश जहान।
दिखी दिशाएँ झलके पेड़—
चरने को चले ढोर-गाय-भैंस-भेड़,
खेलने लगे लड़के छेड़-छेड़—
लड़कियाँ घरों को कर भासमान।
लोग गाँव-गाँव को चले,
कोई बाजार, कोई बरगद के पेड़ के तले,
जाँघिया—लंगोटा ले सँभले
तगड़े-तगड़े सीधे नाजवान।

(खुला आसमान—निराला)

इस उद्धरण के सम्बन्ध में डा० शंभूनाथसिंह लिखते हैं—"इसमें कई दिनों बाद आसामान खुलने पर ग्रामीण जनता का कर्ममय प्रसन्न जीवन **चित्रित** किया गया है। इस प्रकार यह एक संश्लिष्ट **चित्र** है जिसमें अनेक वस्तुओं और घटनाओं का ऐसा संघटन हुआ है कि सब मिलाकर पूर्ण चित्र बन गया है।"[१२]

यदि हम डा० सिंह की इस टिप्पणी को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त उद्धरण का विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट है कि यहाँ 'चित्रण' और 'चित्र' दोनों शब्द ही वाच्यार्थ की दृष्टि से अर्थ-हीन हैं। चित्र का बोध एक निरक्षर व्यक्ति या उस भाषा को न जानने वाला व्यक्ति भी प्राप्त कर सकता है जबकि उपर्युक्त पंक्तियों में जिस खुले आसमान का विवरण है उसे हिन्दी जानने वाला साक्षर व्यक्ति ही समझ सकता है। दूसरे, इसमें आसमान, धूप, पेड़, पशुओं, बच्चों आदि का विवरण मात्र प्रस्तुत किया गया है जिससे उनका प्रत्यक्ष-बोध नहीं होता अपितु उनके अर्थ का बोध होता है, अतः 'चित्रण' भी लाक्षणिक प्रयोग है। इस विवरण को पढ़कर हमारे मन में उल्लिखित वस्तुओं का विचार उदित होता है, धीरे-धीरे उस विचार से बँधी हुई कुछ मानस-प्रतिमाएँ हमारे ध्यान के केन्द्र में आ जाती हैं, जिससे 'खुले आसमान' का एक दृश्य हमारे मन में अंकित हो जाता है; जिस प्रकार चित्र को देखकर कोई दृश्य मन में अंकित होता है, वैसे ही—उससे थोड़े भिन्न रूप में—उपर्युक्त विवरण से भी हमारी कल्पना चक्षुओं के समक्ष किसी दृश्य का चित्र प्रस्तुत हो जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त 'विवरण' में और 'चित्रण' में प्रभाव-साम्य है, या यों कहिए

---

११. छायावाद-युग : डा० शंभूनाथ सिंह, पृ० २८५।
१२. वही, पृ० २८६।

कि यह विवरण मानस-चित्रों (या मानस बिम्बों) को मन के चेतन स्तर पर आकर्षित करता है या बाह्य चित्रों का सा प्रभाव उत्पन्न करता है, अतः साहित्य के क्षेत्र में 'चित्र' या 'चित्रण' का लक्ष्यार्थ हुआ—वस्तुओं का ऐसा विवरण जो मानस-चित्रों को उत्पन्न करे (=उन्हें अचेतन स्तर से चेतन स्तर पर आकर्षित करे) या स्थूल चित्रों का सा प्रभाव उत्पन्न करे। अस्तु, भाषा की लाक्षणिकता से प्रेरित होकर जिस प्रकार हम 'लोहे की पटरी पर चलने वाली गाड़ी' को केवल मात्र 'पटरी' या 'रेल' मात्र कह कर काम चलाते हैं वैसे ही साहित्य के क्षेत्र में हम 'मानस-चित्रों को उत्पन्न करने वाले शाब्दिक विवरण' को या 'स्थूल चित्रों जैसा प्रभाव उत्पन्न करने वाले शाब्दिक विवरण को' चित्र या चित्रण कह देते हैं। प्रयत्न-लाघव की दृष्टि से भले ही हमारा यह प्रयास स्तुत्य हो किन्तु ऐसे प्रयोगों में उनके लक्ष्यार्थ एवं वाच्यार्थ के अन्तर को ध्यान में न रखने पर हम बहुत बड़ी भ्रान्ति के भी शिकार हो सकते हैं।

उपर्युक्त निष्कर्ष बिम्ब-विधान पर भी लागू होता है। साहित्य में शब्दों के माध्यम से कभी भी बिम्ब-विधान नहीं होता; होता यह है कि साहित्यकार अपने विषय का ऐसा विवरण प्रस्तुत करता है जिसे पढ़कर पाठक के मानस-बिम्ब अचेतन-स्तर से चेतन-स्तर पर आ जाते हैं। तथा इस प्रकार के विवरण को ही हम उक्त लाक्षणिकता की प्रेरणा से एवं प्रयत्न-लाघव के उद्देश्य से 'बिम्ब-विधान' की संज्ञा दे देते हैं। अस्तु 'बिम्ब-विधान' का वास्तविक अर्थ है—'बिम्बों को आकर्षित या उदित करने वाला शाब्दिक वर्णन या विवरण।' अतः हमें इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि कवि या साहित्यकार अपने वर्ण्य विषय का वास्तविक चित्र या बिम्ब प्रस्तुत करता है; वस्तुतः वह केवल उनके संकेत—या शाब्दिक संकेत मात्र प्रस्तुत करता है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि साहित्यकार के इस विवरण में ऐसी कौनसी विशेषता होती है कि जिससे वह पाठक के मानस-बिम्बों को तरंगित करने में समर्थ होता है? इसका उत्तर यह है कि वह विषय की भौतिक विशेषताओं—उसके आकार प्रकार, उसके रूप-रंग, उसकी मुद्राओं का उल्लेख इतने विस्तार एवं इतनी सूक्ष्मता से करता है जिससे कि उस विषय से सम्बन्धित विविध मानस-बिम्ब एक साथ एकत्रित एवं परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं। दूसरे, वह अपने विषय की सामान्य सूक्ष्म अभौतिक विशेषताओं के स्थान पर उसकी विशिष्ट स्थूल भौतिक विशेषताओं का आख्यान करता है; जिससे पाठक के मन में विषय का केवल प्रत्यय (Conception) ही नहीं, उसका बिम्ब (Image) उदित होता है। उदाहरण के लिए पीछे उद्धृत 'खुले आसमान' सम्बन्धी विषय को इस प्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है—"आसमान के साफ हो जाने से प्रकृति पशु-वर्ग और मानव-समूह में एक नई चेतना जागई है।"—किन्तु यह प्रस्तुतीकरण इतना संक्षिप्त, इतना सामान्य और इतना अभौतिक (सूक्ष्म) है कि इससे हमारे मन में इसका बिम्ब उदित नहीं होता। यदि

हम दोनों प्रकार के प्रस्तुतीकरण की तुलना करें तो यह अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है, देखिये—

विषय—खुला आसमान

सामान्य वर्णन		विशिष्ट रूप में (काव्यात्मक) विवरण
१. आसमान के साफ हो जाने से····	=	(१) 'बहुत दिनों बाद खुला आसमान'
२. प्रकृति····में	=	(२) 'धूप', 'पेड़', 'बरगद का 'पेड़',
३. पशु-वर्ग में····		(३) 'ढोर, गाय, भैंस, भेड़',
४. मानव-समूह में		(४) 'लड़के', 'लड़कियाँ', 'लोग', 'सीधे, तगड़े, नौजवान,'
५. चेतना आ गई		(५) 'निकली', 'झलके', 'चरने को चले', 'खेलने लगे', 'गाँव-गाँव को चले',

उपर्युक्त तुलना से ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(१) सामान्य वर्णन संक्षिप्त है जबकि विशिष्ट वर्णन विस्तृत है। उसमें एक संज्ञा के स्थान पर अनेक संज्ञाएँ और एक क्रिया के स्थान पर अनेक क्रियाएँ दी गई हैं।

(२) सामान्य वर्णन में प्रकृति, पशु, मनुष्य आदि जातिवाचक संज्ञाओं का प्रयोग अधिक है जबकि दूसरे में उनके विशिष्ट प्रकार का उल्लेख है।

(३) पहले में जहाँ 'चेतना आगई' जैसी सूक्ष्म भावात्मक क्रिया का उल्लेख है जबकि दूसरे में 'निकली····चले' जैसी स्थूल क्रियाओं का उल्लेख है।

(४) पहले में रूप-रंगादि से सम्बन्धित विशेषणों जैसे, सीधे, तगड़े-तगड़े—का प्रयोग नहीं हुआ जबकि दूसरे में हुआ है।

अस्तु, इससे स्पष्ट है कि विषय के विस्तृत विवरण, उसमें जातिवाचक के स्थान पर विशिष्ट बोधक संज्ञओं के प्रयोग, सूक्ष्म भावात्मक क्रियाओं के स्थान पर स्थूल कार्य-व्यापारों के उल्लेख, तथा रूप-रंगादि बाह्य गुणों से सम्बन्धित विशेषणों के प्रयोग आदि से उसमें ऐसी क्षमता उत्पन्न हो जाती है कि जिससे वह पाठक के मानस-बिम्बों को आकर्षित, उदित या तरंगित कर सके; ऐसे ही विवरणों को

लाक्षणिक शब्दावली में 'चित्रण' या 'बिम्ब-विधान' कहते हैं, जबकि वस्तुतः उनका अर्थ केवल 'चित्रों जैसा प्रभाव उत्पन्न करने वाला 'विवरण' या 'मानस-बिम्बों को आकर्षित करने वाला विवरण' होता है।

(३) **ऐन्द्रिकता**—साहित्यिक बिम्ब का तीसरा लक्षण उसकी ऐन्द्रिकता है। 'ऐन्द्रिकता' का तात्पर्य है—'इन्द्रिय से सम्बन्धित'; इस दृष्टि से बिम्ब का चक्षु, घ्राण, स्पर्श, श्रवण आदि इन्द्रियों में से किसी से कोई सम्बन्ध होता है, किन्तु यह सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित होता है—यह विचारणीय है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, साहित्यिक बिम्ब में वस्तुओं का इस प्रकार विवरण प्रस्तुत किया जाता है कि जिससे वह हमारी मानस-प्रतिमाओं को उद्वेलित कर सके। किन्तु मानस-प्रतिमाओं को उद्वेलित करने के कई माध्यम हैं—कई बार किसी सूक्ष्म विचार एवं भाव की प्रेरणा से भी मानस-प्रतिमाएँ तरंगित हो जाती हैं क्योंकि प्रत्येक प्रकार की बौद्धिक एवं भावात्मक अनुभूति में—जिसे सामान्य भाषा में मन का तरंगित या उद्वेलित होना कहते हैं—मानस-बिम्बों का उद्वेलन होता है। उदाहरण के लिये, जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति 'लखपति' है तो इससे यह सोचा जा सकता है कि उसके पास अपना बंगला, अपनी कार आदि होंगे। किन्तु 'लखपति' कहते ही एकएक हमारा ध्यान बंगला और कार की ओर नहीं जाता—कुछ क्षणों के बाद ज़ाता है। इसके विपरीत यदि हम यह कहें कि 'अमुक व्यक्ति चार कारों का मालिक है,' तो हमारा ध्यान तुरंत कारों की ओर चला जायगा या यों कहिए कि हमारे मन में चार कारों का एक ऐसा बिम्ब उदित हो जायगा जिसका सम्बन्ध चक्षु इन्द्रिय से है। अस्तु, जहाँ 'लखपति' शब्द का चक्षु इन्द्रिय से सीधा सम्बन्ध नहीं है, वहाँ 'चार कारों का' सीधा सम्बन्ध है। अतः जहाँ विषय के ऐसे पक्षों का उल्लेख या वर्णन किया जाय जिनका अनुभव वास्तविक जीवन में इन्द्रियों के माध्यम से होता हो, तो इसे ही ऐन्द्रिकता कहते हैं। जब विषय-वस्तु की ऐन्द्रिक विशेषताओं का विवरण प्रस्तुत किया जायगा तो अवश्य ही सामान्य वर्णन की अपेक्षा इस प्रकार का वर्णन पाठक के मन को अधिक प्रभावित करेगा क्योंकि मन का इन्द्रियों से सीधा सम्बन्ध है। यही कारण है कि साहित्य में बिम्बों के लिए ऐन्द्रिक गुणों से युक्त होना आवश्यक माना गया है।

(४) **भावोत्पादक**—साहित्य में बिम्ब का अंतिम लक्ष्य पाठक के भावों का उद्वेलित करना होता है—उसकी चित्रात्मकता और ऐन्द्रिकता क्रमशः इसी की पूर्ति में सहायता देती हैं। बिम्ब में यह क्षमता उसी स्थिति में आ सकती है जबकि वह स्वयं भाव-प्रेरित एवं भावाविष्टित हो। भावावेष्टित बिम्ब ही भावोद्वेलन कर सकता है। 'भावावेष्टिता' को यहाँ और अधिक स्पष्ट करें तो कहा जा सकता है कि जब स्वयं साहित्यकार किसी भाव-विशेष से प्रेरित या उद्वेलित होकर साहित्य-रचना करता है तो उसका वर्णन स्वतः ही बिम्बात्मकता, चित्रात्मकता एवं ऐन्द्रिकता से युक्त

हो जाता है जिससे पाठक को भी उक्त भाव की अनुभूति होती है। जहाँ साहित्यकार का वर्णन चित्रात्मकता और ऐन्द्रिकता से युक्त होते हुए भी हृदय को नहीं छूता हो—किसी भाव की अनुभूति प्रदान नहीं करता हो, वहाँ समझना चाहिए कि उसमें भावात्मकता का अभाव है। बिम्ब की सफलता के लिये प्रायः सभी विद्वानों ने भावात्मकता के महत्त्व को स्वीकार किया है। स्वयं कॉलरिज महोदय ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—"बिम्ब चाहे कितने ही सुन्दर क्यों न हों—अपने-आप में वे काव्यत्व के प्रमाण नहीं हैं। उन्हें मौलिक प्रतिभा (या काव्य-प्रतिभा) का प्रमाण उसी सीमा तक माना जा सकता है जहाँ तक कि वे भावावेग से वेष्टित हों या किसी भाव-प्रेरित विचार या बिम्ब से सुसम्बद्ध हों।"[13] यही बात आगे चलकर बिम्ब सिद्धान्त के और बहुत से समीक्षकों ने स्वीकार की है जिनमें श्री सी० डी० लेविस,[14] रोज-मंड ट्यूबी,[15] रोनाल्ड पीकॉक[16] आदि का नाम उल्लेखनीय है। इस कथन की सार्थकता का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिये हम यहाँ एक ही कवि के दो दोहे प्रस्तुत कर सकते हैं जिनमें से एक भावशून्य बिम्ब का तथा दूसरा भावावेष्टित बिम्ब का उदाहरण है—

(१) इत आवति चलि जात उत, चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सैं रहै, लगी उसासनु साथ॥
—बिहारी-रत्नाकर; ३१७।

(२) बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै, दैन कहैं नटि जाइ॥ —वही; ४७२

उपर्युक्त उदाहरणों में से प्रथम में भी बिम्ब की आयोजना हुई है, उसे पढने से हमारे कल्पना-चक्षुओं के सामने साँसों के साथ ही इधर-उधर झूलती हुई नायिका का बिम्ब प्रस्तुत हो जाता है किन्तु उससे हमें किसी भाव की अनुभूति नहीं होती जबकि दूसरे उदाहरण की अंतिम पंक्ति में नायिका की चेष्टाओं का ऐसा निरूपण हुआ है जो कि हमारे मन में भावोत्पादक बिम्बों को तरंगित करता है; अतः साहित्यिक दृष्टिकोण से यही सफल बिम्ब-योजना का उदाहरण है।

---

13. "Images however beautiful.....do not of themselves characterize the poet. They become proofs of original genius only as far as they are modified by pre-dominant passion; or by associated thoughts or images awakened by that passion."
14. C. D. Lewis: The poetic image, Page 20.
15. "The second purpose for whole poems which makes for emphasis upon the sensuous function of images is much more inclusive; the accurate representation of an authoris emotional experience or state of mind, the communication of that state in all its sensuous fulness being regarded as a sufficient aim for a poem."—Rosemond Tuve: Elizabathen & Metaphysical Imagery, Page 14.
16. Ronald Peacock: The Art of Drama, Page 32, and 54.

(५) **आरोपण का अभाव**—बिम्ब का पाँचवा लक्षण यह है कि वह अलंकारों की भाँति मूल विषय पर बाहर से आरोपित तत्त्व नहीं होता अपितु उसका अंतरंग अवयव होता है अन्यथा अलंकार और बिम्ब में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। उदाहरण के लिये जब हम कहते हैं—'वह चाँद सी सुन्दर है।'—तो हमारे मन में 'चाँद' का बिम्ब उदित होता है, किन्तु फिर भी हम इसे 'बिम्ब-विधान' का उदाहरण न मान कर उपमा अलंकार का उदाहरण मानेंगे क्योंकि यहाँ बिम्ब प्रस्तुत विषय से नहीं अपितु अप्रस्तुत से सम्बन्धित है तथा यहाँ प्रस्तुत का प्रत्यक्ष-बोध नहीं होता अपितु अप्रस्तुत के सादृश्य के माध्यम से उसका बोध होता है। ध्यान रहे जहाँ बिम्ब का लक्ष्य प्रत्यक्ष या ऐन्द्रिक बोध के द्वारा अनुभूति प्रदान करना होता है वहाँ अलंकार सादृश्य का मार्ग ग्रहण करता है। अस्तु, साहित्यिक बिम्ब के लिये हमें यह भी शर्त स्वीकार करनी होगी कि वह प्रस्तुत विषय या उपमेय का ही अंग होता है, अप्रस्तुत या उपमान के अंगी रूप में नहीं। कुछ पाश्चात्य विद्वान इस अन्तर को ध्यान में न रखते हुए उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि को भी बिम्ब-विधान में ले लेते हैं जो वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक नहीं। वस्तुतः या तो हमें बिम्ब-विधान और अलंकार-योजना के इस अन्तर को ध्यान में रखना होगा अन्यथा इन दोनों सिद्धान्तों को घुला-मिला कर एक मान लेना होगा और उस स्थिति में सभी अलंकारों को बिम्ब-विधान के अन्तर्गत लेते हुए साहित्य-शास्त्र में से अलंकार एवं तत्सम्बन्धी शब्दावली को बहिष्कृत कर देना होगा। हमारे विचार से ऐसा करने की अपेक्षा यह अधिक उचित होगा कि हम दोनों सिद्धान्तों की सीमा को स्वीकार करते हुए दोनों की ही सत्ता को उचित रूप में मान्यता दें।

अस्तु, बिम्ब और अलंकार की सीमा यही है कि जहाँ बिम्ब से प्रस्तुत विषय (उपमेय) की ऐन्द्रिक विशेषता का बोध प्रत्यक्ष रूप में होता है; वहाँ अलंकार में उसका बोध उपमान या अप्रस्तुत के मध्यम से होता है। दूसरे शब्दों में, बिम्ब मूल विषय पर बाह्य वस्तु (=अप्रस्तुत) के रूप में आरोपित नहीं होता; वह मूल का ही अविभाज्य अंग होता है।

१२.५. बिम्बों का वर्गीकरण—

बिम्बों को विभिन्न आधारों पर कई वर्गों में विभाजित किया जाता है, जिनमें मुख्यतः तीन आधार उल्लेखनीय हैं—(१) बिम्बों की विषय-वस्तु के आधार पर (२) बिम्बों से सम्बन्धित इन्द्रियों के आधार पर (३) बिम्बों के प्रभाव के आधार पर। ये तीनों आधार ही वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। बिम्बों के माध्यम से प्रस्तुत विषय-वस्तु की कोई सीमा और संख्या निश्चित नहीं की जा सकती, अतः उनके आधार पर वर्गीकरण का प्रयास करना अनावश्यक है। बिम्ब-ग्रहण से हमारी विभिन्न इन्द्रियाँ—चक्षु, स्वाद, घ्राण, श्रवण आदि—उत्तेजित होती हैं, इसी दृष्टि से

बिम्बों के अनेक प्रकार—घ्राण परक, स्वाद परक, ध्वनि परक, चाक्षुष आदि—निश्चित किये गये हैं,[१७] किन्तु यह वर्गीकरण भी भ्रामक है। इससे यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि बिम्ब वस्तुओं के रूप की भाँति उनके स्वाद, गुण, गंध ध्वनि आदि का भी बोध कराते हैं—जबकि वस्तुतः बिम्ब का एक मात्र कार्य रूप का बोध कराना है, यह दूसरी बात है कि एक वस्तु का रूप वस्तु के निजी गुण के कारण चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त किसी अन्य इन्द्रिय को भी उत्तेजित कर दें। उदाहरण के लिए, बिम्बों के माध्यम से मिठाइयों का प्रत्यक्षीकरण हमारी स्वादेन्द्रियों को, फूलों का प्रत्यक्षीकरण घ्राणेन्द्रिय को प्रभावित कर सकता है, किन्तु इसे हम सीधे बिम्ब का प्रभाव न मान कर वस्तुओं के प्रत्यक्षी करण की प्रतिक्रिया का प्रभाव मानेंगे। बिम्ब का सम्बन्ध तो केवल प्रत्यक्षीकरण, या रूप के बोध से है—स्वाद, गंध और ध्वनि को बिम्ब के माध्यम से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। अवश्य ही कविता में स्वाद, गंध, ध्वनि की अनुभूतियाँ भी व्यक्त की जाती हैं, किन्तु ऐसा सीधे बिम्ब के माध्मम से नहीं होता। पहले बिम्ब रूप का बोध जागृत करते हैं, तदन्तर अन्य इन्द्रियाँ आकर्षित होती हैं। अतः बिम्ब का सीधा सम्बन्ध, चाक्षुष अनुभूतियों से ही माना जा सकता है। अन्य से नहीं।

इसी प्रकार बिम्बों का एक वर्गीकरण उनसे सम्बन्धित विचार या भाव के आधार पर किया गया है। इस वर्गीकरण के अनुसार कुछ बिम्ब भावात्मक हैं, कुछ बौद्धिक और कुछ मिश्रित। भावात्मक बिम्ब भावों को प्रस्तुत करते हैं जबकि बौद्धिक बिम्ब शुष्क तथ्यों का बोध कराते हैं।[१८] मिश्रित बिम्बों में भाव और विचार दोनों का योग रहता है। यह वर्गीकरण भी विषय-वस्तु पर ही आधारित है उसके रूप-भेद पर नहीं। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि अनेक बार तथ्य या विचार ही बिम्बात्मक रूप में प्रस्तुत होकर भावात्मक बन जाते हैं। उदाहरण के लिए "लोभ करना बुरा है" इस तथ्य को कबीर बिम्बों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं।

माखी गुड़ में गडि रही, पंख रही लपटाय।
ताली पीटे सिर धुनै मीठै बोइ माय॥

वस्तुतः बिम्ब का वह महत्त्व ही इसी में है कि वह शुष्क तथ्यों को भी रोचक ढंग से प्रस्तुत कर देता है। फिर भी जो बिम्ब विशुद्ध बौद्धिक ही बने रहते हैं, उन्हें काव्यात्मक बिम्ब नहीं कहा जा सकता, अतः इस प्रकार का वर्गीकरण भी उपयोगी नहीं है।

बिम्बों के कार्य की दृष्टि से भी दो भेद किये गये हैं, जैसे, (१) अलंकर-

---

17. Elements of Poetry : J. R. Krekyer, 116.
18. Language and Reality : M. Hope Parker, Page 13.

णात्मक बिम्ब (Decorative Image) (२) क्रियात्मक बिम्ब (Functional Image)[१९] जहाँ बिम्ब मूल विषय की केवल साज-सज्जा के लिए प्रयुक्त होते हैं उन्हें अलंकरणात्मक बिम्बों की संज्ञा दी गई है जबकि दूसरे प्रकार के बिम्ब मूल विषय के अनिवार्य उपकरण के रूप में प्रयुक्त होते हैं ; वे किसी संस्था के सक्रिय सदस्यों की भाँति मूल विषय में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान करते हैं—इसी से इन्हें क्रियात्मक कहा गया है। इसी प्रकार बिम्बों की प्रभावात्मकता एवं साहित्यगत उपयोगिता के आधार पर भी उनके दो भेद किये गये हैं—(१) सजीव बिम्ब (The living Image) एवं। (२) निर्जीव या खंडित बिम्ब (The broken Image)[२०] जो बिम्ब अपनी भावात्मकता के कारण रस-सृष्टि में सहायक होते हैं वे ही सजीव बिम्ब कहे गये हैं जबकि प्रभावहीन बिम्बों को खंडित बिम्बों की श्रेणी में रखा जाता है। दूसरे शब्दों में इन बिम्बों को सफल और असफल बिम्बों की भी संज्ञा दी जा सकती है। अलंकरणात्मक बिम्बों एवं क्रियात्मक बिम्बों का समावेश भी क्रमशः असफल एवं सफल बिम्बों में किया जा सकता है।

बिम्ब के और भी अनेक ऐसे भेद किये गये हैं जो किसी निश्चित आधार को लेकर नहीं चलते। उदाहरण के लिये श्री रोबिन महोदय ने निम्नलिखित दस प्रकार के बिम्बों का उल्लेख किया है[२१]—

(1) Simple Image (सरल बिम्ब)
(2) Immediate Image (तात्कालिक बिम्ब)
(3) Diffuse Image (विशृंखलित बिम्ब)
(4) Abstract Image (प्रतिमा-शून्य बिम्ब)
(5) Combined Image (संयुक्त बिम्ब)
(6) Complex Image (मिश्रित बिम्ब)
(7) Combined Abstract Image (संयुक्त प्रतिमा-शून्य बिम्ब)
(8) Abstract Combined and Complex Image (प्रतिमा-शून्य संयुक्त एवं मिश्रित बिम्ब)
(9) Allegorical Image (रूपकात्मक बिम्ब)
(10) Emblematic Image (लाक्षणिक बिम्ब)

उपर्युक्त भेदों से बिम्ब के विभिन्न प्रकारों का बोध होता है किन्तु यह वर्गीकरण स्पष्ट एवं निश्चित नहीं है। एक बिम्ब 'सरल' होने के साथ 'तात्कालिक' भी हो सकता है तो दूसरी ओर विशृंखलता का गुण प्रत्येक असफल बिम्ब में मिल सकता है। इसी प्रकार आठवें भेद में चौथे, पाँचवें और छठे भेद को संयुक्त कर दिया गया

19. The Poetic Pattern : Robin Skelton, Page 93.
20. The Poetic Image : C. D. Lewis, Page 90.
21. The Poetic Pattern : Robin Skelton, Page 90-91.

है जिससे सिद्ध होता है कि एक ही बिम्ब में तीनों प्रकार के लक्षण मिल सकते हैं—ऐसी स्थिति में इनके अलग-अलग भेदों की क्या आवश्यकता है। इनमें से कुछ भेद ऐसे भी हैं जो कि स्वयं बिम्ब की बिम्बात्मकता के विरुद्ध पड़ते है ; जैसे, प्रतिमा-शून्य बिम्ब (Abstract Image), रूपकात्मक बिम्ब (Allegorical Image), लाक्षणिक बिम्ब (Emblematic Image) आदि। वस्तुतः प्रतिमा-शून्यता, रूपकात्मकता और लाक्षणिकता—ये तीनों विशेषताएँ ऐसे गुण-धर्मों को सूचित करती हैं जो बिम्ब के मूल स्वरूप के ही प्रतिकूल हैं ; अतः ये भेद असंगत सिद्ध होते हैं। अस्तु, जिस प्रकार अन्य साहित्य-सिद्धान्तों में भेदोपभेदों के व्याज से अन्य सिद्धान्तों के क्षेत्र को अपने अधिकार में ले लेने की प्रवृत्ति मिलती है, उसी प्रकार उपर्युक्त वर्गीकरण भी इसी प्रवृत्ति का सूचक है। रोबिन महोदय ने अपने इन भेदों के माध्यम से बिम्ब सिद्धान्त को एक ऐसा व्यापक रूप प्रदान करने की चेष्टा की है जिससे अलंकार प्रतीक, ध्वनि आदि के सिद्धान्त इसी में समाहित हो सकें ; किन्तु इससे स्वयं बिम्ब सिद्धान्त का रूप विकृत हो जाता है, इसका ध्यान उन्हें नहीं रहा। अतः इस प्रकार के वर्गीकरण को तथा बिम्ब के विभिन्न भेदों को हम अनावश्यक मानते हुए उन्हें अस्वीकार करते हैं।

१२.६. बिम्ब और अलंकार—

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कुछ विद्वान बिम्ब सिद्धान्त को एक ऐसा व्यापक रूप प्रदान करने की चेष्टा कर रहे हैं जिससे विभिन्न अलंकार—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि—बिम्ब के ही भेद सिद्ध किये जा सकते हैं। हमारे विचार से ऐसा करना उचित नहीं। यद्यपि कुछ अलंकारों में बिम्बात्मकता का एवं कुछ बिम्बों में अलंकरणात्मकता का गुण मिलता है किन्तु फिर भी दोनों एक नहीं हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो दोनों में निम्नांकित बातों का अन्तर स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होगा—

(१) बिम्ब-विधान का क्षेत्र उपमेय तक ही सीमित रहता है उसमें उपमान या विजातीय तत्त्वों के सहयोग की आवश्यकता नहीं रहती जबकि अलंकारों में उपमान (अप्रस्तुत) या विजातीय बाह्य तत्त्वों का सन्निवेश किया जाता है।

(२) बिम्ब में ऐन्द्रिक प्रभाव के माध्यम से विषय में आकर्षण उत्पन्न किया जाता है जबकि अलंकार में तुलना या सादृश्य जैसी बौद्धिक एवं भावात्मक प्रक्रियों का सहयोग लिया जाता है।

(३) बिम्ब मुख्यतः रूप का बोध कराते हैं जबकि अलंकार रूप के अतिरिक्त अन्य गुणों की भी अनुभूति प्रदान कराते हैं।

(४) बिम्ब में स्वभावोक्ति का आधार होता है जबकि अलंकार में अतिशयोक्ति होती है।

(५) बिम्ब में वस्तु के मूल प्रभाव को हृदयंगम करवाया जाता है जबकि अलंकार के द्वारा ऐसा प्रभाव भी उत्पन्न किया जा सकता है जो मूलतः वस्तु में विद्यमान न हो।

अस्तु, उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हमें दोनों के क्षेत्र की पृथकता को स्वीकार करना चाहिए।

१२.७. बिम्ब और प्रतीक—

बिम्ब और प्रतीक को भी कभी-कभी एक समझ लिया जाता है, किन्तु दोनों में परस्पर गहरा अन्तर है—(१) बिम्ब प्रस्तुत विषय के रूप का बोध कराते हैं जबकि प्रतीक केवल प्रभाव-साम्य उत्पन्न करते हैं। (२) बिम्ब एकार्थक होते हैं, जबकि प्रतीकों में दो अर्थ एक साथ निहित रहते हैं। (३) बिम्ब का लक्ष्य चित्रात्मकता है जबकि प्रतीकों में गुण-धर्म का अंकन होता है। (४) बिम्ब स्वाभाविकता पर आधारित होते हैं जबकि प्रतीक वक्रोक्ति एवं चमत्कार पर आधारित होते हैं। (५) बिम्बों के माध्यम से ऐन्द्रिक आकर्षण उत्पन्न होता है जबकि प्रतीकों का लक्ष्य बौद्धिक आकर्षण को उद्दीप्त करने का रहता है।

अतः हम बिम्ब और प्रतीक को एक नहीं मान सकते।

१२.८. बिम्ब-सिद्धान्त का महत्त्व—

बिम्ब-सिद्धान्त का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि वह काव्य में विषय-वस्तु को स्वाभाविक रूप में—बिना किसी बाह्य द्रव्य या अलंकरण के आकर्षक बनाने का मार्ग सुझाता है। दूसरे, वह लक्षणा और व्यंजना शक्ति के स्थान पर केवल अभिधा की सहायता से ही सौन्दर्य-सृष्टि का समर्थन करता है। किन्तु दूसरी ओर इसकी कुछ सीमाएँ भी हैं। पहली सीमा तो यह है कि बिम्ब प्रतिपाद्य विषय-वस्तु के मूल सौन्दर्य को ही उद्घाटित कर सकते हैं, उनमें वे नये सौन्दर्य का आविर्भाव नहीं कर सकते। दूसरी सीमा यह है कि बिम्ब केवल ऐन्द्रिक प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं, वे ऐन्द्रिकता-शून्य चमत्कार या आकर्षण की सृष्टि में असफल सिद्ध रहते हैं। तीसरी बात यह है कि स्थूल विषयों के प्रतिपादन में ही बिम्बात्मकता का उपयोग किया जा सकता है, सूक्ष्म तत्त्वों की नियोजना में उनका अस्तित्व नहीं रहता—(यदि रहता भी है तो उसे अलंकार, उपमान या प्रतीक की संज्ञा दी जाती है, बिम्ब की नहीं)।

अस्तु, बिम्ब-सिद्धान्त को एक मर्यादित सिद्धान्त के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है—सर्व व्यापक रूप में नहीं।

१२.९. निष्कर्ष—

(क) काव्य की दृष्टि से 'बिम्ब' वस्तुतः बिम्ब या चित्र नहीं होता अपितु

एक ऐसा शाब्दिक विवरण होता है जो हमारे मानस-बिम्बों को उदित करता है।

(ख) काव्यात्मक बिम्ब की पाँच सामान्य विशेषताएँ ये हैं—(१) मानसिक बिम्ब से सम्बद्ध (२) शब्द-रूप में प्रस्तुत (३) ऐन्द्रिकता (४) भावोत्पादकता (५) आरोपण का अभाव।

(ग) बिम्ब के विभिन्न भेद अनावश्यक एवं असंगत हैं।

(घ) बिम्ब का अलंकार और प्रतीक से गहरा अन्तर है।

(ङ) बिम्ब का सम्बन्ध अभिधा शक्ति एवं स्वाभाविकता से है तथा उसमें विषयगत सौन्दर्य रहता है।



१३
प्रतीक-सिद्धान्त

●

१३.१. सामान्य परिचय—

आधुनिक युग के काव्य-सिद्धान्तों में प्रतीक (Symbol) सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी स्थापना उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ फ्रेंच कलाकारों—बौदलेअर, मलार्मे, पालवेलरी आदि—ने की थी, किन्तु आगे चलकर यह विश्व के एक बहुमान्य सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।[1] इसके प्रसार एवं विकास के साथ-साथ इसकी आधारभूत मान्यताओं एवं इसके स्वरूप में भी समय-समय पर पर्याप्त परिवर्तन एवं विकास होता रहा है तथा भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान, धर्म और साहित्य के क्षेत्र में विभिन्न दृष्टिकोणों से इसकी व्याख्या की जाती है। हम यहाँ उसके केवल साहित्य सम्बन्धी पक्ष की विवेचना नवीनतम दृष्टिकोण के आधार पर प्रस्तुत करेंगे।

१३.२. प्रतीक : शब्दार्थ—

'प्रतीक' के हिन्दी शब्द-कोषों में कई अर्थ दिये गये हैं ; जैसे, चिह्न, लक्षण, आकृति, किसी के स्थान पर या बदले में रखी हुई वस्तु।[2] दूसरी ओर 'प्रतीक' के अंग्रेजी पर्याय 'सिम्बल' (Symbol) के भी निम्नांकित अर्थ प्रचलित हैं[3]—

(अ) प्रतीक वह चिह्न होता है जिससे कोई वस्तु जानी जाती है।

(अ) स्वेच्छा से प्रयुक्त या परंपरागत संकेत।

(इ) जो किसी अन्य का प्रतिनिधित्व करता हो।

यहाँ प्रतीक एवं सिम्बल के विभिन्न अर्थों का समन्वय करते हुए कहा जा

---

1. Dictionary of world literary terms : shipley, Page 409.
२. प्रामाणिक हिन्दी शब्द-कोष।
3. Chamber's English Dictionary.

सकता है कि प्रतीक (Symbol) वह विशेष संकेत-चिह्न होता है जिसका प्रयोग स्वेच्छा से या परम्परा से किसी अन्य अर्थ के प्रतिनिधित्व के लिए होता है।

१३.३. प्रतीक : शास्त्रीय परिभाषा—

विभिन्न विद्वानों ने 'प्रतीक' की विभिन्न परिभाषाएँ की हैं—उनमें से कुछ यहाँ उद्धृत हैं—

(अ) 'प्रतीक सूच्य का प्रतिनिधि होता है।'[४]

(आ) 'एक विशेष प्रकार का संकेतात्मक शब्द प्रतीक है।'[५]

(इ) 'किसी सूच्य के एक स्तर की सत्यता का किसी अन्य सूच्य की समान सत्यता के द्वारा प्रतिनिधित्व देना ही प्रतीकवाद है।'[६]

(ई) 'सौन्दर्य शास्त्र में प्रतीक वह वस्तु है जो कि अपने तात्कलिक अभिप्राय से भिन्न किसी अन्य ऐसे अभिप्राय को सुझाता है जो कि विषय की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हो।'[७]

यद्यपि उपर्युक्त परिभाषाओं में शाब्दिक दृष्टि से परस्पर अन्तर है, तथा उनमें वक्तव्य वस्तु की मात्रा का भी अन्तर है फिर भी उनमें तथ्यों का पारस्परिक विरोध नहीं है। इन सभी परिभाषाओं में निम्नांकित तथ्यों की स्वीकृति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान है।

(१) प्रतीक का सम्बन्ध किसी न किसी सूचना से होता है।

(२) प्रतीक सूचना को प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत न करके अप्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करता है।

(३) प्रतीक में सूचनाओं या अर्थ के सदा दो स्तर रहते हैं—एक प्रत्यक्ष या तात्कालिक अर्थ, दूसरा अप्रत्यक्ष सांकेतित अर्थ।

यदि हम इन लक्षणों की तुलना शब्द-कोषानुकूल निर्धारित पूर्व परिभाषा—"प्रतीक विशेष संकेत चिह्न होता है जिसका प्रयोग स्वेच्छा से या परंपरा से किसी अन्य अर्थ के प्रतिनिधित्व के लिए होता है"—से करें तो दोनों में कोई अन्तर्विरोध दृष्टिगोचर नहीं होगा। इतना अवश्य है कि शब्द-कोष वाली परिभाषा में प्रतीक के उद्गम के सम्बन्ध में भी 'स्वेच्छा' या परंपरा' का उल्लेख करके थोड़ा प्रकाश डाल दिया गया है, जबकि उपर्युक्त परिभाषाओं में इस तथ्य का कोई निर्देश नहीं है—अतः यदि उद्गम सम्बन्धी पक्ष को छोड़ भी दें, तो शेष अंश इस प्रकार रह जायगा—

"प्रतीक विशेष संकेत-चिह्न होता है, जिसका प्रयोग किसी अन्य अर्थ के

---

4. Language and Reality : W. M. Urban, Page 403.
5. Dictionary of world literary terms : Shipley, Page 405.
6. Same.
7. Language and Reality : W. M. Urban, Page 466.

प्रतिनिधित्व के लिये होता है।" इसे हम परिभाषा कह सकते हैं, जबकि प्रतीक के सामान्य स्वीकृत लक्षण ये तीन बताये जा सकते हैं—(१) विशेष संकेत चिह्न, (२) अनेकार्थक ; जिनमें से एक सामान्य और प्रत्यक्ष तथा दूसरा विशेष और अप्रत्यक्ष होता है। (३) अप्रत्यक्ष एवं विशेष अर्थ की प्रत्यक्ष एवं सामान्य अर्थ से अधिक महत्ता।

१३.४. सामान्य चिन्ह और प्रतीक में अंतर—

अनेक विद्वानों ने प्रतीक को चिह्न (Sign) और चिह्न (Sign) को ही प्रतीक बताकर प्रतीक की व्याख्या भ्रामक ढंग से की है। इस वर्ग के विद्वानों ने भाषा के प्रत्येक शब्द को 'प्रतीक' घोषित किया है,[८] ऐसी स्थिति में प्रतीकात्मक प्रयोगों में और सामान्य प्रयोगों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। वस्तुतः इन विद्वानों ने 'सामान्य चिह्न' और 'विशिष्ट चिह्न' (प्रतीक) के अन्तर को भूला दिया। हमारी भाषा का प्रत्येक शब्द एक ऐसा सामान्य चिह्न है जिसका अर्थ उस भाषा को जानने वाला प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अवस्था में प्रायः समान रूप में ग्रहण करता है जबकि प्रतीक वह विशिष्ट चिह्न है जिसे विशेष व्यक्ति ही विशेष प्रसंग और विशेष अर्थ में ग्रहण कर पाता है। प्रतीक का अर्थ जानने के लिए पहले उसे सामान्य चिह्न में परिणत करना पड़ता है—इस प्रकार वह 'चिह्न' का भी 'चिह्न' है। उदाहरण के लिए 'ज्ञान' शब्द एक विशेष तत्त्व का चिह्न है, किन्तु 'ज्ञान' के स्थान पर प्रतीक रूप में "प्रकाश" का प्रयोग कर देने पर हम सीधे 'ज्ञान' अर्थ तक नहीं पहुँच पाते। अपितु पहले यह निश्चित करना पड़ता है कि "प्रकाश" "ज्ञान" का प्रतीक है, तदनन्तर हम सूच्य अर्थ तक पहुँच पाते हैं। अस्तु, संक्षेप में सामान्य-शब्द या संकेत-चिह्न में और प्रतीक में निम्नांकित अन्तर है—

(अ) सामान्य शब्द का अर्थ—श्लिष्ट पदों को छोड़कर—प्रायः एक होता है, जबकि प्रतीक में एक साथ कम से कम दो अर्थ विद्यमान रहते हैं।

(आ) सामान्य शब्द का अर्थ जब तक वह सार्थक एवं प्रचलित रहता है—विभिन्न व्यक्तियों एवं विभिन्न प्रसंगों में एक सा रहता है ; जबकि प्रतीकात्मक शब्द का अर्थ विभिन्न व्यक्तियों एवं विभिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न हो सकता है।

(इ) सामान्य शब्द से अर्थ स्वाभाविक एवं सहज रूप में व्यक्त होता है जबकि प्रतीक में अर्थ का आरोपण होता है।

१३.५. प्रतीकों का चिन्हों में अन्तरण—

उपर्युक्त भेदों के स्पष्टीकरण के साथ-साथ हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि

---

8. I. A. Richards : The meaning of meaning, Page 89-107.

समय के साथ-साथ प्रतीक चिह्नों में भी परिवर्तित होते रहते हैं। ज्यों-ज्यों कोई प्रतीकात्मक प्रयोग रूढ़ होता जाता है त्यों-त्यों वह अपनी विशिष्टता को खोकर सामान्य होता जाता है तथा आगे चलकर वह 'स्थानापन्न' से 'स्थायी' बन जाता है। उसके दो अर्थों में से एक घिस जाता है और इस प्रकार वह शब्द-कोष में सामान्य शब्द के रूप में स्थान प्राप्त कर लेता है। उस स्थिति में हम उसे 'प्रतीक' नहीं कह सकते। उदाहरण के लिए, प्रारम्भ में "X-Ray" 'एक्स-रे' का 'एक्स' शब्द, प्रतीकात्मक था, किन्तु आगे चलकर वह सामान्य बन गया है। अतः कोई भी प्रयोग जब तक पूर्वोक्त तीनों लक्षणों की पूर्ति करता है तब तक ही 'प्रतीकात्मक' माना जायगा—अन्यथा नहीं। यह कहना कि प्रतीक चिह्नों में बदलते रहते हैं अतः दोनों एक ही हैं, ऐसा ही है जैसा कि यह कहना कि प्रत्येक शिशु आगे चलकर वृद्ध बन जाता है अतः "शिशु" और "वृद्ध" एक ही हैं।

१३.६. प्रतीकों का वर्गीकरण—

प्रतीकों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। कुछ उन्हें विषय की दृष्टि से धार्मिक, साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक आदि वर्गों में विभाजित करते हैं तो कुछ उन्हें स्वरूपगत विशेषताओं के आधार पर वर्गीकृत करते हैं। 'प्रतीक' का आधारभूत तत्त्व विषय न होकर रूप (Form) है ; उसका सम्बन्ध कथ्य से नहीं, कथन-विधि से है, अतः दूसरे प्रकार के वर्गीकरण को ही अधिक समीचीन कहा जा सकता है।

श्री अरबान महोदय ने रूपात्मक दृष्टि से प्रतीकों के तीन भेद किये हैं—(१) संकेतात्मक (२) व्यंग्यात्मक और (३) आरोपमूलक।[9] इनमें परस्पर सूक्ष्म अन्तर इस प्रकार दिखाया गया है—

(१) **संकेतात्मक**—इनमें प्रतीकात्मक शब्द का विशेष महत्त्व नहीं रहता, केवल सम्बन्धित पदार्थ का ही महत्त्व रहता है। उदाहरण के लिए हम अपने कुत्ते का नाम 'कमल' रख देते हैं। यहाँ 'कमल' विशेष कुत्ते का पर्यायवाची है।

(२) **अभिव्यंजनात्मक**—इनमें प्रतीकात्मक शब्द का प्रयोग विशेष प्रयोजन से होता है। "मेरा नौकर बिल्कुल **गधा** है, उसे कुछ भी समझ में नहीं आता" यहाँ "गधा" मूर्खता का प्रतीक है।

(३) **आरोप मूलक**—इनमें जान-बूझकर एक अर्थ पर दूसरे अर्थ का आरोपण होता है ;

जैसे, "ठाढा सिंह चरावै गाई" (कबीर)

"मधुर-मधुर **दीपक** जल मेरे" (महादेवी)

साहित्यिक दृष्टि से दूसरे और तीसरे प्रकार के प्रतीकों का ही अधिक महत्त्व है।

---

9. Language & Reality, Page 407.

१३.७. प्रतीक और भारतीय शब्द-शक्तियाँ—

भारतीय शब्द-शक्तियों के आधार पर प्रतीक सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। प्रतीक के ऊपर जो तीन भेद किये गये हैं—वे क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के ही उदाहरण हैं। संकेतात्मक प्रतीकों या व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में वाच्यार्थ सूच्य होता है जबकि तथाकथित अभिव्यंजनात्मक प्रतीक विशेष प्रयोजन से प्रेरित होने के कारण लक्ष्यार्थ की अभिव्यंजना करते हैं। आरोपमूलक प्रतीकों में शब्दों पर नये अर्थ का आरोपण होता है, तथा इनमें दो अर्थों (प्रस्तुत और अप्रस्तुत) की सह-स्थिति रहती है—अतः इनके मूल में व्यंजना-शक्ति की सत्ता स्वीकार की जा सकती है। वस्तुतः आरोपमूलक प्रतीक व्यंग्यार्थ की व्यंजना करते हैं। अस्तु, प्रतीकों के तीनों प्रकार—संकेतात्मक, अभिव्यंजनात्मक, एवं आरोपमूलक—क्रमशः अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों पर आधारित हैं।

१३.८. प्रतीक और रूपक अलंकार—

कुछ पाश्चात्य आचार्यों ने 'प्रतीक' को रूपक अलंकार का ही एक भेद सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु हमारे विचार से दोनों में थोड़ा अन्तर है। रूपक और प्रतीक दोनों में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोपण किया जाता है किन्तु रूपक में जहाँ साथ ही प्रस्तुत का भी उल्लेख रहता है वहाँ प्रतीक में ऐसा नहीं होता। अतः रूपक और प्रतीक को एक नहीं कहा जा सकता। भारतीय काव्य-शास्त्र में एक अन्य अलंकार अवश्य ऐसा है जिसे रूपक का स्थानापन्न माना जा सकता है ; वह है—'रूपकातिशयोक्ति'। रूपकातिशयोक्ति में प्रतीक की ही भाँति अप्रस्तुत पर प्रस्तुत का आरोपण किया जाता है तथा प्रस्तुत का उल्लेख नहीं रहता। अतः रूपकातिशयोक्ति और प्रतीक दोनों को एक ही माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

बाँधा है **विधु** को किसने,
इन काली **जंजीरों** से।
मणिवाले **फणियों** का मुँह,
मुख क्यों भरा हुआ है **हीरों** से।

यहाँ 'विधु' 'जंजीरों' 'फणियों' हीरों' आदि शब्द क्रमशः मुख, केश, माँग, मोती आदि के प्रतीक हैं ; तो दूसरी ओर यह अंश पं० रामदहिन मिश्र के द्वारा 'रूपकातिशयोक्ति' का भी उदाहरण माना गया है।[१०]

कदाचित् 'रूपकातिशयोक्ति' एवं 'प्रतीक' में थोड़ा भेद यह बताया जा सकता है कि जहाँ रूपकातिशयोक्ति में अप्रस्तुत का आधार सदैव रूप-गुण-धर्म का साम्य

---

१०. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० ३७४।

रहता है वहाँ प्रतीक में कई बार साम्य के अभाव में भी आरोपण कर दिया जाता है। दूसरे, रूपकातिशयोक्ति में सामान्यतः प्रसिद्ध उपमानों पर ही आरोपण किया जाता है, जबकि प्रतीक में अप्रसिद्ध उपमानों का भी प्रयोग किया जाता है। किन्तु ये दोनों अन्तर तात्त्विक न होकर प्रवृत्तिमूलक हैं। जो कवि या साहित्यकार अभिव्यक्ति की स्पष्टता का ध्यान रखते हैं वे सादृश्य पर आधारित प्रसिद्ध उपमानों या प्रतीकों का प्रयोग कर सकते हैं जबकि वैयक्तिक रुचि को प्रमुखता देने वाले साहित्यकार स्वकल्पित दूरारूढ़ प्रतीकों या उपमानों की आयोजना कर सकते हैं। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि हम चाहें तो एक का समन्वय दूसरे में किया जा सकता है अर्थात् प्रतीक सिद्धान्त को अलंकार में समन्वित किया जा सकता।

१३.९. प्रतीक-योजना का लक्ष्य—

विभिन्न विद्वानों ने प्रतीक-योजना के अनेक लक्ष्य बताये हैं—जैसे, विचार की व्याख्या करना, उसे स्वीकार्य बनाना, उसे आवृत्त करना, उसे अनुभूति-गम्य बनाना, विषय को अलंकृत करना आदि[11]—किन्तु इन सब लक्ष्यों के होते हुए भी, काव्यात्मक प्रतीकों का मूल प्रयोजन कथ्य को आकर्षक रूप देना है। प्रतीकों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का ऐसा संयोग रहता है कि जिससे वह कथन को अत्यन्त रोचक एवं आकर्षक रूप प्रदान कर देता है। ध्यान रहे, प्रतीकों के दोहरे अर्थों में से एक अर्थ का सम्बन्ध तथ्य या विचार से रहता है तो दूसरे अर्थ का भाव एवं अनुभूति से। तथ्य एवं भाव या विचार एवं अनुभूति का मेल कवि एवं पाठक की कल्पना-शक्ति के द्वारा होता है। इस प्रकार विचार एवं अनुभूति के योग तथा कल्पना-शक्ति की उद्दीप्ति के कारण प्रतिपाद्य विषय में उस शक्ति की उद्दीप्ति हो जाती है जिसे हम आकर्षण-शक्ति कहते हैं। किन्तु यहाँ यह ध्यान रहे कि यदि प्रतीकों के दोनों अर्थ—प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत—ही बौद्धिक या विचारात्मक हुए तो वहाँ प्रतीक काव्यात्मक न रहकर विज्ञानात्मक बन जायेंगे। साहित्य और विज्ञान के प्रतीकों में सबसे बड़ा अन्तर यही है। विज्ञान में प्रयुक्त प्रतीक केवल अर्थ की व्याख्या करते हैं, उनमें उस आकर्षण का उद्बोधन नहीं हो पाता, जो कि साहित्यिक प्रतीकों में होता है।

१३.१०. निष्कर्ष—

अन्त में हम प्रतीक-सिद्धान्त के अध्ययन से उपलब्ध निष्कर्षों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

---

11. Dictionary of word literay terms : Shipley Page 408.

(क) प्रतीक की परिभाषा—वह विशेष संकेत-चिन्ह जिसका प्रयोग किसी अन्य अर्थ के प्रतिनिधित्व के लिए होता है।

(ख) तीन लक्षण—(१) विशेष संकेत चिन्ह, (२) अनेकार्थक (३) अप्रस्तुत अर्थ की विशेषता।

(ग) सामान्य संकेत चिन्ह से प्रतीक में तीन विशेषताएँ—(१) अर्थ की अनेकता (२) प्रसंगानुसार अर्थ की भिन्नता और (३) अर्थ का आरोपण।

(घ) प्रतीक रूढ़ होकर चिन्हों में परिवर्तित हो सकते हैं।

(ङ) प्रतीकों के तीन भेद क्रमशः अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना पर आश्रित हैं।

(च) प्रतीक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार में तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है।

(छ) प्रतीक-योजना का लक्ष्य दोहरे अर्थों के माध्यम से तथ्य और भाव, विचार और अनुभूति को संयुक्त करके साहित्य में आकर्षण-शक्ति की उद्दीप्ति करना होता है।

(ज) विज्ञान में प्रयुक्त प्रतीकों में आकर्षण-शक्ति उद्दीप्त नहीं होती।

●

१४
परंपरागत तत्त्वों की व्याख्या

●

१४.३. परंपरागत सिद्धान्तों से उपलब्ध तत्त्व—

साहित्य की शैली से सम्बन्धित परंपरागत सिद्धान्तों का अनुशीलन पीछे प्रस्तुत किया जा चुका है। इसके आधार पर हम विभिन्न सिद्धान्तों में निम्नांकित तत्त्वों की सत्ता स्वीकार कर सकते हैं—

(क) **अलंकार-सिद्धान्त**—(१) आवृत्ति, (२) श्लेष या अर्थ-वैचित्र्य, (३) व्याकरण-वैचित्र्य, (४) अप्रस्तुत-योग, (५) वक्रता या वैचित्र्य, (६) क्रम-वैशिष्ट्य, (७) औचित्य, (८) वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य, (९) स्वाभाविकता और (१०) व्यंग्यात्मकता।

(ख) **गुण-सिद्धान्त**—(१) शुद्धता, (२) स्पष्टता, (३) संक्षिप्तता।

(ग) **शब्द-शक्ति एवं ध्वनि सिद्धान्त**—(१) लाक्षणिकता, (२) व्यंग्यात्मकता।

(घ) **वक्रोक्ति-सिद्धान्त**—वक्रता या उक्ति-वैचित्र्य।

(ङ) **बिम्ब-सिद्धान्त**—बिम्बात्मकता।

(च) **प्रतीक-सिद्धान्त**—प्रतीकात्मकता।

इस प्रकार विभिन्न सिद्धान्तों से कुल अठारह तत्त्वों की उपलब्धि होती है जिनका वर्गीकरण एवं विवेचन आगे किया जायगा।

१४.२. परंपरागत तत्त्वों का वर्गीकरण—

शैली के परंपरागत तत्त्वों को सम्यक् रूप से व्यवस्थित करने के लिए हम उन्हें भाषा के तीन पक्षों—(१) भाषा का नाद-पक्ष, (२) भाषा का रूप-पक्ष और (३) भाषा का अर्थ-पक्ष के आधार पर वर्गीकृत कर सकते हैं। भाषा के नाद-पक्ष के अन्तर्गत आवृत्ति, रूप-पक्ष—के अन्तर्गत शुद्धता, संक्षिप्ता, क्रमबद्धता (क्रम-वैशिष्ट्य), वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य तथा अर्थ-पक्ष के अन्तर्गत शेष तत्त्व आते हैं। अर्थ-पक्ष के

तत्त्वों को शब्द-शक्तियों के आधार पर पुनः विभाजित करते हुए अभिधा के अन्तर्गत स्पष्टता, स्वाभाविकता, औचित्य, बिम्बात्मकता और अप्रस्तुत-योग को, लक्षणा के अन्तर्गत वक्रता, लाक्षणिकता एवं उक्ति-वैचित्र्य को तथा व्यंजना में श्लेष, प्रतीक, ध्वनि (व्यंग्यात्मकता) को स्थान दिया जा सकता है। इस वर्गीकरण को स्पष्टता के लिए तालिका रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

शैली के तत्त्वों का वर्गीकरण

आधार	भाषा का नाद-पक्ष	भाषा का रूप-पक्ष	भाषा का अर्थ-पक्ष		
			अभिधा-शक्ति	लक्षणा-शक्ति	व्यंजना-शक्ति
तत्त्व	आवृत्ति	शुद्धता संक्षिप्तता क्रम-बद्धता व्याकरण-वैचित्र्य वाक्य-रचना वैशिष्ट्य	स्पष्टता स्वाभाविकता औचित्य बिम्बात्मकता अप्रस्तुत-योग	वक्रता लाक्षणिकता उक्ति-वैचित्र्य	श्लेष प्रतीक व्यंग्यात्मकता (ध्वनि)

उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर यहाँ क्रमशः प्रत्येक वर्ग के तत्त्वों की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है जिससे कि उनका स्वरूप एवं क्षेत्र भली भाँति स्पष्ट हो सके।

११.३. भाषा के नाद-पक्ष से सम्बन्धित तत्त्व—

इस वर्ग के अन्तर्गत केवल एक ही तत्त्व—आवृत्ति को स्थान दिया गया है किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि विभिन्न सिद्धान्तों के अन्तर्गत इसे विभिन्न संज्ञाएँ दी गई हैं। उदाहरण के लिए, अलंकार-सिद्धान्त में वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास, शब्दों की आवृत्ति को यमक, और वाक्यों की आवृत्ति को लाटानुप्रास कहा गया है। इसी प्रकार रीति सिद्धान्त में कोमल अक्षरों की आवृत्ति को माधुर्यगुण तथा कठोर वर्णों की आवृत्ति को ओज की संज्ञा दी गई है तो दूसरी ओर वक्रोक्ति सिद्धान्त में इन सबको 'वर्ण-विन्यास-वक्रता' से रूप में स्वीकार किया गया है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी आवृत्ति के बीसों भेद किये गये हैं। अस्तु, इसमें तो कोई संदेह नहीं कि आवृत्ति का महत्त्व अनेक सिद्धान्तों में स्वीकार किया गया है, किन्तु विचारणीय यह है

कि आवृत्ति के महत्त्व का आधार क्या है ? इससे काव्य में कौन से लक्ष्य की पूर्ति होती है ? इसके उत्तर में तीन बातें कही जा सकती हैं—एक तो यह कि वर्णों एवं शब्दों की आवृत्ति से काव्य में लय, माधुर्य, ओज आदि गुणों का संचार होता है। दूसरे, शब्दों और वाक्यों की आवृत्ति से कई बार अर्थ में अधिक गंभीरता आ जाती है ; जैसे—'राम यदि **राम** है, तो आवश्य ही वह अपनी प्रतिज्ञा का पालन करेगा।' यहाँ 'राम' की पुनरावृत्ति से 'राम' के अर्थ में विशेष गंभीरता आ गई है। तीसरे, आवृत्ति से एक विशेष चमत्कार की भी उद्भावना हो सकती है—जैसे, 'सबकी **टकटकी टके** की ओर लगी हुई है।' या 'पाप करै तो पा पकर, पा पकरै गति होय !' में आवृत्ति के कारण विशेष चमत्कार आ गया है। इस प्रकार आवृत्ति से तीन लक्ष्यों की पूर्ति होती है—नाद-सौन्दर्य उत्पन्न करना, अर्थ को गंभीरता प्रदान करना और विशेष चमत्कार उत्पन्न करना। इनमें से प्रथम लक्ष्य का तो सम्बन्ध मुख्यतः संगीत-कला से है ; लय, माधुर्य, ओज आदि गुण संगीतात्मक गुण हैं जिनका साहित्यिक महत्त्व बहुत न्यून है। साहित्य के एक विशिष्ट रूप—कविता में अवश्य ही इन गुणों का उपयोग किया जाता है किन्तु इन्हें हम साहित्य के मूल गुणों के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते जिस प्रकार किसी पुस्तक को सजाने के लिए चित्र-कला का सहयोग लिया जाता है, वैसे ही कविता के प्रभाव में अभिवृद्धि करने के लिए संगीत-कला से कुछ तत्त्व उधार लिये जाते हैं। जिनमें लय, माधुर्य, ओज आदि तत्त्व उल्लेखनीय हैं। अतः नाद-सौन्दर्य की उत्पत्ति को साहित्य के सामान्य लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। शेष दो लक्ष्यों की दृष्टि से आवृत्ति को अवश्य साहित्य का सामान्य गुण या तत्त्व माना जा सकता है। जहाँ आवृत्ति से अर्थ में वैशिष्ट्य या विशिष्ट चमत्कार का आविर्भाव होता है, वहाँ हम वैशिष्ट्य या वैचित्र्य की सत्ता मान सकते हैं। वैचित्र्य का सम्बन्ध मूलतः वक्रोक्ति सिद्धान्त से है—अतः अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा इसे वक्रोक्ति से सम्बन्धित करना अधिक उचित होगा, किन्तु जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जायगा, वक्रोक्ति के मूल में सदा लक्षणा-शक्ति कार्य करती है जबकि आवृत्ति के लिए ऐसा होना आवश्यक नहीं है। अतः इसे वक्रोक्ति में भी स्थान देना उचित नहीं है। वक्रोक्ति के अनन्तर एक अन्य वर्ग शब्दालंकारों का है जिससे आवृत्ति को सम्बद्ध किया जा सकता है, किन्तु आवृत्ति की सीमा हम केवल शब्दों तक ही नहीं, वाक्यों तक भी मानते हैं तथा उसमें अलंकार की भाँति किसी बाह्य उपादान या द्रव्य का भी संयोग मूल उक्ति में नहीं होता, अतः इसे शब्दालंकारों में भी स्थान देना उचित नहीं है। अस्तु, फिलहाल हम 'आवृत्ति' को एक स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में ही स्वीकार करते हुए आगे बढ़ते हैं—इस सम्बन्ध में अंतिम निर्णय आगे किया जायगा।

१४.४. रूप-पक्ष सम्बन्धी तत्त्व—

भाषा के रूप-पक्ष में मुख्यतः भाषा की शुद्धता, संक्षिप्तता, क्रम-बद्धता,

व्याकरण-वैचित्र्य, वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य आदि तत्त्व आते हैं, जिनका संबन्ध केवल साहित्य से ही नहीं, भाषा के माध्यम से रची जाने वाली प्रत्येक प्रकार की रचना से है। भाषा की शुद्धता, संक्षिप्तता, क्रमबद्धता आदि गुणों की अपेक्षा साहित्य की ही भाँति विज्ञान की रचनाओं में भी होती है ; अतः इन तत्त्वों को विशुद्ध साहित्यिक तत्त्वों के रूप में—या साहित्यिक शैली के विशिष्ट तत्त्वों के रूप में—स्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः इनका सम्बन्ध साहित्य-शास्त्र की अपेक्षा व्याकरण-शास्त्र से अधिक है। अतः वहीं इनको स्थान दिया जाना चाहिए। इतना अवश्य है कि काव्य में कई बार लाक्षणिकता की प्रेरणा से व्याकरण के विरुद्ध भी प्रयोग होते हैं, जिन्हें पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में व्याकरण-वैचित्र्य अलंकार की संज्ञा दी गई है तथा भारतीय वक्रोक्ति-वादियों ने इन्हें पद-वक्रता एवं वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत स्थान दिया है। ऐसे प्रयोग अवश्य ही साहित्यिक शैली के विशिष्ट तत्त्व माने जा सकते हैं तथा इन सबका (लिंग-वैचित्र्य, वचन-वैचित्र्य, क्रम-वैचित्र्य या वाक्य-वैचित्र्य आदि) समावेश वक्रता या वैचित्र्य के अन्तर्गत किया जा सकता है।

१४.५. अभिधा-सम्बन्धी तत्त्व—

भाषा के अर्थ-पक्ष से सम्बन्धित तत्त्वों को भी पीछे शब्द-शक्तियों के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित करते हुए अभिधा के अन्तर्गत स्पष्टता, स्वाभाविकता, औचित्य, बिम्बात्मकता (या चित्रात्मकता) एवं अप्रस्तुत-योग—इन पाँच तत्त्वों को स्थान दिया गया है। इनमें से स्पष्टता और स्वाभाविकता को तो विशुद्ध साहित्यिक तत्त्व नहीं माना जा सकता क्योंकि इनका सम्बन्ध साहित्य की अपेक्षा अन्य विषयों से अधिक है। स्पष्टता केवल साहित्य में ही नहीं वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय ग्रन्थों में भी सदा अपेक्षित होती है—इतना ही नहीं कई बार साहित्य में तो जहाँ लक्षणा और व्यंजना शक्तियाँ कार्य करती हैं, स्पष्टता का अभाव होता है, जबकि साहित्येतर रचनाओं में अभिधात्मकता के कारण अधिक स्पष्टता होती है। हाँ, स्पष्टता का ऐसा अभाव जहाँ बहुत सोचने पर भी अर्थ समझ में न आवे—साहित्य में दोष माना जा सकता है, किन्तु केवल स्पष्टता के कारण ही कोई उक्ति साहित्यिक नहीं बन जाती। उदाहरण के लिए—"मेरे खेत में गाएँ चर रही हैं"—यह उक्ति पूर्णतः स्पष्ट है किन्तु इसी से हम इसे साहित्यिक नहीं कह सकते। इसी प्रकार स्वाभाविकता का सम्बन्ध भी कथ्य विषय के औचित्य से है, तथा यह औचित्य साहित्य की अपेक्षा शास्त्रीय विषयों में अधिक अपेक्षित है, अतः इन्हें भी साहित्य की शैली का विशिष्ट तत्त्व नहीं मान सकते। इसके विपरीत अलंकार और वक्रोक्ति में स्वाभाविकता का अतिक्रमण बराबर किया जाता है, अतः इसे साहित्य के द्रव्य (विषय-वस्तु) का एक गुण तो भले ही मान लिया जाय, किन्तु शैली के तत्त्वों में इसे स्थान देना उचित नहीं होगा।

अभिधा से सम्बन्धित शेष दो तत्त्व बिम्बात्मकता और अप्रस्तुत-योग हैं। बिम्बात्मकता में सूक्ष्म तथ्यों का भी वर्णन ऐसे स्थूल पदार्थों के माध्यम से होता है जिनका बिम्ब-ग्रहण किया जा सके। इस बिम्बात्मकता के आयोजन में अप्रस्तुत का योग भी कई बार पर्याप्त सहयोग देता है। उदाहरण के लिये—"शकुन्तला सुन्दर है" इस काव्य से तथ्य का तो ज्ञान होता है किन्तु उससे शकुन्तला के रूप-सौन्दर्य का बिम्ब-ग्रहण नहीं होता जबकि 'शकुन्तला चाँद सी सुन्दर है' में चाँद के बिम्ब के माध्यम से सौन्दर्य का बोध होता है। इस दूसरे वाक्य में शकुन्तला प्रस्तुत विषय है जबकि चाँद अप्रस्तुत है—अतः इसे अप्रस्तुत-योग या उपमा अलंकार का भी उदाहरण मान सकते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि इसे हम बिम्बात्मकता का उदाहरण मानें या अलंकार का ? साहित्य-शास्त्र की यह विचित्र स्थिति है कि जिन उदाहरणों को अलंकार-वादी औपम्यमूलक अलंकारों में स्थान देता है, उन्हें ही बिम्ब सिद्धान्त (Imagery) के अनुयायी बिम्ब-योजना के उदाहरणों के रूप में स्वीकार कर लेते है। इस स्थिति में दोनों सिद्धान्त घुल-मिल जाते हैं, जिनका पृथक्कीकरण आवश्यक है। हमारे विचार से बिम्बात्मकता और अलंकार के बीच यह सीमा निर्धारित की जा सकती है कि जहाँ अप्रस्तुत के मेल के बिना, प्रस्तुत का ही वर्णन चित्रात्मक रूप में हुआ हो उसे बिम्बात्मकता का उदाहरण मान सकते हैं जबकि अप्रस्तुत का समावेश होने पर उसे अलंकार कहा जा सकता है। यहाँ यह ध्यान रहे कि साहित्यिक रचनाओं में ऐसी बिम्बात्मकता के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं जिनमें अप्रस्तुत का मेल किये बिना ही वर्ण्य को आकर्षक बना दिया जाता है ; अतः इस पार्थक्य को बिम्ब-योजना और अलंकार-योजना की सीमा-रेखा के रूप में स्वीकार करना उचित होगा।

अप्रस्तुत-योग के भी विभिन्न सिद्धान्तों में विभिन्न रूप मिलते हैं, जिनकी विवेचना अन्यत्र प्रसंगानुसार की जायगी।

१४.६. लक्षणा सम्बन्धी तत्त्व—

भाषा के अर्थ-पक्ष से सम्बन्धित दूसरे वर्ग लक्षणा-शक्ति के अन्तर्गत तीन तत्त्वों को स्थान दिया गया है—वक्रता, लाक्षणिकता एवं उक्ति-वैचित्र्य। इनमें सर्व-प्रथम 'वक्रता' को लेते हैं। सामान्यतः 'वक्रता' 'की तीन सीमाएँ निर्धारित की जा सकती हैं—

(१) 'वक्रता' की स्थिति में वस्तु अपने स्वाभाविक या सामान्य रूप में नहीं रहती, उसके रूप में न्यूनाधिक परिवर्तन आवश्यक है।

(२) 'वक्रता' के अन्तर्गत मूलवस्तु के द्रव्य में परिवर्तन नहीं होता, केवल उसके स्वरूप में ही परिवर्तन होता है। अर्थात् किसी वस्तु को 'वक्र' कहने का तात्पर्य है—उस वस्तु के रूप में विकृति, परिवर्तन, या टेढे-मेढेपन का आ जाना। जहाँ

द्रव्य में परिवर्तन करके वस्तु का रूपान्तरण किया जाता है—उसे हम 'वक्रता' न कहकर कुछ और कहेंगे। उदाहरण के लिए—'अलंकरण' में मूल वस्तु के साथ बाह्य पदार्थों का संयोग किया जाता है जबकि वक्रता में ऐसा नहीं होता।

(३) वक्रता के अन्तर्गत रूप का परिवर्तन भी इतना अधिक नहीं होता कि जिससे मूल रूप की प्रतीति ही न हो सके। उदाहरण के लिए, जब एक सीधी लकड़ी टेढ़ी या वक्र हो जाती है तो उसमें वक्रता मानी जा सकती है, किन्तु यदि उस लकड़ी को जोड़-तोड़ करके कुर्सी का रूप दे दिया गया तो उस स्थिति में उसे न तो 'वक्र लकड़ी' ही कहा जा सकता है और न ही 'वक्र कुर्सी'। वस्तुतः एक रूप का अन्य रूप में पूर्णतः अन्तरण हो जाने की स्थिति में 'वक्रता' का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।

यदि हम उपर्युक्त तीनों सीमाओं को ध्यान में रखकर विचार करें तो देखेंगे कि केवल लक्षणा शक्ति से सम्बन्धित अर्थ में ही ये विशेषताएँ मिलती हैं—अन्य शक्तियों से सम्बन्धित अर्थ में नहीं। लक्षणाजन्य लाक्षणिक अर्थ में भाषा का प्रयोग असामान्य रूप में होता है तो दूसरी ओर उसमें मूल अर्थ का सर्वथा लोप या परिवर्तन भी नहीं होता क्योंकि अन्ततः लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ (मूल अर्थ) से सम्बद्ध ही होता है जबकि इसके विपरीत अभिधा और व्यंजना में ये विशेषताएँ एक साथ नहीं मिलतीं। अभिधा में तो वक्रता या विशिष्टता का सर्वथा अभाव होता है, क्योंकि उसमें वाच्यार्थ अपने सामान्य एवं स्वाभाविक अर्थ में ही प्रयुक्त होता है तो दूसरी ओर व्यंजना में मूल वस्तु (वाच्यार्थ) का रूप ही अन्यवस्तु (व्यंग्यार्थ) के रूप में परिवर्तित हो जाता है। अस्तु, साहित्य में वक्रता का स्रोत लक्षणा-शक्ति को ही स्वीकार करते हुए वक्रता और लाक्षणिकता को समानार्थक माना जा सकता है। इसी प्रकार वक्रता से युक्त उक्ति को ही उक्ति-वैचित्र्य कहते हैं—अतः इसे भी लाक्षणिकता से भिन्न नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से हम उपर्युक्त तीनों तत्त्वों—वक्रता, लाक्षणिकता, एवं उक्ति-वैचित्र्य—का समन्वय एक ही तत्त्व 'वक्रता' के अन्तर्गत कर सकते हैं।

१४.७. व्यंजना सम्बन्धी तत्त्व—

व्यंजना सम्बन्धी तत्त्वों के अन्तर्गत पीछे श्लेष, प्रतीक और व्यंग्यात्मकता को स्थान दिया गया है। परंपरागत दृष्टिकोण के अनुसार श्लेष एक शब्दालंकार है जिसमें एक ही शब्द अनेक अर्थों में एक साथ प्रयुक्त होता है, किन्तु ये अर्थ प्रयोक्ता के द्वारा आरोपित मौलिक अर्थ नहीं होते अपितु परंपरा द्वारा विकसित रूढ अर्थ होते हैं। इनके प्रयोग में प्रयोक्ता की विशेषता इतनी ही होती है कि वह किसी ऐसे प्रसंग का आयोजन करता है जिससे शब्द के विभिन्न श्लिष्ट अर्थों की अभिव्यक्ति एक साथ हो सके ; जैसे, 'पानी गये न ऊबरे, मोती, मानस, चून' में 'पानी' के तीन

विभिन्न अर्थ यहाँ एक साथ व्यक्त होते हैं। श्लेष की अगली स्थिति ही प्रतीक में मिलती है—इसमें भी श्लेष की भाँति विभिन्न अर्थ एक ही शब्द से व्यक्त होते हैं किन्तु इनमें एक अर्थ परंपरागत या रूढ होता है जबकि अन्य अर्थ प्रयोक्ता द्वारा आरोपित होते हैं, फिर भी इन विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति श्लेष की ही भाँति मूल प्रकरण या प्रसंग की विशिष्टता पर ही अधारित रहती है, अतः इसे श्लेष से बहुत भिन्न नहीं कहा जा सकता। व्यंग्यात्मकता में भी अनेक अर्थों की सह-स्थिति रहती है तथा उनकी अभिव्यक्ति का आधार भी प्रसंग होता है, किन्तु उसमें एक अर्थ शब्दों के मूल अर्थ से सम्बद्ध होता है तथा दूसरा प्रयोक्ता द्वारा आरोपित होता है, जिन्हें क्रमशः वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ कहा जाता है। इस दृष्टि से प्रतीकार्थ और व्यंग्यार्थ में विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता, फिर भी उनमें एक सूक्ष्म अंतर अवश्य बताया जा सकता है। प्रतीक-योजना में जहाँ कुछ शब्दों पर ही अनेकार्थकता का आरोपण होता है वहाँ व्यंजना में पूरा वाक्य या पूरा प्रसंग अनेकार्थक हो सकता है। किन्तु यह बात सर्वत्र ही एक सुदृढ नियम के रूप में लागू नहीं की जा सकती, अतः सामान्यतः हम प्रतीक और व्यंग्यात्मकता को एक ही श्रेणी में स्थान दे सकते हैं। इस सम्बन्ध में और अधिक स्पष्टीकरण आगे इन सिद्धान्तों पर पुनर्विचार करते समय किया जायगा।

अस्तु, श्लेष, प्रतीक और व्यंजना के पारस्परिक अन्तर को संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है—

	विशिष्टता	आधार	क्षेत्र
(१) श्लेष=	अनेकार्थकता,	रूढि या परंपरा,	प्रसंग
(२) प्रतीक=	,,	एक अर्थ रूढ एवं अन्य अर्थ आरोपित	,,
(३) व्यंग्यात्मकता=	,,	,,	,,

यदि हम अर्थ के आधार-स्रोत (परंपरा या मौलिकता) को अधिक महत्त्व न दें तो शेष दो विशेषताओं—रूप-वैशिष्ट्य एवं क्षेत्र—की दृष्टि से श्लेष, प्रतीक और व्यंग्यात्मकता को एक ही संज्ञा—'अनेकार्थकता'—के अन्तर्गत समन्वित कर सकते हैं। किन्तु इस सम्न्ध में हम अंतिम निर्णय आगे विभिन्न सिद्धान्तों पर विचार कर लेने के अनन्तर ही करेंगे।

१४.८. निष्कर्ष—

अंत में विभिन्न तत्त्वों की व्याख्या से उपलब्ध निष्कर्षों को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है—

(क) विभिन्न सिद्धान्तों से उपलब्ध तत्त्वों को भाषा के तीन पक्षों—नाद, रूप एवं अर्थ—के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है।

(ख) नाद-पक्ष सम्बन्धी तत्त्वों का सम्बन्ध सामान्यतः संगीतकला से है, अतः उन्हें शुद्ध साहित्यिक तत्त्वों के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(ग) जहाँ आवृत्ति का उपयोग अर्थ-वैशिष्ट्य एवं चमत्कार के लिए होता है, वहाँ उसे एक साहित्यिक तत्त्व के रूप में मान्यता दी जा सकती है।

(घ) रूप-पक्ष सम्बन्धी तत्त्वों में से वैचित्र्य को छोड़कर शेष सभी भाषा के सामान्य गुण हैं, जिनका विज्ञान से भी उतना ही सम्बन्ध है जितना कि साहित्य से है, अतः उन्हें साहित्यिक शैली के विशिष्ट तत्त्वों के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(ङ) अभिधा सम्बन्धी तत्त्वों में भी बिम्बात्मकता एवं अप्रस्तुत-योग को छोड़ कर शेष पर उपर्युक्त बात (घ) लागू होती है।

(च) लक्षणा सम्बन्धी सभी तत्त्वों का समन्वय वक्रता के अन्तर्गत किया जा सकता है।

(छ) व्यंजना सम्बन्धी तत्त्वों में—श्लेष, प्रतीक एवं व्यंग्यात्मकता में भी परस्पर बहुत कम अंतर है।

(ज) विजातीय एवं सामान्य तत्त्वों के निष्कासन एवं विभिन्न तत्त्वों के समन्वय के अनन्तर विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से शैली के निम्नांकित तत्त्व अवशिष्ट रहते हैं—(१) आवृत्ति (२) वैचित्र्य (३) बिम्बात्मकता (४) अप्रस्तुत-योग (५) वक्रता (६) श्लेष (७) प्रतीक और (८) व्यंग्यात्मकता। इन तत्त्वों के स्वरूप एवं क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए आगे विभिन्न सिद्धान्तों में अपेक्षित संशोधन एवं परिवर्तन करने का प्रयास किया जायगा।

१५
परंपरागत सिद्धान्तों का संशोधन

●

१५.१. परंपरागत सिद्धान्तों की दूषित प्रवृत्तियां—

शैली सम्बन्धी परम्परागत सिद्धान्तों का विवेचन पीछे प्रस्तुत किया जा चुका है। इन सिद्धान्तों से जहाँ शैली के अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर प्रकाश पड़ता है, वहा इनमें कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं जो वैज्ञानिकता एवं प्रामाणिकता की दृष्टि से दोष-पूर्ण सिद्ध होती हैं। वे प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(क) बाह्य तत्त्वों पर अधिकार कर लेने की प्रवृत्ति—इनमें से प्रत्येक सिद्धान्त मूलतः किसी एक विशेषता या एक तत्त्व को लेकर चलता है किन्तु आगे चलकर वह ऐसे तत्त्वों का भी समाहार अपने क्षेत्र में कर लेने का प्रयास करता है जोकि उसके क्षेत्र के बाहर पड़ते हैं। उदाहरण के लिए अलंकार सिद्धान्त आरम्भ में अप्रस्तुत के योग को लेकर चला था किन्तु आगे चलकर उसने गूढ़ार्थ-प्रतीति-मूलक अलंकारों के रूप में व्यंजनावृत्ति को भी अपने क्षेत्र में ले लिया जबकि व्यंजना का सम्बन्ध अलंकार की अपेक्षा ध्वनि से अधिक है। यह प्रवृत्ति प्रायः सभी सिद्धान्तों में मिलती है, जिसका विश्लेषण आगे किया जायगा।

विभिन्न सिद्धान्तों के द्वारा एक-दूसरे के आधारभूत तत्त्वों को अपना लिये जाने के कारण उनमें अतिव्याप्ति दोष आ गया है—अर्थात् वे अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके दूसरे सिद्धान्तों से घुल-मिल जाते हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप उनका स्वरूप अस्पष्ट और क्षेत्र अनिश्चत हो जाता है। ऐसी स्थिति में शैलीगत एक ही विशेषता या तत्त्व पर विभिन्न सिद्धान्त अपना-अपना अधिकार जताते हैं। उदाहरण के लिए जिस विशेषता या तत्त्व को वक्रोक्तिवादी वक्रोक्ति का उदाहरण बताता हैं उसी को अलंकारवादी विरोधमूलक अलंकार सिद्ध करके अपने अधिकार में ले लेता है; जिसे ध्वनिवादी ध्वनि का उदाहरण मानता है वे सब अलंकारवादी के यहाँ गूढ़ार्थ-प्रतीति-मूलक अलंकारों में समाविष्ट हो जाते हैं तो दूसरी ओर अलंकारों के विभिन्न भेद ध्वनिवादियों के यहाँ 'अलंकार-ध्वनि' के नाम से प्रविष्ठित हो जाते हैं। कहने

का तात्पर्य यह है कि इन सिद्धान्तों की इस पारस्परिक छीना-झपटी की प्रवृत्ति के कारण न केवल ये सिद्धान्त अनिश्चित एवं अस्पष्ट हो गये हैं, अपितु साहित्य-शास्त्र के प्रयोग-कर्त्ताओं के लिए भी समस्या बन गई हैं। एक ही तत्त्व पर विभिन्न सिद्धान्त अपना अधिकार जताते हैं—अतः कहाँ कौन से सिद्धान्त को लागू किया जाय, इसका निर्णय करना कठिन है। उदाहरण के लिए निम्नांकित दोहा लीजिए—

'नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल ॥
अली कली ही सौं बंध्यो आगे कौन हवाल ।'

इस दोहे को अलंकारवादी अन्योक्ति का, वक्रोक्तिवादी प्रकरण-वक्रता का, ध्वनिवादी ध्वनि का, प्रतीकवादी अली और कली में क्रमशः नायक-नायिका के प्रतीक का और बिम्बवादी पराग, मधु, अली, कली आदि में बिम्बात्मकता का उदाहरण सिद्ध करता हुआ, इसे अपने अधिकार-क्षेत्र में लेने का प्रयास करेगा। यह स्थिति केवल इसी दोहे की ही नहीं, सभी काव्य-रचनाओं की है।

(ख) **भेदोपभेदों के विस्तार की प्रवृत्ति**—विभिन्न सिद्धान्तों में भेदोपभेदों में इस प्रकार अभिवृद्धि की गई है कि उनसे काव्य-विवेचन में सहायता मिलने के स्थान पर बाधा उपस्थित होती है। उदाहरण के लिए, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि के शताधिक भेदोपभेद किये गये हैं जो आचार्यों की सूक्ष्म दृष्टि के तो परिचायक हैं किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से अधिक उपयोगी नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कई बार ऐसा भी हुआ है कि भेदोपभेद के बहाने एक सिद्धान्त के अनुयायी दूसरे सिद्धान्तों के तत्त्वों का भी अपहरण कर लेते हैं। जैसे—ध्वनिवादी लक्षणामूलक ध्वनि के रूप में लाक्षणिकता को, रस-ध्वनि एवं अलंकार-ध्वनि के रूप में क्रमशः रस और अलंकार को अपने क्षेत्र में ले लेते हैं। रीति, वक्रोक्ति, अलंकार बिम्ब आदि के भेदोपभेदों में भी ऐसा ही हुआ है।

(ग) **पारस्परिक सहयोग एवं समन्वय का अभाव**—वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एक सिद्धान्त पूर्ववर्ती सिद्धान्त का पूरक सिद्ध हो सकता है, अतः ज्ञान-साधना के क्षेत्र में कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ववर्ती सिद्धान्तों के माध्यम से उपलब्ध सत्य को स्वीकार करके आगे बढ़ना चाहिए, किन्तु इन सिद्धान्तों के प्रतिष्ठाताओं में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। विभिन्न सिद्धान्तों के प्रवर्तक अपने ही सिद्धान्त को सर्वथा स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष रूप में स्थापित करते हुए अन्य सिद्धान्तों को मान्यता नहीं देते—वे एक-दूसरे के पूरक एवं सहयोगी बनने के स्थान पर एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी एवं विरोधी बने हुए हैं, जिससे उनके भारी प्रयास के बावजूद भी कोई एक सर्व-सम्मत निष्कर्ष उपलब्ध नहीं हो पाया तथा इसी प्रवृत्ति के कारण काव्य-शास्त्र परस्पर विरोधी मतों, अस्पष्ट निर्णयों एवं अप्रामाणिक निष्कर्षों का संग्रह बन गया है।

१५.२. अपेक्षित संशोधन एवं परिवर्तन—

उपर्युक्त प्रवृत्तियों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट है कि इन सिद्धान्तों को स्पष्ट निश्चित एवं संगत रूप देने के लिये उनमें निम्नांकित संशोधन एवं परिवर्तन अपेक्षित हैं—(क) प्रत्येक सिद्धान्त के आधारभूत तत्त्व के अनुसार उसके अधिकार क्षेत्र की सीमाएं निश्चित कर दी जायँ तथा अतिरिक्त रूप में अधिकृत तत्त्वों को उनसे पृथक कर दिया जाय, जिससे एक ही तत्त्व पर अनेक सिद्धान्तों का अधिकार न रहे। (ख) भेदोपभेदों की संख्या में अपेक्षित परिवर्तन किया जाय। (ग) इनके मूल स्वरूप एवं क्षेत्र के आधार पर इनमें परस्पर सम्बन्ध एवं सहयोग स्थापित किया जाय।

आगे हम इन्हीं लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न सिद्धान्तों को संशोधित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

(क) अलंकार-सिद्धान्त

१५.३. अलंकार की सीमाएँ—

पूर्व प्रस्तुत निष्कर्षों के अनुसार अलंकार का मूलाधार तत्त्व अप्रस्तुत-योग अर्थात् प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) का मेल सिद्ध होता है। 'अलंकार' शब्द के सामान्य अर्थ के अनुसार भी अलंकार की सीमा में वे ही पदार्थ आते हैं जो कि मूल वस्तु की साज-सज्जा के लिए बाहर से आरोपित किये जाते हैं। कई बार बिना बाह्य उपादानों के भी वस्तु के विन्यास को सुन्दर रूप प्रदान किया जा सकता है, किन्तु इसे हम 'अलंकरण' की संज्ञा नहीं दे सकते। अलंकरण के लिए बाह्य या अप्रस्तुत पदार्थों का योग आवश्यक है—इसे हम अलंकार की पहली सीमा मान सकते हैं। दूसरी ओर कई बार अलंकार्य के स्थान पर भी कोरे अलंकार प्रतिष्ठित कर दिये जाते हैं, किन्तु वहाँ उनका अर्थ बदल जाता है। किसी राजा के स्थान पर उसका केवल राजमुकुट या राज-छत्र या किसी संत के स्थान पर उसकी चरण-पादुकाएँ, मूलतः बाह्य अलंकार होती हुई भी अलंकार्य के अभाव में उसकी प्रतिनिधि मात्र बन जाती हैं। 'राजमुकुट' राजसत्ता का और चरण-पादुकाएं संत की महानता की प्रतीक मात्र रह जाती हैं, उसकी अलंकरण नहीं। साहित्य के क्षेत्र में भी जहाँ प्रस्तुत के स्थान पर केवल अप्रस्तुत का उल्लेख होता है वहाँ अलंकरण के स्थान पर प्रतीक-विधान या व्यंग्यात्मकता आ जाती है। उदाहरण के लिए जब 'मुख-चन्द्र' के स्थान पर कोरा 'चन्द्र' कहा जायगा तो वहाँ 'चन्द्र' अलंकार न रह कर मुख का 'प्रतीक' बन जायगा। इसी प्रकार सारा प्रसंग ही अप्रस्तुत के माध्यम से प्रस्तुत होने पर व्यंजना या ध्वनि का उदाहरण बन जायगा—अतः हमें अलंकार की दूसरी सीमा यह स्वीकार करनी होगी कि उसमें अलंकार्य और अलंकार—प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों की प्रत्यक्ष उपस्थिति (अर्थात् वाच्य रूप में) आवश्यक है।

उपर्युक्त सीमाओं को ध्यान में रखते हुए हम अलंकार को अन्य सिद्धान्तों से भली भाँति पृथक कर सकते हैं। अलंकार का निकटतम सिद्धान्त वक्रोक्ति है क्योंकि दोनों ही चमत्कार के द्वारा पाठक को आकर्षित करना चाहते हैं किन्तु दोनों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ अलंकार में प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत का समावेश होता है, वहाँ वक्रोक्ति में प्रस्तुत को ही ऐसी वक्र-भंगिमा के साथ प्रस्तुत किया जाता है कि उसमें अप्रस्तुत के संयोग की आवश्यकता नहीं रहती। यदि उसमें कहीं अप्रस्तुत का समावेश हो भी तो वह अर्थ की दृष्टि से प्रस्तुत में ही परिणत हो जाता है—उसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों की पृथक-पृथक सत्ताएँ नहीं रहतीं।

प्रतीक और ध्वनि सिद्धान्त से भी अलंकार सिद्धान्त का सबसे बड़ा पार्थक्य यही है कि जहाँ प्रथम दो सिद्धान्तों में प्रस्तुत का निगरण हो जाता है तथा अप्रस्तुत ही प्रत्यक्ष रूप में विद्यमान रहता है, वहाँ अलंकार में दोनों की सत्ता प्रत्यक्ष रूप में रहती है। इस सम्बन्ध में अधिक स्पष्टीकरण पीछे किया जा चुका है।

अलंकार और बिम्ब-विधान (Imagery) में भी गहरा सम्बन्ध है—यहाँ तक कि पाश्चात्य बिम्ब वादी अलंकारों के अनेक उदाहरणों को बिम्ब-बिधान का भी उदाहरण मान लेते हैं। अलंकारों में भी प्रस्तुत विषय के सूक्ष्म सौन्दर्य के उद्घाटन के लिए ऐसे अप्रस्तुत विषयों का मेल किया जाता है जिससे सूक्ष्म सौन्दर्य स्थूल रूप में या अमूर्त्त मूर्त्त में परिणत हो जाय। बिम्ब-विधान का भी लक्ष्य अमूर्त्त को मूर्त्त में परिणत करना है किन्तु दोनों में परस्पर सूक्ष्म अन्तर है। जहाँ बिम्ब-विधान मे प्रस्तुत विषय का ही निरूपण मूर्त्त रूप में होता है वहाँ अलंकार में मूर्त्त पदार्थों से प्रस्तुत की उपमा मात्र दी जाती है। उदाहरण के लिए 'शकुन्तला सुन्दर है।' इस तथ्य को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए जहाँ बिम्बवादी उसके चेहरे के विभिन्न अवयवों एवं उसके रूप-रंग का ऐसा विवरण प्रस्तुत करेगा कि जिससे पाठक शकुन्तला के रूप की अनुभूति मूल रूप में कर सकेगा जबकि अलंकारवादी अपना विवरण शकुन्तला तक ही सीमित न रखकर उसमें बाह्य विषयों का भी समावेश कर सकता है। दूसरे, अलंकारवादी का लक्ष्य सर्वत्र ही मूर्त्त-विधान करना नहीं होता—वह अनेक स्थलों पर स्थूल एवं मूर्त्त पदार्थों के गुणों की व्यंजना के लिए सूक्ष्म एवं अमूर्त्त उपमानों का भी प्रयोग कर सकता है। अतः इन दो भेदों को ध्यान में रखते हुए कह सकते हैं कि जहाँ बिम्ब-विधान प्रस्तुत विषय का मूर्त्तिकरण है वहाँ अलंकार बाह्य, मूर्त्त और अमूर्त्त पदार्थों की सहायता से विषय का प्रस्तुतीकरण है।

अस्तु, संक्षेप में हम अलंकार और अन्य सिद्धान्तों के स्वरूप-भेद को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

(अ) **अलंकार और वक्रोक्ति**—अलंकार में प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत का समावेश होता है जबकि वक्रोक्ति में प्रस्तुत के रूप को ही परिवर्तित करके चमत्कार

उत्पन्न किया जाता है। उसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों की सह-स्थिति प्रत्यक्ष रूप में नहीं होती।

(आ) **अलंकार और प्रतीक व ध्वनि**—जहाँ प्रतीक और ध्वनि में प्रस्तुत प्रत्यक्ष रूप में नहीं रहता वहाँ अलंकार में रहता है।

(इ) **अलंकार और बिम्ब-विधान**—अलंकार में अप्रस्तुत के समावेश के द्वारा प्रस्तुत विषय को आवश्यकतानुसार मूर्त्त या अमूर्त्त रूप प्रदान किया जाता है जबकि बिम्ब-विधान में केवल प्रस्तुत को ही मूर्त्त रूप दिया जाता है।

१५.४. अलंकारों के भेदोपभेद—

पीछे अलंकार-सिद्धान्त का विशिष्ट अध्ययन करते समय भारतीय एवं पाश्चात्य अलंकारों के इन आठ प्रमुख वर्गों का परिचय दिया जा चुका है (१) शब्दालंकार, (२) सादृश्यमूलक, (६) विरोधमूलक, (४) शृंखलामूलक, (५) तर्कन्यायमूलक, (६) वाक्य-न्यायमूलक, (७) लोक-न्याय मूलक, (८) गूढार्थ प्रतीति मूलक। इन आठ वर्गों में से अधिकांश ऐसे हैं जो मूलतः अलंकार की सीमा से बाहर पड़ते हैं। अवश्य ही उनके उदाहरणों में सौन्दर्य मिलता है किन्तु वह सौन्दर्य अलंकार-जन्य न होकर किसी अन्य कारण से है। इस दृष्टि से विश्लेषण करने पर हमें बहुत-से वर्गों को अलंकार के क्षेत्र से निष्कासित कर देना पड़ेगा। उदाहरण के लिए शब्द-वैचित्र्य और व्याकरण वैचित्र्य पर आधारित शब्दालंकारों को, वक्रोक्ति पर आधारित विरोध मूलक अलंकारों को, क्रम के वैशिष्ट्य पर आधारित शृंखला मूलक अलंकारों को तथा संघटना-वैचित्र्य पर आधारित वाक्य-न्यायमूलक अलंकारों को अलंकार न कह कर वक्रोक्ति कहना अधिक उचित होगा क्योंकि इनमें मूल वस्तु या प्रस्तुत विषय की ही रूप-रेखा में वैशिष्ट्य या वैचित्र्य उत्पन्न करके उसमें आकर्षण उत्पन्न किया जाता है, अलंकार की भाँति उनमें किसी बाह्य वस्तु या अप्रस्तुत का समावेश नहीं किया जाता। अतः इन भेदों को अलंकार में स्थान देना उचित नहीं है। इसी प्रकार तर्क-न्याय मूलक और लोक-न्याय मूलक अलंकार भी वस्तुतः अलंकार नहीं है क्योंकि उनमें किसी बाह्य सामग्री या अप्रस्तुत का समावेश नहीं किया जाता। उनका सौन्दर्य मूल वस्तु के औचित्य और स्वाभाविकता पर ही आधारित होता है। यदि कोई सुन्दरी स्वाभाविक रूप से ही सुन्दर है—उसने आभूषणादि धारण नहीं कर रखे हैं तो ऐसी स्थिति में उसके सौन्दर्य को अलंकरण-जन्य बताना उचित नहीं। इसी प्रकार जब साहित्य में कोई विचार तर्क पर आधारित होता है या कोई उक्ति स्वाभाविक रूप में ही मार्मिक होती है तो वह बिना अलंकार के ही प्रभावोत्पादक हो सकती है, किन्तु अलंकारवादियों ने ऐसे विषयों को भी तर्क-न्याय-मूलक या लोक-न्याय-मूलक अलंकारों की संज्ञा देकर अपने क्षेत्र का अनावश्यक रूप से विस्तार कर लिया है जो उचित नहीं।

वस्तुतः इन वर्गों का सौन्दर्य विषयगत होता है ; रूप (या फार्म) गत नहीं, जबकि अलंकार सिद्धान्त रूप या फार्म की व्याख्या करता है, विषय या द्रव्य की नहीं ; अतः इन भेदों को भी अनावश्यक एवं अनुचित मानकर इन्हें त्याग देना चाहिए।

एक अन्य वर्ग गूढ़ार्थ-प्रतीति मूलक अलंकारों का है। इस वर्ग के अलंकारों में अर्थ की गूढ-प्रतीतिजन्य सौन्दर्य उपलब्ध होता है। इस 'गूढ-प्रतीति' का कारण यह है कि कथ्य अभिधा में न कहा जाकर कई बार लक्षणा में और कई बार व्यंजना में कहा जाता है, अतः इनका सौन्दर्य लाक्षणिकता या व्यंग्यात्मकता पर आधारित होता है। इस दृष्टि से इस वर्ग के कुछ अलंकार लाक्षणिकता या वक्रोक्ति के क्षेत्र में आते हैं तथा कुछ व्यंग्यात्मकता या ध्वनि के क्षेत्र में। अतः इन अलंकारों से सम्बन्धित उदाहरणों को वक्रोक्ति एवं ध्वनि के अन्तर्गत स्थान देना चाहिए, अलंकारों में नहीं।

अस्तु, केवल सादृश्य मूलक अलंकारों का ही वर्ग एक ऐसा वर्ग है जो अलंकार का असली क्षेत्र है। वस्तुतः प्रारम्भ में भरत ने जिन चार अलंकारों का उल्लेख किया था उनमें से तीन इसी वर्ग के थे। आचार्य वामन ने भी अलंकारों के अन्तर्गत इसी वर्ग के अलंकारों की चर्चा की थी। सादृश्य मूलक अलंकारों के मूल में उपमा रहती है—अतः इन्हें औपम्य मूलक अलंकार भी कहा जाता है। सादृश्य और उपमा—दोनों ही इस तथ्य को सूचित करते हैं कि इनमें अप्रस्तुत का समावेश होता है तथा इसीलिए हमने इन्हें अलंकार के मूल क्षेत्र से सम्बद्ध माना है।

प्रचीन आचार्यों ने सादृश्य मूलक वर्ग में भी दो दर्जन से अधिक अलंकारों को स्थान दिया है, जिन्हें प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से निम्नांकित चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) **तुलनात्मक**—वे अलंकार जिनमें प्रस्तुत से अप्रस्तुत की केवल तुलना की जाती है, इस वर्ग में रखे जा सकते हैं ; जैसे—उपमा, अनन्वय, स्मरण, तुल्य-योगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना आदि।

(२) **आरोप मूलक**—इस वर्ग में वे अलंकार रखे जा सकते हैं, जिनमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत की सत्ताएँ परस्पर इतनी निकट आ जाती हैं कि एक का दूसरी पर आरोपण हो जाता है। रूपक, भ्रांति, संदेह, उल्लेख, अपन्हुति आदि अलंकारों में ऐसा ही होता है।

(३) **तादात्म्य मूलक**—सादृश्य मूलक अलंकारों में से ही कुछ अलंकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का नैकट्य इतना अधिक बढ़ जाता है कि दोनों के बीच तादात्म्य स्थापित हो जाता है, जैसे, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति में ऐसा ही होता है। अतिशयोक्ति में तो यह तादात्म्य इतना घनिष्ठ हो जाता है कि प्रस्तुत की सत्ता का प्रत्यक्षरूप में बोध भी नहीं हो पाता, केवल लाक्षणिकता के आधार पर ही प्रस्तुत का बोध होता है। अतः इस दृष्टि से अतिशयोक्ति को अलंकार की अपेक्षा वक्रोति में ही स्थान देना अधिक उचित है।

(४) **व्यंजनामूलक**—इस वर्ग में वे अलंकार लिये जा सकते हैं, जिनमें प्रस्तुत का बोध अप्रस्तुत के माध्यम से केवल व्यंजना शक्ति के द्वारा होता है ; प्रस्तुत की प्रत्यक्ष सत्ता लुप्त हो जाती है। जैसे—अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याज-स्तुति आदि।

उपर्युक्त चारों वर्गों में से प्रथम तीन वर्ग (अतिशयोक्ति को छोड़कर) ही अलंकार के क्षेत्र में पड़ते हैं, जबकि चतुर्थ वर्ग के अलंकार व्यंजना मूलक होने के कारण ध्वनि के क्षेत्र में चले जाते हैं। अतः इन भेदों को अलंकार की संज्ञा से मुक्त कर देना चाहिए।

अवशिष्ट अलंकारों के भेदोपभेदों की संख्या में भी और अधिक संकोच करने के लिए हम तीनों वर्गों (तुलना, आरोपण, तादात्म्य), में से क्रमशः तीन प्रतिनिधि अलंकार ले सकते हैं। तुलना सम्बन्धी अलंकारों के प्रतिनिधि के रूप में उपमा को, आरोपण सम्बन्धी अलंकारों के प्रतिनिधि के रूप में रूपक को और प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के तादात्म्य से सम्बद्ध अलंकारों के प्रतिनिधि के रूप में उत्प्रेक्षा को स्वीकार किया जा सकता है। प्रत्येक वर्ग के शेष अलंकारों का अन्तर्भाव उनके प्रतिनिधि अलंकारों के अन्तर्गत किया जा सकता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अनेक प्राचीन आचार्यों ने भी इस प्रकार के प्रयास को उचित माना है। आचार्य वामन ने तीस सादृश्य मूलक अलंकारों को उपमा के ही भेदों के रूप में स्वीकार किया था तो दूसरी ओर कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने विभिन्न अलंकारों को रूपक के अन्तर्गत ही समन्वित किया है, अतः हमारा यह प्रयास परंपरागत दृष्टिकोण के भी प्रतिकूल नहीं कहा जा सकता। फिर भी जो लोग भेदोपभेदों के अधिक विस्तार में विश्वास करते हैं वे शेष सादृश्य मूलक अलंकारों को क्रमशः उपमा, रूपक एवं उत्प्रेक्षा के उपभेदों के रूप में स्थान दे सकते हैं। अस्तु, अलंकारों के भेदोपभेदों के सम्बन्ध में प्रस्तावित संशोधन संक्षेप में ये हैं—

(क) अलंकारों के परम्परागत आठ वर्गों में से केवल एक वर्ग—सादृश्य मूलक अलंकार—ही अलंकार की सीमा में आता है, शेष वर्गों का सम्बन्ध अलंकार की अपेक्षा स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि से अधिक है, अतः उन्हें त्याग दिया जाय।

(ख) सादृश्य मूलक अलंकारों को भी चार वर्गों—तुलनात्मक, आरोपण मूलक, तादात्म्य मूलक एवं व्यंजना मूलक—में विभाजित करते हुए चतुर्थ वर्ग के अलंकारों को अलंकार के रूप में स्वीकार नहीं किया जाय।

(ग) सादृश्य मूलक अलंकारों के अवशिष्ट तीन वर्गों के प्रतिनिधि के रूप में केवल अलंकार के केवल तीन ही भेद—उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा—स्वीकार किये जायँ। यदि चाहें तो शेष भेदों को भी इन्हीं के उपभेदों के रूप में स्थान दिया जा सकता है।

उपर्युक्त संशोधनों से अलंकार का स्वरूप एवं क्षेत्र मर्यादित, निश्चित एवं स्पष्ट हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

(ख) वक्रोक्ति-सिद्धान्त

१५.५. वक्रोक्ति : स्वरूप-विश्लेषण —

'वक्रोक्ति' का आधारभूत तत्त्व वक्रता है। इस 'वक्रता' का अर्थ स्पष्ट करते हुए अनेक भारतीय आचार्यों ने इसे 'वैचित्र्य' का पर्याय तथा स्वभावोक्ति का विरोधी गुण माना है। किसी भी वस्तु या क्रिया-कलाप का सामान्य प्रचलित रूप ही उसका स्वाभाविक रूप है जबकि किसी प्रकार के परिवर्तन द्वारा उसमें वैशिष्ट्य उत्पन्न कर देना ही 'वक्रता' या वैचित्र्य है इस दृष्टि से प्रत्येक प्रकार का वैशिष्ट्य वक्रता के अन्तर्गत आ जाता है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। किसी भी वस्तु में वैशिष्ट्य के मुख्यतः तीन प्रकार माने जा सकते हैं—प्रथम द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न वैशिष्ट्य। द्वितीय, द्रव्य के गुणों में परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न और तृतीय द्रव्य के रूप में परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न। यद्यपि स्थूल रूप से तीनों प्रकार के ही वैशिष्ट्य वैशिष्ट्य हैं—किन्तु वक्रता का सम्बन्ध द्रव्य की मात्रा और गुणों से कम है, उसके बाह्य रूप से अधिक है। उदाहरण के लिए हम एक लम्बे भाषण को विशिष्ट व्याख्यान तो कह सकते हैं, किन्तु उसे वक्रता-युक्त नहीं कह सकते। इसी प्रकार वह भाषण चाहे राजनीति सम्बन्धी हो या धर्म सम्बन्धी ; वह उपयोगी हो या अनुपयोगी—इन गुणों का भी वक्रोक्ति से अधिक सम्बन्ध नहीं है इसके विपरीत यदि भाषण-कर्त्ता ने अपनी बात विशिष्ट ढंग से कही हो जो कि सामान्य प्रकार के भाषण में नहीं मिलती तो उसे वक्रता से युक्त माना जा सकता है। अस्तु, वक्रता का सम्बन्ध द्रव्यगत वैशिष्ट्य की अपेक्षा उसके रूपगत वैशिष्ट्य से अधिक है। द्रव्यगत वैशिष्ट्य से 'कम' इसलिए बताया जा रहा है कि कई बार द्रव्य के आन्तरिक परिवर्तन से उसके बाह्य रूप में भी परिवर्तन हो जाता है तथा ऐसी स्थिति में द्रव्यगत परिवर्तन भी रूप-परिवर्तन का कारण सिद्ध हो जाता है अन्यथा जहाँ द्रव्य का आन्तरिक परिवर्तन उसके बाह्य रूप को प्रभावित नहीं करता वहाँ उसे वक्रता से शून्य माना जा सकता है। अतः वक्रता का क्षेत्र हमें रूप-परिवर्तन—या साहित्य-शास्त्र में शैली के वैशिष्ट्य तक ही सीमित मानना होगा।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से प्रत्येक प्रकार का शैलीगत वैशिष्ट्य कदाचित् वक्रता के अन्तर्गत लिया जा सकता है तथा उस स्थिति में शैली के सभी विशिष्ट तत्त्व एवं सिद्धान्त जैसे—अलंकार, ध्वनि, प्रतीक, बिम्ब आदि वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही समाविष्ट किये जा सकते हैं। अनेक अलंकारवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों की जननी मान कर तथा वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक ने वर्ण-वक्रता से लेकर प्रबन्ध-वक्रता तक के भेदों में सभी प्रकार के काव्य-वैशिष्ट्य को स्थान देकर वक्रोक्ति के इसी व्यापक रूप का दिग्दर्शन कराया है। भारतीय विद्वानों ने ही नहीं पाश्चात्य सौन्दर्य मीमांसकों ने भी वक्रोक्ति की इस व्यापकता को स्वीकार किया है। सत्रहवीं शती के

प्रसिद्ध सौन्दर्य-शास्त्री विलियम होगार्थ ने भी 'वक्रता' को 'सर्प-पंक्ति' (Serpent line) मानते हुए इसे 'line of beauty' (सौन्दर्य-रेखा) के गौरव से भूषित किया है। वस्तुतः चित्र-कला का सौन्दर्य भी वक्र-रेखाओं में ही निहित है। अतः वक्रोक्ति की व्यापकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु जब तक हम सभी सिद्धान्तों के अस्तित्व को मिटाकर एक मात्र वक्रोक्ति की पूजा के लिए तैयार नहीं हो जाते तब तक वक्रोक्ति की ऐसी सीमाएं निश्चित करनी होंगी जिससे कि दूसरे सिद्धान्तों को भी अपनी सीमा में विद्यमान रहने की सुविधा मिल सके। इसके अतिरिक्त यदि हम प्रत्येक प्रकार के शैलीगत वैशिष्ट्य को वक्रोक्ति ही कहते रहे तो उनके पारस्परिक भेद को स्पष्ट करना कठिन हो जायगा। साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि वैशिष्ट्य के सभी उदाहरणों में चमत्कार का स्तर और उसका प्रभाव एक जैसा नहीं हो सकता। अतः हम यहाँ वक्रोक्ति को एक ऐसा मर्यादित रूप देने का प्रयास करेंगे जिससे एक ओर तो उसका सम्बन्ध उच्चकोटि के चमत्कार से रहे और दूसरी ओर वह अन्य सिद्धान्तों के अस्तित्व के लिए घातक सिद्ध न हो।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, वक्रोक्ति की सबसे पहली सीमा तो यही है कि उसका सम्बन्ध द्रव्यगत परिवर्तन से नहीं, रूपगत परिवर्तन से है। विशुद्ध वक्रोक्ति और अलंकार में यही सबसे बड़ा अन्तर है—अलंकार में पहले बाह्य द्रव्य या अप्रस्तुत विषय के संयोग के द्वारा मूल द्रव्य में परिवर्तन किया जाता है तदनन्तर उसके परिणाम-स्वरूप रूप में परिवर्तन उपस्थित होता है। अतः अलंकार का वैशिष्ट्य मूलतः बाह्य द्रव्य (अप्रस्तुत) के संयोग पर आश्रित रहता है जबकि वक्रोक्ति में मूल द्रव्य को ही वक्र रूप दे दिया जाता है। एक लकीर के पास दूसरी लकीर खींच देने से भी सौन्दर्य उत्पन्न हो सकता है और मूल लकीर को वक्र-रेखा का रूप दे देने से भी ; किन्तु जहाँ पहला माध्यम अलंकार के अनुरूप है वहाँ दूसरा वक्रोक्ति के अनुरूप। अलंकार में सादृश्य के द्वारा या तुलना के द्वारा सौन्दर्य में अभिवृद्धि की जाती है जबकि वक्रोक्ति में वैषम्य के द्वारा। लम्बे केशों पर नकली केश लगाकर उन्हें और अधिक लम्बाई दे देना, श्याम वर्ण नेत्रों की श्यामता को कज्जल से और अधिक बढ़ा देना या आरक्त ओष्ठों को लिपस्टिक के द्वारा और अधिक अनुरंजित कर देना अलंकरण का मार्ग है—इसमें स्वाभाविक गुणों में अभिवृद्धि करके ही उनके प्रभाव में अभिवृद्धि की जाती है या यों कहिए कि इसमें स्वाभाविकता को अतिशयता में परिणत कर दिया जाता है, पर इसी से इसे वक्रता नहीं कह सकते। वक्रता या वैचित्र्य वहाँ होगा जहाँ बिहारी के नायक पलकों में कज्जल के स्थान पर पीक लगाकर और ओठों पर पीक के स्थान पर कज्जल लगाकर सुप्रभात में प्रतीक्षाकुल प्रिया को दर्शन या 'प्रदर्शन' से अनुगृहीत करते हैं। अतः अतिशयता और वक्रता को एक ही मानना उचित नहीं—अतिशयता स्वाभाविक गुणों की मात्रा-वृद्धि को सूचित करती है जबकि वक्रता गुणों के अस्वाभाविक मेल से सम्बद्ध है। अलंकार का सम्बन्ध मूलतः अतिशयता

से है जबकि वक्रोक्ति में वैषम्यमूलक वक्रता होती है। यह आश्चर्य की बात है कि प्राचीन आलंकारिकों ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति—दोनों को पर्यायवाची माना है, तथा दोनों को ही अलंकार की जननी माना है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऐसा मानना उचित नहीं यह दूसरी बात है कि अतिशयोक्ति जब अपनी चरम सीमा से आगे बढ़ जाती है तो वह वक्रोक्ति में परिणत हो जाय। उदाहरण के लिए, यदि हम आँखों में इतना कज्जल डाल लें कि वह फैलकर हमारे कपोलों तक पहुँच जाय, या ओठों में इतनी अधिक लिपस्टिक लगा लें कि उससे हमारे दाँत भी बिल्कुल लाल हो जायँ तो यह अतिशयता भी अपनी सीमा का अतिक्रमण करती हुई वक्रोक्ति के क्षेत्र में पहुँच जायगी, किन्तु इसी से हम दोनों को एक नहीं मान सकते। जब एक हिन्दुस्तानी अपनी सीमा को पारकर स्थायी रूप से पाकिस्तान में पहुँच जाता है तो वह व्यक्ति पाकिस्तानी बन जाता है किन्तु इसी आधार पर यह कहना कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान एक ही हैं, उचित नहीं। अस्तु, अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति के बीच में सीमा-रेखा के रूप में हम क्रमशः स्वाभाविकता के उल्लंघन या वैपरीत्य या विषमता को मान सकते हैं। इसी को वक्रोक्ति की दूसरी सामान्य सीमा भी स्वीकार कर सकते हैं।

वक्रोक्ति की तीसरी सीमा यह मानी जा सकती है, कि इसमें वक्रता की मात्रा इतनी अधिक नहीं होती कि जिससे मूल रूप की सत्ता का सर्वथा लोप हो जाय या वह वस्तु किसी अन्य वस्तु का रूप धारण करले। उदाहरण के लिए, एक सीधी लकड़ी को टेढ़ी-मेढ़ी कर देना तो वक्रता का उदाहरण है किन्तु उसे घुमाकर इतना गोल कर देना कि जिससे उसके दोनों सिरे ही मिल जाँय और वह लकड़ी के स्थान पर 'चक्र' कहलाने लग जाय; तो इसे हम वक्रता की सीमा का अतिक्रमण कहेंगे। कोई भी वक्र रेखा तब तक ही वक्र है जब कि उसके दोनों छोर अलग-अलग हैं—जहाँ दोनों छोर मिले कि हम उसे 'वक्र-रेखा' के स्थान पर 'चतुर्भुज' 'वर्ग' या 'वृत्त' की संज्ञा दे देंगे। इसी प्रकार साहित्य-शास्त्र में भी वक्रता की एक सीमा होती है। उदाहरण के लिए वक्रोक्ति और अन्योक्ति या वक्रोक्ति और ध्वनि का अन्तर देखा जा सकता है। जहाँ अन्योक्ति और ध्वनि—जो कि हमारे विश्लेषण के अनुसार व्यंग्यात्मकता के ही दो नाम हैं—में बात इतनी घुमा-फिरा कर कही जाती है कि उसमें वक्तव्य वस्तु का अर्थ ही बदल जाता है या वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ में परिणत हो जाता है। यह स्थिति 'वक्रता' के प्रतिकूल है—वक्रता में मूल रूप की सत्ता अपेक्षित है। इस दृष्टि से लक्षणा शक्ति या लाक्षणिक प्रयोग वक्रता के अनुकूल है क्योंकि लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का सर्वथा लोप नहीं हो जाता अपितु उसमें थोड़ी सी बाधा—या वक्रता—ही उपस्थित होती है तथा उसी के सम्बन्ध से प्रतिपाद्य अर्थ की उपलब्धि होती है। उदाहरण के लिए—जब हम कहते हैं कि 'मेरा घर **गंगा** पर है' या 'मेरे पिताजी का **स्वर्गवास** हो गया' या 'घी ही **जीवन** है'—तो यहाँ गंगा, स्वर्गवास,

जीवन आदि शब्दों का जो अर्थ लिया जाता है वह मूल अर्थ से इतना दूर नहीं पड़ता कि उसे हम सर्वथा नया या भिन्न अर्थ कह सकें। वस्तुतः ये सब लक्ष्यार्थ के उदाहरण हैं तथा जो विशेषता इनमें मिलती है वह न तो अभिधात्मक प्रयोगों में मिलती है और न ही व्यंग्यात्मक में। अतः वक्रोक्ति की तीसरी सीमा के रूप में हम लाक्षणिकता को स्वीकार कर सकते हैं। यही वह सीमा है जो वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति (अभिधा मूलक) और व्यंग्योक्ति से पृथक करती है। इस प्रकार वक्रोक्ति की निम्नांकित तीन सीमाएँ निर्धारित की जा सकती हैं—

(१) वक्रोक्ति द्रव्यगत परिवर्तन पर आधारित न होकर रूपगत वैशिष्ट्य या परिवर्तन पर आधारित होती है। यह सीमा उसे अलंकार सिद्धान्त से पृथक करती है।

(२) वक्रोक्ति वैषम्य मूलक होती है। यह सीमा उसे स्वभावोक्ति एवं अतिशयोक्ति से पृथक करती है।

(३) वक्रोक्ति लक्षणामूलक होती है। यह सीमा उसे व्यंजना मूलक तत्त्वों—व्यंग्योक्ति, प्रतीक, ध्वनि आदि—से पृथक करती है।

१५.६. वक्रोक्ति के भेदोपभेद—

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के भेदोपभेदों में अत्यधिक विस्तार करते हुए उनकी संख्या पचास तक पहुँचा दी है। इससे अवश्य ही वक्रोक्ति के स्वरूप का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत हुआ है किन्तु साथ ही अनेक अनावश्यक, अनुपयुक्त एवं असंगत भेदों के कारण उसका क्षेत्र अनिश्चित, अमर्यादित एवं अस्पष्ट भी हो गया है। अतः वक्रोक्ति-सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप देने के लिए उसके भेदोपभेदों में भी संशोधन अपेक्षित है। यहाँ इसी लक्ष्य-पूर्ति के लिए वक्रोक्ति के भेदोपभेदों पर क्रमशः विचार किया जाता है—

(१) **वर्ण-विन्यास-वक्रता**—इसके अन्तर्गत वर्णों की आवृत्ति-जन्य वैचित्र्य का समावेश किया जाता है। जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—"यह वर्ण-विन्यास-वक्रता अन्य आचार्यों का अनुप्रास ही है।"[1] अनुप्रासादि शब्दालंकारों का विवेचन करते हुए हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं कि इनमें विशिष्ट स्वर या व्यंजन की आवृत्ति द्वारा नाद-सौन्दर्य उत्पन्न किया जाता है, जो वस्तुतः साहित्य की अपेक्षा संगीत-कला से अधिक सम्बद्ध है। साहित्य के भी एक ही रूप कविता में इसका उपयोग किया जाता है। अतः हमने इसे साहित्य के सामान्य तत्त्व के रूप में स्वीकार करना अनुचित समझा है। इसे अधिक से अधिक वर्ण-योजना का वैशिष्ट्य कह सकते हैं किन्तु फिर भी इसे वक्रोक्ति में स्थान नहीं दे सकते क्योंकि वक्रोक्ति के मूल में लक्षणा-शक्ति की प्रेरणा आवश्यक है जबकि इस प्रकार की वर्ण-योजना का किसी भी अर्थ-शक्ति से

---

१. हिन्दी वक्रोक्ति-जीवितम् : डा० नगेन्द्र (भूमिका), पृ० ५५।

कोई सम्बन्ध नहीं होता—उसका सम्बन्ध भाषा के नाद-पक्ष से होता है। अतः वक्रोक्ति का यह भेद वक्रोक्ति की मूल-भावना के अनुरूप नहीं माना जा सकता।

(२) **पद-पूर्वार्ध वक्रता**—इसके अन्तर्गत शब्द के पूर्वार्ध या धातु सम्बन्धी अंश से सम्बन्धित वैचित्र्य आता है। इसके भी आठ उपभेद किये गये हैं जिन्हें हम स्थूल रूप से केवल इन दो भेदों में समाविष्ट कर सकते हैं—(१) पद-वैचित्र्य और (२) व्याकरण-वैचित्र्य। कुन्तक के द्वारा परिगणित रूढ़ि-वैचित्र्य, पर्याय-वक्रता, उपचार वक्रता और संवृत्ति वक्रता—ये चारों भेद सामान्यतः पद-वैचित्र्य के अन्तर्गत तथा शेष चार भेद—(१) विशेषण-वक्रता, वृत्ति-वक्रता, लिंग-वैचित्र्य, क्रिया-वैचित्र्य व्याकरण-वैचित्र्य के अन्तर्गत रक्खे जा सकते हैं। वस्तुतः इन सभी भेदों के अन्तर्गत लाक्षणिक प्रयोगों के विभिन्न रूप आते हैं। भाव के आवेश में जब हम सामान्य शब्द के स्थान पर विशिष्ट शब्द का या व्याकरण के प्रतिकूल रूपों का प्रयोग करते हैं, तो इस से पद-पूर्वार्ध-वक्रता के विभिन्न प्रकार के उदाहरणों का प्रादुर्भाव होता है।

(३) **पद-परार्ध-वक्रता**—इसके अन्तर्गत पद के उत्तरार्ध (या प्रत्ययों और विभक्ति चिन्हों) से सम्बन्धित विचित्र प्रयोगों का समावेश किया जाता है, जिसके छः भेद माने गये हैं—(१) काल-वैचित्र्य (२) कारक-वैचित्र्य, (३) वचन-वक्रता, (४) पुरुष-वक्रता, (५) उपग्रह-वक्रता, (६) प्रत्यय-वक्रता। इन भेदों का सम्बन्ध लक्षणा-प्रेरित व्याकरण-रूपों के वैचित्र्य से है, अतः इनका भी समाहार व्याकरण-वैचित्र्य में किया जा सकता है।

हिन्दी में संस्कृत की भाँति पद के पूर्वार्ध एवं परार्ध का भेद प्रचलित नहीं है, अतः इस दृष्टि से पद-पूर्वार्ध-वक्रता और पद-परार्ध-वक्रता—दोनों को मिलाकर एक किया जा सकता है।

(४) **वाक्य-वक्रता**—इसके भी दो प्रमुख उपभेद किये गये हैं—(१) सहजा और (२) आहार्य। सहजा-वाक्य-वक्रता के सम्बन्ध में आचार्य कुन्तक के मत को स्पष्ट करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—"सहज का अर्थ है सहज शक्ति द्वारा उत्पन्न—इसके अन्तर्गत वस्तु के स्वभाव का सहज सुन्दर वर्णन आता है।"[२] कुछ विषय स्वभाव से ही इतने रमणीक होते हैं कि उनके वर्णन में स्वतः ही रमणीयता आ जाती है—इसी रमणीयता को 'सहजा-वाक्य-वक्रता' के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। आचार्य कुन्तक ने इसका विवेचन करते हुए वयः सन्धि, ऋतु-संधि, नारी-सौन्दर्य आदि के प्रसंगों का विशेष रूप से उल्लेख भी किया है—अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि इसके अन्तर्गत आचार्य कुन्तक विषय-वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य को स्थान देना चाहते थे, किन्तु वे भूल गये कि यह स्वाभाविक सौन्दर्य स्वभावोक्ति के क्षेत्र में आता है न कि वक्रोक्ति में।

---

२. हिन्दी वक्रोक्ति-जीवितम् : भूमिका, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ८५।

शायद आचार्य कुन्तक के अनुयायी हमारे इस आक्षेप के उत्तर में दो तर्क दे सकते हैं—(१) आचार्य कुन्तक स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति को एक ही मानते थे, अतः सहजा-वक्रता को वक्रोक्ति में स्थान देना उचित है। (२) आचार्य कुन्तक यहाँ विषय की सहजता या स्वाभाविकता की बात कह रहे हैं न कि शैली की सहजता की ? सहजा-वक्रता में भी शैली तो वक्रता पूर्ण ही रहेगी, केवल विषय ही स्वाभाविक रहेगा—अतः आचार्य कुन्तक का प्रयास ठीक है। इन तर्कों के उत्तर में हमारा निवेदन है कि यदि हम स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति को एक ही मान लें तो उस स्थिति में वक्रोक्ति की विशिष्टता ही नहीं रह जायगी ; स्वभावोक्ति में स्वाभाविक विषय स्वाभाविक ढंग से अर्थात् अभिधा में कहा जाता है जबकि वक्रोक्ति में स्वाभाविक बात भी वक्रतापूर्ण शैली में अर्थात् लक्षणा में कही जाती है—अतः दोनों को एक नहीं मान सकते। इस दृष्टि से प्रत्येक वक्रोक्ति में विषय प्रकृत या स्वाभाविक होता है—केवल मात्र रूप या शैली का परिवर्तन होता है ; जहाँ वक्रोक्ति का विषय भी अप्रकृत या अप्रस्तुत में परिवर्तित हो जाता है वहाँ वक्रोक्ति की सत्ता ही समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में 'सहजा-वाक्य-वक्रता' नाम के किसी अलग भेद की आवश्यकता ही नहीं, परन्तु वास्तविकता यह है कि आचार्य कुन्तक यहाँ वक्रोक्तिवाद या चमत्कार को भूलकर इस तथ्य को स्वीकार कर लेते हैं कि कई बार विषयगत रमणीयता के कारण स्वभावोक्ति भी रमणीय बन जाती है। यह रमणीयता वक्रोक्ति के क्षेत्र से बाहर पड़ती है, किन्तु कुन्तक इसे अपने अधिकार में ले लेने का लोभ संवरण नहीं कर पाये। वस्तुतः 'सहजा' के साथ वक्रता का मेल वैसा ही असंगत है जैसा यह कहना कि 'ठण्डी आँच लाओ' या 'गरम बर्फ दो।' अतः हम सहजा-वाक्य-वक्रता या स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति के एक भेद के रूप में मान्यता नहीं दे सकते।

वाक्य-वक्रता का दूसरा-भेद आहार्या है। इसके अन्तर्गत अलंकारों का समावेश किया गया है। वस्तुतः 'आहार्य' और 'अलंकार' में शब्दार्थ की दृष्टि से भी निकट-सम्बन्ध है। इस भेद की भी कल्पना संभवतः अलंकार सिद्धान्त की सत्ता समाप्त करके उसकी भूमि पर वक्रोक्ति का अधिकार सिद्ध करने के लिए की गई है—क्योंकि आचार्य कुन्तक स्पष्ट रूप से इसके अन्तर्गत सहोक्ति, औपम्य, हेतु, संदेह, उल्लेख व्यतिरेक आदि प्रमुख अलंकारों को उनके मूल नाम सहित समाविष्ट कर लेते हैं। किन्तु जैसा कि पीछे अलंकार सिद्धान्त की विवेचना करते समय स्पष्ट किया गया था, अलंकार और वक्रोक्ति में स्पष्ट अन्तर है—एक में अप्रस्तुत का मेल होता है जबकि दूसरे में इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती तथा जहाँ अलंकार सादृश्य पर आधारित हैं वहाँ वक्रोक्ति वैषम्य मूलक होती है—अतः दोनों को अभिन्न मानना या अलंकार पर वक्रोक्ति का अधिकार सिद्ध करना तर्क-संगत नहीं है। यह ठीक है कि कुछ अलंकारवादियों ने भी वक्रोक्ति को अलंकारों की जननी माना है, किन्तु उनकी

वक्रोक्ति सम्बन्धी धारणा केवल 'अतिशयोक्ति' तक सीमित थी, जबकि कुन्तक उसे अधिक व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं। किन्तु जैसा कि पीछे स्पष्ट किया गया है, हम वक्रोक्ति को एक निश्चित एवं मर्यादित अर्थ में ही स्वीकार करते हैं, अतः सादृश्य मूलक अलंकारों को आहार्या वक्रोक्ति के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती। वस्तुतः यहाँ भी कुन्तक ने अलंकारों को वक्रोक्ति में ही समेट लेने का प्रयास किया है जो उचित नहीं कहा जा सकता।

(५) **प्रकरण-वक्रता**—इसका सम्बन्ध विभिन्न प्रसंगों से है। इसके भी नौ भेद किये गये हैं—(१) भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना, (२) उत्पाद्य-लावण्य, (३) अविद्यमान की कल्पना, (४) प्रकरणों का उपकार्य-उपकारक-भाव, (५) विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना आदि। इनसे स्पष्ट है कि इसमें रोचक एवं विचित्र प्रसंगों की कल्पना या प्रसंगों की विचित्र ढंग से अन्विति आदि प्रसग-गत वैचित्र्य को स्थान दिया गया है। वस्तुतः वक्रता का यह भेद भी काव्य की विषय-वस्तु के गुणों से सम्बद्ध है—शैली से इसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। अतः इसे भी विषयगत चमत्कार या चमत्कारपूर्ण विषय का चयन एवं आयोजन मानते हुए वक्रोक्ति के क्षेत्र से दूर मानना चाहिए। उदाहरण के लिए निम्नांकित प्रसंग देखिये—

आ भाई, वह वैर भूलकर, हम दोनों समदुःखी मित्र,
आजा क्षण भर भेंट परस्पर, करलें अपने नेत्र पवित्र।
हाय! किन्तु इससे पहले ही मूर्छित हुआ निशाचर-राज।
प्रभु भी यह कह गिरे—'राम से रावण ही सहृदय है आज।'

(साकेत)

डा० नगेन्द्र ने यहाँ आचार्य कुन्तक के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए इसे प्रकरण-वक्रता का उदाहरण माना है[३], किन्तु हमारे विचार से उपर्युक्त उदाहरण में वक्रता की सत्ता स्वीकार करना उचित नहीं है। उपर्युक्त उदाहरण में जो भी सौन्दर्य या चमत्कार है, वह विषयगत है, जिसका श्रेय उसकी भावात्मकता एवं स्वाभाविकता को दिया जा सकता है जबकि वक्रोक्ति का सम्बन्ध विषय से नहीं अपितु शैली से है। उपर्युक्त विषय को यदि दूसरी शैली में भी प्रस्तुत करदें तो भी इसका सौन्दर्य नष्ट नहीं होगा, क्योंकि यहाँ सौन्दर्य कथन-विधि पर नही, अपितु कथ्य पर आश्रित है। डा० नगेन्द्र ने भी इसमें विषयगत गुणों—उदारता एवं सहृदयता के ही उत्कर्ष को स्वीकार करते हुए लिखा है—"उपर्युक्त प्रसंग राम की उदारता तथा रावण की सहृदयता का उत्कर्ष करता हुआ प्रबन्ध-विधान में एक अपूर्व प्रभाव-क्षमता उत्पन्न कर देता है।"[४] अवश्य ही चारित्रिक गुणों की अभिव्यक्ति से प्रबन्ध के प्रभाव में

---

३. हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम् की भूमिका : डा० नगेन्द्र, पृ० ९५।
४. वही।

अभिवृद्धि होती है किन्तु हम चारित्रिक गुणों (उदारता सहृदयता) के प्रस्तुतीकरण का श्रेय वक्रोक्ति को नहीं दे सकते।

वस्तुतः 'प्रकरण-वक्रता' का सम्बन्ध शैलीगत तत्त्वों की अपेक्षा विषय-वस्तु के गुणों से ही अधिक है, अतः इसे वक्रोक्ति के उपभेद के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं, अन्यथा सभी रसों की सामग्री—विशेषतः अद्भुत रस—में रसात्मकता के स्थान पर वक्रोक्ति का ही अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा। इतना ही नहीं उस स्थिति में अन्य सभी सिद्धान्तों एवं सभी प्रकार के काव्य-सौन्दर्य का समावेश वक्रोक्ति के अन्तर्गत करना होगा। वस्तुतः आचार्य कुन्तक का लक्ष्य भी ऐसा ही करना था, किन्तु हम उसका अनुमोदन नहीं कर सकते।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कई बार प्रसंग में शैलीजन्य सौन्दर्य या चमत्कार भी रहता है, किन्तु उसका सम्बन्ध व्यंजना-शक्ति से रहता है, जबकि वक्रोक्ति की सीमा हम लक्षणा-शक्ति तक ही सीमित मानते हैं—अन्यथा वक्रोक्ति और ध्वनि में कोई अन्तर न रह जायगा। अतः प्रकरण के व्यंजना-जन्य सौन्दर्य का भी समावेश प्रकरण-वक्रता के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। अस्तु, किसी भी दृष्टि से प्रकरण-वक्रता को वक्रोक्ति के एक भेद के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं होगा।

(६) **प्रबन्ध-वक्रता**—इसके अन्तर्गत भी कथा-वस्तु के विस्तार एवं परिवर्तन सम्बन्धी उन तत्त्वों को समन्वित किया गया है जो मूलतः वक्रोक्ति के क्षेत्र से बाहर पड़ते हैं। परम्परागत रस के स्थान पर काव्य-वस्तु में नये रस की प्रतिष्ठा या कथा के उपसंहार में नया परिवर्तन, नायक की एक सफलता के साथ अनेक सफलताओं का मिलना—ये सब प्रबन्ध-वक्रता के उपभेद माने गये हैं जो वस्तुतः कथा-वस्तु या विषय-वस्तु के विभिन्न प्रकार के परिवर्तन-परिवर्द्धन से सम्बन्धित हैं, किन्तु जैसा कि पीछे स्पष्ट किया गया है, वक्रोक्ति का क्षेत्र शैलीगत वैचित्र्य तक ही सीमित है, अतः हम प्रबन्ध-वक्रता को भी वक्रोक्ति के उपभेद के रूप में मान्यता नहीं दे सकते।

इस प्रकार हम वक्रोक्ति के संशोधित रूप के अन्तर्गत उसके विभिन्न उपभेदों में से केवल पद-वक्रता एवं वाक्य-वक्रता (उसके दो उपभेदों को नहीं) को ही स्थान देना उचित समझते हैं शेष भेद—वर्ण-विन्यास-वक्रता, सहजा, आहार्या, प्रकरण-वक्रता प्रबन्ध-वक्रता एवं इनके उपभेद—वक्रोक्ति के मूल स्वरूप एवं मर्यादित क्षेत्र से असम्बद्ध होने के कारण त्याज्य सिद्ध होते हैं।

(ग) ध्वनि-सिद्धान्त

१५.७. ध्वनि-सिद्धान्त—

जैसा कि पीछे ध्वनि-सिद्धान्त का अनुशीलन करते समय स्पष्ट किया गया था, यह सिद्धान्त मूलतः व्यंजना-शक्ति एवं व्यंग्यार्थ पर ही आधारित है, अतः जो

सीमाएँ व्यंजना-शक्ति की मानी जाती हैं वे सब ध्वनि पर भी लागू होती हैं। व्यंजना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसकी दो प्रमुख सीमाएँ निर्दिष्ट की गई थीं—(१) व्यंजना में एक साथ दो अर्थों (वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ) की सत्ता रहती है। (२) व्यंजना का आविर्भाव प्रसंग या प्रकरण की प्रेरणा से होता है। इस दृष्टि से व्यंजना को अभिधा एवं लक्षणा से पृथक माना गया था। अस्तु, इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम ध्वनि-सिद्धान्त पर आगे पुनर्विचार कर सकते हैं।

१५.८. ध्वनि-सिद्धान्त में अपेक्षित संशोधन—

ध्वनि-सिद्धान्त पर पुनर्विचार करते हुए हम निम्नांकित संशोधन प्रस्तुत कर सकते हैं—

(क) **नामकरण**—'ध्वनि' शब्द का मूल अर्थ 'अनुरणन' या 'अनुगूँज' है, किन्तु हिन्दी में इसका प्रयोग सामान्यतः नाद (Sound) के लिए होता है। भाषा-विज्ञान में भी भाषा के नाद-पक्ष को ही 'ध्वनि' कहते हैं, अतः ऐसी स्थिति में इस भ्रान्ति का हो जाना स्वाभाविक है कि ध्वनि-सिद्धान्त का सम्बन्ध भाषा के नाद-पक्ष से ही होगा जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं है। दूसरे, ध्वनि का व्यंजना-शक्ति एवं व्यंग्यार्थ से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है, अतः एक ही विशेषता के दो नाम रखने की क्या आवश्यकता है? कदाचित् इसके उत्तर में कहा जाय कि प्रत्येक व्यंजना ध्वनि नहीं होती, जहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान होता है वही ध्वनि होती है तो इसका समाधान करने के लिए 'ध्वनि' को 'व्यंजना' के स्थान पर 'व्यंग्यार्थ-प्रधान' या 'व्यंग्य-प्रधान' नाम दिया जा सकता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि व्यंग्यार्थ के गौण होने पर उसे 'गुणीभूत व्यंग्य' कहने की परम्परा पहले से विद्यमान है, अतः इसकी तुलना में ध्वनि को 'व्यंग्य-प्रधान' कहना अनुचित नहीं होगा। अस्तु, ध्वनि को 'व्यंग्य-प्रधान' की संज्ञा देना प्रत्येक दृष्टि से ठीक रहेगा।

(ख) **सीमाएँ**—ध्वनि का वर्तमान रूप इतना व्यापक, अमर्यादित एवं अनिश्चित है कि उसमें अलंकार, वक्रोक्ति, रस आदि सभी तत्त्वों को—यहाँ तक कि प्रत्येक उक्ति को—स्थान दिया जा सकता है। इस अनिश्चितता को दूर करने के लिए इसकी निम्नांकित सीमाएँ निश्चित की जा सकती हैं—

(अ) ध्वनि का सम्बन्ध विषयगत सौन्दर्य से नहीं अपितु शैलीगत वैशिष्ट्य से है। यह सीमा उसे रस, उदात्त, बिम्ब आदि सिद्धान्तों से पृथक करती है।

(आ) ध्वनि का सम्बन्ध केवल व्यंजना-शक्ति जन्य वैशिष्टय से है, अभिधा और लक्षणा से नहीं। यह सीमा उसे क्रमशः अलंकार और वक्रोक्ति से पृथक करती है, क्योंकि अलंकार (संशोधित रूप में) अभिधा पर आश्रित होते हैं तथा वक्रोक्ति (संशोधित रूप में) लक्षणा पर आश्रित होती है।

(इ) ध्वनि की व्याप्ति कुछ शब्दों में ही नहीं, पूरे प्रसंग में होती है। यह सीमा उसे प्रतीक सिद्धान्त से पृथक करती है।

अस्तु, संक्षेप में ध्वनि व्यंजना-शक्ति जन्य प्रसंगगत विशेषता है जिसका सम्बन्ध शैली पक्ष से है।

(ग) ध्वनि के भेदोपभेद—जैसा कि इस सिद्धान्त का अनुशीलन करते हुए अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, ध्वनि के निम्नांकित प्रचलित भेद ध्वनि के मूल रूप से असम्बद्ध हैं—

(१) अभिधामूला ध्वनि—प्रत्येक ध्वनि में अभिधा (वाच्यार्थ) और व्यंजना साथ-साथ रहती हैं, अतः अभिधामूला भेद अनावश्यक है।

(२) लक्षणामूला ध्वनि—जिस अर्थ के मूल में लक्षणा होगी, वह लक्ष्यार्थ कहलाता है जिसका सम्बन्ध ध्वनि से न होकर वक्रोक्ति से है। ध्वनिकार ने लक्षणा की सत्ता को अस्तित्वहीन सिद्ध करने के लिए ही इस भेद की कल्पना की थी, जो उचित नहीं।

(३) इसी प्रकार असंलक्ष्य-क्रम ध्वनि, अलंकार-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि एवं रस-ध्वनि—आदि भेद भी असंगत हैं।

वस्तुतः इन सब भेदोपभेदों की निस्सारता का स्पष्टीकरण हम पीछे विस्तार से कर चुके हैं, अतः उसकी पुनरावृत्ति यहाँ अनुचित होगी। हमारे विश्लेषण के अनुसार ध्वनि के केवल दो ही भेद स्वीकार्य हैं—(१) गुणीभूत व्यंग्य और (२) व्यंग्य-प्रधान।

हमारे विचार से ध्वनि-सिद्धान्त को स्पष्ट, निश्चित एवं संगत रूप देने के लिए उपर्युक्त संशोधनों को स्वीकार करना आवश्यक है, अन्यथा ध्वनि और अन्य तत्त्वों में कोई अन्तर न रह जायगा।

(घ) बिम्ब-सिद्धान्त

१५.९. बिम्ब : स्वरूप एवं क्षेत्र—

बिम्ब-सिद्धान्त का अनुशीलन करते समय पीछे उसके स्वरूप एवं क्षेत्र पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है जिससे बिम्ब की निम्नांकित विशेषताएं स्पष्ट हैं—(१) बिम्ब एक ऐसा शाब्दिक विवरण है जो हमारे मानस-बिम्बों को उदित करता है। (२) बिम्ब में ऐन्द्रिक गुणों का उल्लेख रहता है। (३) बिम्ब में शब्द की अभिधा-शक्ति ही सक्रिय होती है। इन विशेषताओं के आधार पर बिम्ब का अलंकार और प्रतीक से इस प्रकार भेद स्पष्ट किया जा सकता है—

(क) बिम्ब में प्रस्तुत विषय के ही ऐन्द्रिक गुणों का आख्यान रहता है जब कि अलंकार में अप्रस्तुत के योग के द्वारा विषय-वस्तु की विभिन्न विशेषताओं का उद्घाटन किया जाता है।

(ख) बिम्ब अभिधात्मक होता है जबकि प्रतीक में व्यंजना-शक्ति के कारण अनेकार्थकता रहती है।

अस्तु, इन सब तथ्यों का विस्तार से पीछे विवेचन किया जा चुका है, अतः यहाँ उनका संकेत-मात्र ही पर्याप्त होगा। यह भी पीछे सिद्ध किया जा चुका है कि बिम्ब के विभिन्न भेदोपभेद भी अनावश्यक एवं असंगत है।

(ङ) प्रतीक सिद्धान्त

१५.१०. प्रतीक : स्वरूप एवं भेद—

प्रतीक सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या पीछे की जा चुकी है, जिससे स्पष्ट है कि 'प्रतीक एक विशेष संकेत चिह्न होता है, जिसका प्रयोग किसी अन्य अर्थ के प्रतिनिधित्व के लिए होता है।' इस आधार पर प्रतीक के तीन प्रमुख लक्षण निर्धारित किये गये थे—(१) इसमें एक साथ दो अर्थ विद्यमान रहते हैं; एक सामान्य अर्थ और एक विशिष्ट। (२) प्रतीक के विशिष्ट अर्थ विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न हो सकते हैं। (३) प्रतीक में विशिष्ट अर्थ स्वतः उदभूत नहीं होता—आरोपित होता है। इन लक्षणों की दृष्टि से प्रतीक का क्षेत्र सीमित एवं निश्चित है, किन्तु प्रतीकवादियों ने प्रतीक की ऐसी व्याख्या की है जिससे उसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। विभिन्न प्रतीकवादियों ने प्रतीक का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया है जिससे इसका रूप अस्पष्ट एवं क्षेत्र अनिश्चित हो गया है। उदाहरण के लिए प्रतीक के निम्नांकित अर्थ-भेदों को देखा जा सकता है—

(क) **प्रत्येक शब्द प्रतीक**—प्रतीकवादियों के एक वर्ग ने भाषा के प्रत्येक शब्द को प्रतीक माना है। उनके विचार से दवात, कलम, स्लेट, नौकरी, यात्रा, भलाई आदि सभी शब्द मूल विषय-वस्तु या क्रिया-व्यापार के प्रतीक हैं। हमारे विचार से प्रतीक का यह क्षेत्र-विस्तार सर्वथा अनुचित है। दवात, कलम आदि भाषा के सामान्य शब्दों को प्रतीक न कहकर मूल-वस्तु के संकेत-चिह्न मानना चाहिए। प्रतीक में दो अर्थ एक-साथ उपस्थित रहते हैं—एक प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत जबकि उपर्युक्त संकेत-चिह्नों में ऐसा नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रतीक में विशिष्टि अर्थ पूर्व-परम्परा द्वारा विकसित नहीं होता अपितु नये रूप में प्रयुक्त या आरोपित होता है जबकि सामान्य शब्दों में परम्परा के द्वारा अर्थ का विकास इस ढंग से हो जाता है कि वह हमें नैसर्गिक सा प्रतीत होता है। तीसरे, सामान्य शब्दों के अर्थ सामान्यतः विभिन्न परिस्थितियों में एक जैसे रहते हैं जबकि प्रतीक में ऐसा नहीं होता। अतः सामान्य शब्दों को 'प्रतीक' मानना उचित नहीं।

(ख) **व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के रूप में संकेतात्मक प्रतीक**—जब हम 'कुत्ते' को 'कमल' या 'मधु' के नाम से पुकारते हैं तो निश्चित ही यहाँ हमारा इच्छित अर्थ

आरोपित ही होता है, जब हम विभिन्न व्यक्तियों, वस्तुओं, पदार्थों आदि का नाम करण करते हैं—जैसे, प्रकाश चन्द्र, सन लाइट साबुन, ऊषा-फैन आदि—तो वहाँ शब्द का प्रयोग नये अर्थ में होता है। किन्तु एक बार नामकरण हो जाने पर वह इतना रूढ़, प्रचलित एवं सर्वमान्य हो जाता है कि उसमें प्रतीक की सी द्वयार्थात्मकता और विशिष्टता नहीं रहती। 'सन-लाइट' साबुन का नाम लेते समय हमारे मन में सूर्य की रोशनी का अर्थ नहीं रहता और न ही 'प्रकाश चन्द्र' को पुकारते समय हमारे मन में ही प्रकाश का भाव रहता है। अतः नामकरण के कारण एक शब्द पर किसी विशिष्ट अर्थ का आरोपण तो हो जाता है किन्तु उसका मूल अर्थ गौण एवं प्रभाव-शून्य हो जाता है। उसमें दो अर्थ एक साथ विद्यमान नहीं रहते जबकि प्रतीक के लिए ऐसा होना आवश्यक है। साथ ही नामकरण के कारण नया अर्थ रूढ एवं सर्व-प्रसिद्ध भी हो जाता है जिससे उस अर्थ में वह विशिष्टता नहीं रहती जो प्रतीक के लिए अपेक्षित है। अतः व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को प्रतीक के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं।

(ग) **अभिव्यंजनात्मक प्रतीक**—जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया गया है इनके मूल में लक्षणा-शक्ति कार्य करती है, इसलिए एक शब्द का अर्थ अन्य अर्थ में अन्तरित हो जाता है। जैसे—'तुम गधे हो !' में 'गधा' 'मूर्खता' का प्रतीक है किन्तु लक्षणा मूलक प्रयोगों में प्रतीक की सभी विशेषताएँ नहीं मिलतीं। जहाँ प्रतीक में दो अर्थों की सह-स्थिति रहती है, वहाँ इनमें एक अर्थ बाधित हो जाता है। दूसरे, लक्षणा में दोनों अर्थ सम्बद्ध होते हैं—उनके बीच कोई न कोई सम्बन्ध रहता है जबकि प्रतीक के लिये दोनों अर्थ स्वतन्त्र या परस्पर असम्बद्ध होने चाहिए। अतः अभिव्यंजनात्मक प्रतीक या लक्षणा मूलक प्रयोगों को भी प्रतीक के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों को वक्रोक्ति में स्थान देना अधिक उचित होगा।

(घ) **आरोपमूलक प्रतीक**—प्रतीकों का वास्तविक रूप आरोपमूलक प्रतीकों में मिलता है। इनमें वक्ता जान बूझकर शब्दों पर नये अर्थ का आरोपण करता है—जैसे, "ठाढा **सिंह** चरावै **गाई**" (कबीर) या "मधुर-मधुर **दीपक** जल मेरे" (महादेवी)। इस कोटि के प्रतीकों में प्रतीक की पूर्वोक्त तीनों विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। अतः शुद्ध प्रतीक इसी कोटि के प्रतीकों को माना जाना चाहिए—शेष प्रकार के तथाकथित प्रतीक (संकेत-चिह्न, व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ लाक्षणिक प्रयोग) 'प्रतीक' की सीमा से दूर पड़ते हैं।

१५.११. प्रतीक और ध्वनि—

जैसा कि प्रतीक सिद्धान्त का परिचय देते हुए अन्यत्र स्पष्ट किया गया है, प्रतीकों के तीनों प्रकार—संकेतात्मक, अभिव्यंजनात्मक एवं आरोप मूलक—क्रमशः

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों पर आधारित हैं। किन्तु प्रतीक के प्रथम दो प्रकार—संकेतात्मक एवं अभिव्यंजनात्मक—उपर्युक्त विवेचन के अनुसार प्रतीक की सभी शर्तों को पूरी नहीं करते, अतः इन्हें प्रतीक रूप में मानना अनुचित सिद्ध हो गया है, ऐसी स्थिति में केवल व्यंजना-शक्ति पर आधारित प्रतीक ही विशुद्ध प्रतीक के क्षेत्र में आते हैं। व्यंजना-शक्ति से ध्वनि सिद्धान्त का भी सम्बन्ध है, अतः यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या ध्वनि और प्रतीक एक ही हैं या अलग-अलग ? हमारे विचार से शैलीगत जिस वैशिष्ट्य को भारतीय आचार्यों ने 'ध्वनि' की संज्ञा दी है। उसी को पाश्चात्य विद्वानों ने 'प्रतीक' कहा है। दोनों में निम्नांकित बातें समान रूप से मिलती हैं—

(१) दोनों के मूल में व्यंजना-शक्ति रहती है।

(२) दोनों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत—वाच्य और व्यंग्य—अर्थों की सह-स्थिति रहती है।

(३) दोनों में व्यंग्यार्थ नैसर्गिक या रूढ़ न होकर आरोपित होता है।

(४) दोनों का स्रोत बुद्धि-नियंत्रित भावोद्रेक होता है क्योंकि प्रतीक में भी ध्वनि की भाँति बुद्धि सक्रिय रहती है।

इन समानताओं को देखते हुए प्रतीक और ध्वनि अभिन्न कहे जा सकते हैं। उदाहरण के लिये यहाँ कुछ अंश द्रष्टव्य हैं—

(क) स्वार्थ सुकृत न श्रमु वृथा, देखु **विहंग** विचारि।
बाज पराये पानि परी तू **पच्छीननु** न मारि।

(ख) पानी में **मीन** पियासी।
मोहि सुन-सुन आवै हाँसी।

(या) ठाढा **सिंह** चरावै **गाई**।

(ग) जग हँस कर कह देता है,
मेरी आँखें हैं निर्धन।
इनके बरसाये **मोती**,
क्या वह अब तक पाया गिन ?

उपर्युक्त अंशों में से 'क' विशुद्ध ध्वनि का उदाहरण है। इसका अन्यार्थ या व्यंग्यार्थ जो कि महाराज जयसिंह से सम्बन्धित है, मूल प्रसंग-ज्ञान पर आधारित है। किसी एक शब्द में इसका व्यंग्यार्थ निहित नहीं है। किन्तु इसमें विहंग को महाराजा जयसिंह का एवं बाज को औरंगजेब का प्रतीक भी माना जा सकता है। इतना ही नहीं यदि हम इसके कुछ प्रतीकात्मक शब्दों को बदल दें तो यही अंश विशुद्ध अभिधा में परिणित हो जायगा ; देखिये—

स्वार्थ सुकृत न श्रमु वृथा, देखु **जयसिंह** विचारि।
मुस्लिम के हाथौं परि, तू **हिन्दुनन** न मारि॥

यहाँ जयसिंह, मुस्लिम, हिन्दू—आदि शब्दों के प्रयोग के कारण व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ में परिणत हो गया है। अतः कहा जाता है कि इस प्रसंग में प्रतीकों के प्रयोग के कारण ही ध्वनि या व्यंजना शक्ति का उद्दीपन हुआ है।

दूसरे (ख) उदाहरण में मीन, सिंह, गाय आदि शब्द प्रतीकात्मक हैं, किन्तु यहाँ वाच्यार्थ में बाधा उपस्थित होती है—पानी में मीन प्यासी कैसे रह सकती है ? सिंह खड़ा-खड़ा गाय को कैसे चरा सकता है ? आदि। अतः मुख्यार्थ की बाधा की दृष्टि से शायद इनमें लक्षणा-शक्ति का अस्तित्व स्वीकार किया जाय किन्तु इनमें लक्षणा का दूसरा लक्षण—मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ—उपलब्ध नहीं होता। इन अंशों का अर्थ वाच्यार्थ पर निर्भर नहीं है, वाच्यार्थ के सम्बन्ध से इनके व्यंग्यार्थ तक पहुँचना संभव नहीं—इसके लिए कवि के द्वारा प्रतिपाद्य विषय या प्रसंग का ज्ञान अतिरिक्त रूप में अपेक्षित है। अतः प्रतिपाद्य अर्थ मुख्यार्थ से सम्बन्धित न होकर, ऊपर से आरोपित है—ऐसी स्थिति में इन अंशों में लक्षणा न मान कर व्यंजना की ही सत्ता स्वीकार करनी होगी।

तीसरे उदाहरण (ग) में **मोती** शब्द आँसुओं के लिये प्रयुक्त हुआ है—किन्तु यहाँ मोती ऊपर से आरोपित नहीं हुआ है—आँसुओं की बून्दों से मोतियों का साम्य होने के कारण ही उनका उल्लेख किया गया है। 'मोती' के मूल अर्थ में बाधा उपस्थित होती है किन्तु मूल अर्थ (वाच्यार्थ) के सम्बन्ध से हम लक्ष्यार्थ—आँसुओं—तक पहुँच जाते हैं, अतः यह उदाहरण विशुद्ध लक्षणा का है। यहाँ 'मोती' को लाक्षणिक प्रयोग मान सकते हैं, प्रतीक की भाँति यह बुद्धि द्वारा आरोपित प्रयोग नहीं है। किन्तु वे व्यक्ति जो प्रतीक को बहुत व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं वे इसे भी अभिव्यंजनात्मक प्रतीक बता सकते हैं पर उस स्थिति में लाक्षणिकता या वक्रोक्ति एवं प्रतीक में कोई अन्तर न रह जायगा। अस्तु, हम यहाँ आरोपण के अभाव में प्रतीक की सत्ता नहीं मान सकते।

अस्तु, उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ-जहाँ व्यंजना-शक्ति या ध्वनि की सत्ता है, वहाँ-वहाँ प्रतीक की भी सत्ता है। इस दृष्टि से ध्वनि और प्रतीक को अभिन्न कहा जा सकता है, किन्तु एक अन्य दृष्टि से दोनों में सूक्ष्म अन्तर विद्यमान है। वह यह है कि जहाँ ध्वनि की सीमा में पूरे प्रसंग का अर्थ आता है, वहाँ प्रतीक अलग-अलग शब्दों के अर्थ को लेकर चलता है। उदाहरण के लिए हम यह तो कह सकते हैं कि उपर्युक्त उदाहरण में 'बाज' 'महाराजा जयसिंह' का प्रतीक है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि 'जयसिंह' 'बाज' का व्यंग्यार्थ या ध्वन्यार्थ है—क्योंकि व्यंजना या ध्वनि अर्थ को अलग-अलग शब्द-प्रतीकों में खंडित नहीं करती। अस्तु, दोनों की विश्लेषण-पद्धति में अन्तर है, अन्यथा दोनों एक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतीक मूलतः ध्वनि से अभिन्न है, तथा प्रतीक

के विभिन्न भेदोपभेदों में से केवल एक भेद—आरोप मूलक प्रतीक—को छोड़कर शेष त्याज्य हैं।

(च) अवशिष्ट सिद्धान्त

१५.१२. गौण सिद्धान्त—

शैली सम्बन्धी पाँच प्रमुख सिद्धान्तों—(१) अलंकार (२) वक्रोक्ति (३) ध्वनि (४) बिम्ब और (५) प्रतीक—पर पुनर्विचार करते हुए उनमें अपेक्षित संशोधन किया जा चुका है; किन्तु कुछ सिद्धान्त और तत्त्व अभी अवशिष्ट हैं। इनमें सर्व प्रथम गुण (रीति) सिद्धान्त है—किन्तु जैसा कि इसका अनुशीलन करते समय पीछे बताया गया था, इसके क्षेत्र में तीन ही गुण—शुद्धता, संक्षिप्तता एवं स्पष्टता—आते हैं, जिनका सम्बन्ध केवल साहित्य से ही नहीं, सभी प्रकार की रचनाओं से है, अतः ये साहित्य-शास्त्र की अपेक्षा व्याकरण-शास्त्र के क्षेत्र के अधिक समीप पड़ते हैं। इसी प्रकार आवृत्ति का भी सम्बन्ध संगीत-शास्त्र से अधिक है, किन्तु जहाँ इसके मूल में नाद-सौन्दर्य के स्थान पर लाक्षणिकता की प्रेरणा हो, वहाँ इसे वक्रोक्ति में स्थान दिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व 'श्लेष' है जिसके कारण विषय-वस्तु में अनेकार्थकता का संचार होता है। स्वरूप की दृष्टि से श्लेष प्रतीक और ध्वनि से थोड़ा भिन्न है, क्योंकि इसमें अप्रस्तुतत अर्थ आरोपित न होकर रूढ़ होता है, दूसरी ओर इसमें लाक्षणिकता का भी अभाव होता है, अतः इसे वक्रोक्ति में भी स्थान नहीं दिया जा सकता। ऐसी स्थिति में श्लेष को एक स्वतंत्र तत्त्व या सिद्धान्त के रूप में मान्यता देना अधिक उचित होगा।

१५.१३. विभिन्न सिद्धान्तों की परिवर्तित स्थिति—

जैसा कि हमने पीछे स्पष्ट किया है, परंपरागत सिद्धान्तों में क्षेत्र-विस्तार की प्रवृत्ति मिलती है जिससे अनेक सिद्धान्तों ने एक ही तत्त्व एवं एक ही क्षेत्र पर अनुचित रूप से अधिकार कर रखा है तथा इसके परिणाम-स्वरूप विभिन्न सिद्धान्तों का स्वरूप अस्पष्ट, क्षेत्र अमर्यादित एवं उनके तत्त्वों की संख्या अनिश्चित हो गई है। हमने प्रस्तावित संशोधनों के द्वारा इस अव्यवस्था को दूर करने का प्रयास किया है। यहाँ दो तालिकाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं जिनमें क्रमशः परंपरागत सिद्धान्तों की पूर्ववर्ती स्थिति एवं संशोधन-परवर्ती स्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है। (तालिकाएँ अगले पृष्ठों पर देखिये।)

(क) विभिन्न सिद्धान्तों की पूर्ववर्ती स्थिति

भाषा का पक्ष	तत्त्व	विभिन्न सिद्धान्तों का अधिकार-क्षेत्र					
		गुण	अलंकार	ध्वनि	वक्रोक्ति	बिम्ब	प्रतीक
१. भाषा का नाद पक्ष	आवृत्ति						
	लय, ओज, माधुर्य	×	×		×		
		×	×		×		
२. भाषा का रूप-पक्ष	शुद्धता	×	×		×		
	संक्षिप्तता	×	×		×		
	व्याकरण-वैचित्र्य	×	×		×		
	क्रम-वैशिष्ट्य	×	×		×		
	वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य	×	×		×		
		×	×		×		
३. भाषा का अर्थ-पक्ष		×	×		×		
(क) अभिधात्मक—	स्पष्टता	×	×		×		
	स्वाभाविकता	×	×		×		
	औचित्य		×		×	×	
	बिम्बात्मकता		×	×	×	×	
	अप्रस्तुत-योग		×	×	×	×	×
(ख) लक्षणात्मक—	वक्रता		×	×	×	×	×
	लाक्षणिकता		×	×	×	×	×
	उक्ति-वैचित्र्य		×	×	×	×	×
(ग) व्यंग्यात्मक—	श्लेष		×	×	×	×	×
	प्रतीक		×	×	×	×	×
	व्यंग्यात्मक		×	×	×	×	×

विशेष-निर्देश—(१) सिद्धान्तों के अधिकार-क्षेत्र का निर्देश इस चिह्न × × के द्वारा किया गया है—जिन तत्त्वों के सामने यह चिन्ह है, वे तत्त्व सम्बन्धित सिद्धान्त के अधिकार-क्षेत्र में आते हैं।

(२) यहाँ यह द्रष्टव्य है कि एक ही तत्त्व पर अनेक सिद्धान्तों ने अधिकार कर लिया है।

(३) प्रारंभिक तत्त्वों की अपेक्षा अन्तिम तत्त्वों पर अधिक सिद्धान्तों ने अधिकार जमाया है, जो इनकी महत्ता का सूचक है।

(ख) विभिन्न सिद्धान्तों की परिवर्तित स्थिति

भाषा का पक्ष	तत्त्व	अधिकारी सिद्धान्त
१. भाषा का नाद-पक्ष	आवृत्ति	वक्रोक्ति (अर्थ-वैचित्र्य होने पर)
	लय, ओज, माधुर्य	संगीतात्मक गुण
२. भाषा का रूप-पक्ष	शुद्धता, संक्षिप्तता	गुण-सिद्धान्त
	व्याकरण-वैचित्र्य, क्रम-वैशिष्ट्य, वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य	वक्रोक्ति-सिद्धान्त
३. भाषा का अर्थ-पक्ष (क) अभिधा-शक्ति	स्पष्टता, स्वाभाविकता, औचित्य	गुण-सिद्धान्त
	बिम्बात्मकता	बिम्ब-सिद्धान्त
	अप्रस्तुत-योग	अलंकार-सिद्धान्त
(ख) लक्षणा-शक्ति	लाक्षणिकता, वक्रता, उक्ति-वैचित्र्य	वक्रोक्ति-सिद्धान्त
(ग) व्यंजना-शक्ति	श्लेष	श्लेष (स्वतंत्र सिद्धान्त)
	प्रतीकात्मकता	प्रतीक-सिद्धान्त
	व्यंग्यात्मकता	ध्वनि-सिद्धान्त

१५.१४. निष्कर्ष—

उपर्युक्त दोनों तालिकाओं की तुलना करें तो यह स्पष्ट होगा कि जहाँ प्रथम तालिका में एक ही तत्त्व पर अनेक सिद्धान्तों का अधिकार प्रदर्शित किया गया है, वहाँ दूसरी तालिका में ऐसा नहीं है। वस्तुतः पहली तालिका विभिन्न सिद्धान्तों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता, सीमाओं के अतिक्रमण एवं उनके क्षेत्र की अनिश्चिता को सूचित करती है जबकि दूसरी तालिका में उनका संशोधित, संयमित एवं सुव्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया गया है। संशोधित रूप के अनुसार विभिन्न सिद्धान्तों के अधिकार-क्षेत्र में निम्नांकित तत्त्व आते हैं—

(१) गुण-सिद्धान्त—भाषा की शुद्धता, स्पष्टता, संक्षिप्तता, स्वाभाविकता और औचित्य।

(२) अलंकार-सिद्धान्त—अप्रस्तुत-योग।

(३) वक्रोक्ति-सिद्धान्त—आवृत्तिजन्य अर्थ-वैचित्र्य, व्याकरण-वैचित्र्य, क्रम-वैशिष्ट्य, वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य, लाक्षणिकता, वक्रता, उक्ति-वैचित्र्य।

(४) बिम्ब-सिद्धान्त—बिम्बात्मकता।

(५) प्रतीक-सिद्धान्त—प्रतीकात्मकता।

(६) ध्वनि या व्यंग्य-प्रधान काव्य—व्यंग्यात्मकता।

●

१६
शैली और आकर्षण-सिद्धान्त

●

१६.१. सामान्य परिचय—

अब तक हम विभिन्न परंपरागत सिद्धान्तों के आधार पर शैली के विभिन्न तत्त्वों की व्याख्या कर चुके हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि भले ही विभिन्न सिद्धान्तों में विभिन्न तत्त्वों पर बल दिया गया हो, किन्तु उन सबका लक्ष्य अन्ततः शैली में आकर्षण उत्पन्न करना रहा है। इस दृष्टि से इन सब सिद्धान्तों का समन्वय आकर्षण शक्ति सिद्धान्त के अन्तर्गत करते हुए इनका और अधिक स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

आकर्षण-शक्ति-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक प्रकार के द्रव्य में अपार शक्ति विद्यमान है—यह बात हमारे मानसिक क्षेत्र के द्रव्य (विषय-वस्तु) पर भी लागू होती है। किन्तु जब तक द्रव्य के त्रिगुणात्मक तत्त्व परस्पर संतुलित रहते हैं तब तक शक्ति सुषुप्त एवं निष्क्रिय रूप में स्थित रहती है, अतः शक्ति की उद्दीप्ति के लिए द्रव्य को इस प्रकार रूपान्तरित करना पड़ता है कि उसके घटक त्रिगुणात्मक तत्त्वों का संतुलन भंग हो जाय। जैसा कि इस सम्बन्ध में प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम खंड में विस्तार से स्पष्टीकरण किया गया है ; शक्ति की उद्दीप्ति का यह सिद्धान्त साहित्य पर भी लागू होता है। साहित्यकार भी शक्ति की उद्दीप्ति के लिए उपलब्ध द्रव्य (विषय-वस्तु) को इस प्रकार रूपान्तरित करता है कि जिससे उसके घटक तत्त्वों—भाव, विचार एवं कल्पना का पारस्परिक संतुलन भंग हो जाय। रूपान्तरण की इस प्रक्रिया के कारण द्रव्य में जो परिवर्तन आता है उसी को साहित्य-शास्त्र की शब्दावली में 'शैली' कहते हैं। इस परिवर्तन के सूचक विभिन्न लक्षणों को ही शैली के तत्त्वों—अलंकार, बिम्ब, प्रतीक, ध्वनि आदि—के रूप में उल्लिखित किया जाता है। अस्तु, आकर्षण सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य में निहित शक्ति को उद्दीप्त करने के लिए किये जाने वाले रूपान्तरण का ही नाम 'शैली' है। यदि और भी संक्षेप में कहें तो द्रव्य का रूपान्तरित या परिवर्तित रूप ही शैली है।

१६.२. रूपान्तरण की प्रक्रिया—

साहित्य में द्रव्य के रूपान्तरण की प्रक्रिया किस प्रकार संपन्न होती है—इसका थोड़ा स्पष्टीकरण यहाँ और किया जा सकता है। जैसा कि प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय खंड में स्पष्ट किया गया है, साहित्य का द्रव्य मानसिक क्षेत्र से सम्बन्धित होता है; जिसे तीन तत्त्वों—भाव (अनुभूति), विचार (तथ्य) और कल्पना—में विभाजित किया जा सकता है। जब हमारा द्रव्य बिल्कुल संतुलित रूप में प्रस्तुत होता है तो उसे हम 'तथ्य' या 'शुद्ध विचार' की संज्ञा दे सकते हैं जबकि भावावेश में कही गई उक्तियाँ प्रायः असंतुलित होती हैं। भावावेश के समय हमारा मन असंतुलित एवं उद्दीप्त हो जाता है जिससे मानसिक द्रव्य भी असंतुलित एवं उद्दीप्त हो जाता है। इस दृष्टि से हम विचारात्मकता (बौद्धिकता) एवं भावात्मकता को क्रमशः साहित्य के आधारभूत द्रव्य की संतुलित एवं असंतुलित अवस्थाओं—एवं तदनुसार शक्ति की सुषुप्त एवं जागृत अवस्थाओं—की सूचक विशेषताएँ मान सकते हैं। जहाँ विशुद्ध विचारात्मकता या बौद्धिकता से युक्त द्रव्य यथार्थ, संयमित, सामान्य, सूक्ष्म एवं संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत होता है वहाँ भावात्मकता से युक्त द्रव्य अयथार्थ, असंयमित, विशिष्ट, स्थूल एवं विस्तृत रूप में प्रस्तुत होता है। यहाँ हम एक ही विषय से सम्बन्धित दोनों रूपों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

(१) संतुलित तथ्य या विचार		(२) असंतुलित भावात्मक उक्ति
(क) मेरे सिर में चोट लगी है। (यथार्थ)	=	'हाय! मर गया!' (अयथार्थ)
(ख) आप तो अब मिनिस्टर बन गये हैं। (संयमित)	=	'आप तो अब हमारे भाग्य-विधाता बन गये हैं' (असंयमित)
(ग) पशु चर रहे हैं। (सामान्य)	=	"गायें भैंसे और घोड़े चर रहे हैं।' (विशिष्ट)
(घ) बुराई का बदला भलाई में चुकाओ। (सूक्ष्म)	=	'जो तोकूं काँटा बूवै, ताहि बोहि तू फूल।" (स्थूल)
(ङ) दो व्यक्ति खेल रहे हैं। (संक्षिप्त)	=	'दो युवक भाग-दौड़ कर रहे हैं, उछल रहे हैं और एक-दूसरे को गेंद मार रहे हैं।' (विस्तृत)

उपर्युक्त उदाहरणों में हम देखते हैं कि एक ही विषय जहाँ बौद्धिक नियंत्रण द्वारा संतुलित होने पर यथार्थ, संयमित, सामान्य, सूक्ष्म एवं संक्षिप्त रूप प्राप्त कर लेता

है, वहाँ वही विषय भावात्मकता के कारण उद्दीप्त होकर अयथार्थ, असंयमित, विशिष्ट, स्थूल एवं विस्तृत रूप प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः साहित्य की शक्ति की उद्दीप्ति के लिए यह दूसरे प्रकार का असंतुलित रूप ही अपेक्षित है। असंतुलन जन्य उपर्युक्त विशेषताओं को ही साहित्यिक शैली की विभिन्न विशिष्टताओं का या विभिन्न तत्त्वों का नाम दिया जाता है। विज्ञान और साहित्य की अभिव्यंजना-पद्धति में भी मुख्यतः इसी संतुलित एवं असंतुलित रूप का अन्तर होता है। इसी लिए विज्ञान में केवल विषयगत आकर्षण ही होता है, रूप या शैली का आकर्षण नहीं होता जबकि साहित्य में शैलीजन्य आकर्षण के द्वारा आकर्षण-हीन विषय को भी आकर्षक बना दिया जाता है।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि क्या शैली की इस आकर्षण-शक्ति का मूल कारण भावात्मकता युक्त अभिव्यक्ति ही है? यदि ऐसा ही है तो लौकिक क्षेत्र में हम क्रोधः शोक, घृणा आदि भावों से युक्त अभिव्यक्ति में आकर्षण का अनुभव क्यों नहीं करते? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि लौकिक अनुभूतियों में और साहित्य के माध्यम से उपलब्ध अनुभूतियों में परिस्थिति-भेद के कारण एक अन्य अन्तर उपस्थित हो जाता है जिसके कारण हम लौकिक क्षेत्र की भावाभिव्यक्ति में आकर्षण का अनुभव नहीं कर पाते। वह अन्तर यह है कि लौकिक क्षेत्र में हमारी अनुभूति का आधार प्रायः प्रत्यक्ष एवं वास्तविक होता है जबकि साहित्य में काल्पनिक होता है। प्रत्यक्ष एवं वास्तविक आलम्बन के संसर्ग की स्थिति में हम प्रायः वैयक्तिक अहं से बंधे रहते हैं जिससे आकर्षण राग-द्वेष में परिणत हो जाता है जबकि साहित्यानुभूति के क्षणों में आलम्बन से हमारा संसर्ग कल्पना के माध्यम से होता है, अतः वहाँ हम वैयक्तिक अहं से मुक्त होकर विषय का आस्वादन शुद्ध आकर्षण के रूप में कर पाते हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम खंड में किया जा चुका है, अतः यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि साहित्य में आकर्षण शक्ति के उद्दीपन का एक कारण भावात्मकता के साथ-साथ कल्पना भी है। जैसा कि कल्पना के स्वरूप की व्याख्या करते समय कहा गया था, वस्तुतः कल्पना-शक्ति के सहयोग से ही साहित्यकार अपनी अनुभूतियों एवं भावनाओं का उद्बोधन करता हुआ उन्हें काव्य में व्यक्त करता है। अतः कल्पना का माध्यम साहित्यकार एवं पाठक दोनों को ही स्वीकार करना पड़ता है—अन्यथा साहित्य का सर्जन एवं आस्वादन नहीं हो सकता। अस्तु, हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भावात्मकता एवं कल्पना के द्वारा मानसिक द्रव्य का असंतुलन ही साहित्य के रूपान्तरण की प्रक्रिया का मूलाधार है तथा इस असंतुलन के कारण ही साहित्य में शैलीगत वैशिष्ट्य या शैली के विभिन्न तत्त्वों का आविर्भाव होता है।

१६.३. रूपान्तरण के पाँच प्रकार—

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, द्रव्य का रूपान्तरण ही शैली है

तथा रूपान्तरण की विभिन्न विशेषताओं को ही शैली के विभिन्न तत्त्वों का नाम दिया गया है। विभिन्न सिद्धान्तों में इन तत्त्वों के विभिन्न भेदोपभेद किये गये हैं, किन्तु यदि हम इन्हें वैज्ञानिक आधार पर वर्गीकृत करना चाहें तो रसायन-शास्त्र के अनुसार इन्हें पाँच भेदों में विभक्त कर सकते हैं। रसायन-शास्त्र (Chemistry) में रूपान्तरण या रूप-परिवर्तन के पाँच प्रकार माने गये हैं, जो ये हैं[1]—(१) संयोजन (Synthesis) दो या दो से अधिक पदार्थों के पारस्परिक योग से नया यौगिक बनाना। (२) विश्लेषण (Analysis)—संयुक्त पदार्थों का विच्छेदन या विश्लेषण। (३) विस्थापन (Substitution)—किसी यौगिक के एक अंश के स्थान पर अन्य अंश का स्थान ग्रहण कर लेना। (४) विनिमय (De-Composition)—दो यौगिकों के द्वारा अपने कुछ तत्त्वों का पारस्परिक विनिमय। (५) समावयवी परिवर्तन (Isomerisation)—यौगिकों के आन्तरिक गुणों में अन्तर होते हुए भी बाह्य रूप की दृष्टि से समरूपता स्थापित हो जाना। रूप-परिवर्तन के ये पाँचों प्रकार न केवल स्थूल द्रव्य में अपितु सूक्ष्म मानसिक द्रव्य में भी उपलब्ध होते हैं। मानसिक क्षेत्र में कल्पना के द्वारा होने वाले विभिन्न परिवर्तनों में उपर्युक्त सभी भेद दृष्टिगोचर होते हैं। प्रमाण के लिए, हम यहाँ मनोविज्ञान के एक अधिकारी विद्वान की कल्पना विषयक कुछ उक्तियाँ उद्धृत करते हैं—

(१) "यह (कल्पना) अतीत अनुभवों के तत्त्वों को पुनः उत्पन्न करती है और उन्हें नवीन **संयोगों** में रखती है।"[२] (=संयोजन)

(२) "कभी-कभी कल्पना में अतीत अनुभवों के तत्त्वों का पृथक्करण होता है।"[३] (=विश्लेषण)

(३) "कभी-कभी स्थानापत्ति (Substitution) भी की जाती है। कल्पना में भूतकाल में देखी हुई वस्तुओं के कुछ भागों के स्थान पर नये भाग रख दिये जाते हैं।"[४] (=विस्थापन)।

(४) "कल्पना में·····अतीत अनुभवों की पुनरावृत्ति होती है और उन्हें नवीन क्रम में संयुक्त किया जाता है। आपने भूतकाल में गुलाब के फूलों को देखा है किन्तु नीले गुलाब के फूलों को कभी नहीं देखा। लेकिन आप एक गुलाब की प्रतिमा और नीले रंग की प्रतिमा का पुनरुत्पादन कर सकते हैं तथा उन्हें एक नीले गुलाब की प्रतिमा में संयुक्त कर सकते हैं।"[५] (=विनिमय)

(५) "कभी-कभी अतीत अनुभवों की आकार-वृद्धि कर दी जाती है। जब हम मनुष्यों के आकार को सौगुना बढ़ा देते हैं और भूतों व राक्षसों आदि की प्रतिमाएँ

---

1. (a) Fundamentals of chemistry : J. I. Routh, Page 53.
   (b) अकार्बनिक रसायन : जी० डी० तुली, पृ० ११।

२-५. मनोविज्ञान (हिन्दी अनुवाद) : डा० जदुनाथ सिन्हा, पृ० १८९-१९०।

कल्पित कर लेते हैं।"[६] (समावयवी परिवर्तन क्योंकि मूल तथ्य वही रहता है केवल आकार या संख्या को अन्य वस्तु के समरूप बना दिया जाता है।)

इस प्रकार हम देखते हैं कि रूप-परिवर्तन के जो भेद रासायनिक क्षेत्र में मिलते हैं वे मानसिक क्षेत्र में भी कल्पना के प्रसंग में उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः साहित्य में रूप-परिवर्तन का श्रेय मुख्यतः कल्पना-शक्ति को ही है। विचार या भाव को कल्पना-शक्ति ही नये रूप में प्रस्तुत करती है; अतः रूप-परिवर्तन के उपर्युक्त भेदों का साहित्य में भी मिलना स्वाभाविक है। अस्तु, इस आधार पर साहित्यिक शैली को पाँच प्रकार के रूप-परिवर्तन या रूप-विधान के अन्तर्गत विभाजित करते हुए उसके सभी विशिष्ट तत्त्वों या विशिष्टताओं की व्याख्या इनके आधार पर प्रस्तुत की जा सकती है—(१) संयोजनात्मक रूप-विधान (२) विश्लेषणात्मक रूप-विधान (३) विस्थापनात्मक रूप-विधान, (४) विनिमयात्मक रूप-विधान और (५) समावयात्मक रूप-विधान। इनकी व्याख्या क्रमशः प्रस्तुत की जाती है।

(१) **संयोजनात्मक रूप-विधान**—जहाँ साहित्य में रूप-परिवर्तन के लक्ष्य से दो तत्त्वों का संयोग होता है, उसे इस वर्ग में स्थान दिया जा सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संयुक्त होने वाले दोनों तत्त्व दो भिन्न जाति या श्रेणी के होने चाहिए। उदाहरण के लिए अलंकारों में प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत का योग होता है, जिससे शैली में वैशिष्ट्य आ जाता है।

(२) **विश्लेषणात्मक रूप विधान**—इसमें संयोजनात्मक रूप-विधान की भाँति किसी बाह्य पदार्थ का योग नहीं होता अपितु मूल पदार्थ के ही संश्लिष्ट तत्त्वों को विश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए—'शकुन्तला सुन्दर है।' 'प्रकृति का सौन्दर्य देखकर मन मोहित हो जाता है' 'नायक और नायिका में प्रेम हो गया,' आदि वाक्यों में सुन्दर, प्रकृति, प्रेम आदि शब्द विभिन्न तथ्यों के संश्लिष्ट रूप हैं, जिनमें आकर्षण का अभाव है। यदि इन्हीं तथ्यों को विश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत कर दिया जाय तो उनमें आकर्षण उत्पन्न हो सकता है; जैसे—

संश्लिष्ट रूप	विश्लेषणात्मक रूप-विधान
(क) शकुन्तला सुन्दर है।	='शकुन्तला का शरीर स्वस्थ एवं पुष्ट है। उसका मुख गोल है, कपोल उभरे हुए हैं, ओष्ठ आरक्त हैं।..... उसका रंग गौर एवं द्युतिमय है।.....'
(ख) प्रकृति का सौन्दर्य	="उपवन में हरे-हरे वृक्ष लहरा रहे हैं, वे रंग-विरंगे फूलों से लदे हुए हैं। कहीं गुलाब खिल रहा है तो कहीं मौल श्री। उन पर भौंरे गुंजार कर रहे हैं।"

---

६. मनोविज्ञान (हिन्दी अनुवाद) : डा० जदुनाथ सिन्हा, पृ० १८९-१९०।

(ग) **प्रेम हो गया।** = "नायक उसी की स्मृति में बे सुध हो रहा है। हर समय वह उसी के ध्यान में मग्न रहता है।"

यहाँ हम देखते हैं कि किस प्रकार संश्लिष्ट तत्त्व को विश्लिष्ट रूप प्रदान कर देने पर वह अधिक स्पष्ट, प्रभावोत्पादक एवं आकर्षक हो जाता है। साहित्यकार भी कई बार इसी पद्धति का अनुगमन करता है। वह अपने विषय का इस प्रकार विश्लेषण प्रस्तुत करता है जिससे वस्तु की वे विशेषताएँ जो हमारी इन्द्रियों एवं मन को आकर्षित करती हैं, बिम्ब-रूप में प्रस्तुत हो जायँ। बिम्ब-विधान का सिद्धान्त भी इसी पद्धति का समर्थन करता है। अतः यदि बिम्ब-योजना को हम 'विश्लेषणात्मक रूप-विधान' में ही समन्वित करलें तो अनुचित नहीं होगा।

(३) **विस्थापनात्मक रूप-विधान**—जहाँ एक पदार्थ के स्थान पर किसी अन्य पदार्थ को स्थापित किया जाता है, उसे विस्थापन कहते हैं। साहित्य की शैली में कई बार प्रस्तुत शब्द, उक्ति, या प्रसंग के स्थान पर किसी अप्रस्तुत शब्द, उक्ति या प्रसंग का आयोजन होता है, जिसे साहित्य-शास्त्रीय शब्दावली में 'प्रतीक' एवं 'ध्वनि' कहा जाता है। उदाहरण के लिए निम्नांकित पद्यांश द्रष्टव्य हैं—

(क) **बाँधा था विधु** को किसने, इन काली **जंजीरों** से।

(ख) **माली** आवत देखि कै **कलियाँ** करैं पुकार।

उपर्युक्त अंशों में 'विधु' मुख का प्रतीक या स्थानापन्न शब्द है। इसी प्रकार जंजीर, माली, कलियाँ आदि भी क्रमशः अलकों, मृत्यु एवं जीवों के प्रतीक या स्थानापन्न हैं; अतः इन्हें विस्थापनात्मक रूप-विधान के उदाहरण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। ध्वनि या व्यंग्य-प्रधान काव्य में भी पूरा प्रसंग किसी अन्य प्रसंग का प्रतिनिधि या स्थानापन्न होता है, जैसे कि निम्नांकित दोहे में है।

स्वारथ सुकृत न श्रमु वृथा, देखि विहंग विचारि।
बाज! पराये पानि परी, तू पच्छीननु न मारि॥

—बिहारी

यहाँ बाज और पक्षियों से सम्बन्धित पूरा प्रसंग एक अन्य प्रसंग—महाराजा जयसिंह, हिन्दू-नरेश आदि से सम्बन्धित—का प्रतिनिधि है। इस दोहे को जहाँ परम्परागत साहित्य-शास्त्र के अनुसार ध्वनि का उदाहरण माना जाता है, वहाँ हम इसे विस्थापनात्मक रूप-विधान के अन्तर्गत स्थान दे सकते हैं। वस्तुतः प्रतीक और ध्वनि—दोनों ही इसके अन्तर्गत आते हैं।

(४) **विनिमयात्मक रूप विधान**—इसके अन्तर्गत शैली के ऐसे उदाहरणों को लिया जा सकता है जिनमें प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत की पूर्ण प्रतिष्ठा तो नहीं होती किन्तु दोनों के गुणों (या अर्थ) का पारस्परिक विनिमय अवश्य होता है। लाक्षणिक प्रयोगों में ऐसा ही होता है। उदाहरणार्थ निम्नांकित प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

(१) **अरसानि गही वह बानि कछ सरसानि सों आनि निहोरत है।**

(२) ह्वै है सोऊ **घरी भाग-उघरी** अनंदघन,
सुरस बरसि, लाल, देखिहौं हमैं हरी।
(३) अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में **पानी**।

उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम दो घनानन्द की कविता में से उद्धृत हैं। उनकी व्याख्या करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"ऊपर के उद्धरणों के रेखांकित स्थलों में भाषा की मार्मिक वक्रता एक एक करके देखिए (१) बानि धीमी या शिथिल पड़ गई कहने में उतनी व्यंजकता न दिखाई पड़ी, अतः कवि ने कृष्ण का आलस्य न कह कर उनकी बानि (आदत) का आलस्य कहा। (२) अपने को खुले भाग्यवाली न कहकर नायिका ने उस घड़ी को खुले भाग्यवाली कहा, इससे सौभाग्य दशा एक व्यक्ति ही तक न रहकर उस घड़ी के भीतर संपूर्ण जगत् में व्याप्त प्रतीत हुई। विशेषण के इस विपर्यय से कितनी व्यंजकता आगई।"[७] इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने यह स्वीकार किया है कि इन उदाहरणों में एक व्यक्ति या एक वस्तु के एक गुण का विनिमय किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु में हो गया है जिसे परम्परागत शब्दावली में 'विशेषण-विपर्यय' कहा जा सकता है, किन्तु हम इन उदाहरणों को 'विनिमयात्मक रूप-विधान' के अंतर्गत स्थान दे सकते हैं। 'विशेषण-विपर्यय' का तो अर्थ ही गुणों (विशेषता) का विनिमय हो जाना है, किन्तु इतना ही नहीं, हमारे विचार से लक्षणा, लाक्षणिकता या वक्रोक्ति से सम्बन्धित सभी उदाहरणों को विनिमयात्मक रूप-विधान के रूप में ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि जहाँ भी लक्षणा होगी वहाँ दो वस्तुओं के गुणों में विनिमय अवश्य होगा। लक्षणा में मुख्यार्थ की बाधा एवं लक्ष्यार्थ की प्रतीति का भी आधार यही है कि उसमें प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के बीच कुछ विशेषताओं का विनिमय हो जाता है जिससे वाच्यार्थ न तो अभिधा की भाँति अपने मूल रूप में सुरक्षित रह पाता है और न ही व्यंजना की भाँति सर्वथा परिवर्तित हो जाता है, केवल उसमें गुणों का आंशिक परिवर्तन ही हो पाता है। अस्तु, हम सभी प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों को विनिमयात्मक रूप-विधान के अन्तर्गत स्थान दे सकते हैं।

(५) **समावयात्मक रूप-विधान**—रसायन-शास्त्र के अनुसार जहाँ विभिन्न प्रकार के पदार्थों में आन्तरिक (रासायनिक) गुणों में अन्तर होते हुए भी बाह्य अवयवों की दृष्टि से एकरूपता स्थापित हो जाती है, उसे समावयात्मक रूप-विधान कहा जाता है। यदि इसी तथ्य को साहित्य पर लागू करें तो कह सकते हैं कि जहाँ मूल अर्थ, भाव या आशय को बिना परिवर्तित किए ही बाह्य अवयवों (वर्ण, शब्द, वाक्य आदि) में समरूपता लाई गई हो उसे इस वर्ग में स्थान दिया जा सकता है।

---

७. रस-मीमांसा : आ० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २६७।

उदाहरण के लिए आवृत्ति, अनुप्रास, यमक, क्रम-वैशिष्ट्य आदि में ऐसा ही होता है। जैसे—'सबकी दृष्टि पैसों पर लगी हुई' को यदि इस रूप में प्रस्तुत कर दिया जाय—'सबकी टकटकी टके पर टिकी हुई है'—तो इसमें मूल अर्थ के अपरिवर्तित रहते हुए भी वर्णों (ट का अनुप्रास) की समरूपता के कारण एक विशेष आकर्षण उत्पन्न हो गया है। यहाँ कुछ उदाहरण और द्रष्टव्य हैं—

(१) तरणि के ही संग तरल तरंग से,
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।

(२) होत लोभ ते मोह, मोहहिं ते उपजे गरब।
गरब बढ़ावे कोह, कोह कलहहु, कलहहु व्यथा॥

(३) पाप करै तो पा पकर, पा पकरै गति होय।
जो तू पा पकरै नहिं, नरक मिलैगा तोंहि॥

(४) मैंने कहा—प्रिये! जाइये मत, बैठिये।
वह भोली समझीं कि जाइये, मत बैठिये॥

उपर्युक्त उदाहरणों में से प्रथम तीन में वर्ण, शब्द, या वाक्यांश की समरूपता है, किन्तु इस समरूपता के लिए मूल अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है जबकि चौथे उदाहरण में 'जाइये मत बैठिये' में शाब्दिक समरूपता के साथ अर्थ भी परिवर्तित हो जाता है, अतः जहाँ हम प्रथम तीन उदाहरणों को समावयात्मक रूप-विधान में स्थान दे सकते हैं, वहाँ चतुर्थ उदाहरण को वक्रोक्ति या विनिमयात्मक रूप-विधान में स्थान देगें। अस्तु, इस वर्ग में हम अनुप्रास, यमक, शब्दों के क्रम, आवृत्ति आदि की समरूपता पर आधारित ऐसे उदाहरणों को ही स्थान दे सकते हैं जिनका वाच्यार्थ अपरिवर्तित हो, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त पाँच प्रकार के रूपान्तरण में शैली सम्बन्धी प्रायः सभी परम्परागत तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का समन्वय हो जाता है। अतः यदि हम चाहें तो परम्परागत सिद्धान्तों का नया नामकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१—अलंकार = संयोगात्मक रूप-विधान
२—बिम्ब-विधान = विश्लेषणात्मक रूप-विधान
३—प्रतीक, ४—ध्वनि } = विस्थापनात्मक रूप-विधान
५—लाक्षणिकता, ६—वक्रोक्ति } = विनिमयात्मक रूप-विधान
७—आवृत्ति, ८—अनुप्रास, ९—यमक आदि } = समावयात्मक रूप-विधान

१६.४. निष्कर्ष—

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर उपलब्ध निष्कर्षों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(क) विभिन्न परम्परागत सिद्धान्तों के अन्तर्गत विभिन्न ऐसे तत्त्वों की खोज की गई है जिनसे शैली में आकर्षण का संचार होता है ; इस दृष्टि से सभी सिद्धान्तों का लक्ष्य एक ही है।

(ख) आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त के अनुसार साहित्य में आकर्षण की सर्वथा नूतन उत्पत्ति नहीं होती, अपितु उसकी उद्दीप्ति मात्र होती है।

(ग) आकर्षण-शक्ति की उद्दीप्ति के लिए साहित्य के आधारभूत द्रव्य को भावना एवं कल्पना के माध्यम से असंतुलित करना पड़ता है।

(घ) असंतुलित होने पर द्रव्य अयथार्थ, असंयमित, विशिष्ट, स्थूल एवं विस्तृत रूप प्राप्त कर लेता है।

(ङ) द्रव्य के इस रूपान्तरण या रूपान्तरित रूप को ही 'शैली' कहते हैं।

(च) विज्ञान के आधार पर साहित्य के रूपान्तरण या शैली को इन पाँच रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) संयोजनात्मक रूप-विधान (२) विश्लेषणात्मक रूप-विधान, (३) विस्थापनात्मक रूप-विधान (४) विनिमयात्मक रूप-विधान (५) समावयात्मक रूप-विधान।

(छ) शैली के प्रायः सभी परम्परागत तत्त्वों का समन्वय उपर्युक्त पाँच वर्गों के अन्तर्गत हो जाता है।

●

१७
साहित्य-विज्ञान : सारांश

●

'साहित्य-विज्ञान' के तीन खंडों में क्रमशः साहित्य की शक्ति, साहित्य के द्रव्य और साहित्य के रूप का विवेचन विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया जा चुका है। यहाँ हम तीनों खंडों में उपलब्ध निष्कर्षों को कतिपय शीर्षकों के अन्तर्गत संक्षिप्त एवं सश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

'साहित्य-विज्ञान' की स्थापना—यद्यपि हमारे पास परंपरागत साहित्य-शास्त्र के रूप में साहित्य-सिद्धान्तों का एक विशाल कोष विद्यमान है किन्तु अनेक कारणों से वह आज की परिवर्तित परिस्थितियों में बहुत-कुछ अनुपयोगी, अव्यावहारिक एवं प्रभाव-हीन हो गया है। एक तो आधुनिक युग में हमारी बौद्धिक चेतना का केन्द्र एवं हमारी आस्था का आधार विज्ञान हो गया है जबकि परम्परागत साहित्य-शास्त्र धर्म और दर्शन की मान्यताओं पर आधारित है। दूसरे, परंपरागत साहित्य-शास्त्र में शास्त्र-रचयिताओं के वैयक्तिक आग्रह के कारण किसी भी विषय के सम्बन्ध में कोई एक निश्चित या सर्व-सम्मत् मत नहीं मिलता। विभिन्न संप्रदायों के विद्वान एक ही तथ्य और तत्त्व की व्याख्या अपने-अपने दृष्टिकोण से करते हुए उस पर अपना-अपना अधिकार सिद्ध करते हैं। फलतः परम्परागत साहित्य-शास्त्र में एक ही प्रश्न के अनेक उत्तर, एक ही समस्या के अनेक हल या एक ही विवाद के सम्बन्ध में अनेक निर्णय उपलब्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में इसके सिद्धान्तों का अनिश्चित, अव्यावहारिक एवं अप्रामाणिक हो जाना स्वाभाविक है। सर्व-सम्मत सिद्धान्तों के अभाव में साहित्य के क्षेत्र में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो रही है, अतः इस स्थिति को नियंत्रित एवं सुशासित करने के लिए एक प्रामाणिक साहित्य-शास्त्र की नितान्त आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक पाश्चात्य विद्वानों—सैंत ब्यव, तेन, आर० जी० मौल्तन, जे० एम० राबर्टसन, आई० ए० रिचर्ड्स, हरबर्ट डिंगले, मार्टिन जोन्सन आदि—ने साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास किया है किन्तु उन्हें इसमें अधिक सफलता नहीं मिल पाई। हमारे विचार से इनकी असफलता के

कुछ कारण ये हैं—(१) इन्होंने साहित्य के किसी एक पक्ष या अवयव को ही लेकर विशृंखलित रूप में विचार किया। (२) उन्होंने साहित्य की विषय-वस्तु एवं उसके बाह्य रूपों को ही ध्यान में रखा, उसकी मूल शक्ति की बिल्कुल उपेक्षा कर दी। (३) इनके दृष्टिकोण में एकांगिता थी। (४) नव उपलब्ध निष्कर्षों को भी परस्पर समन्वित एवं संश्लिष्ट रूप नहीं दिया गया। (५) परंपरागत ज्ञान की सर्वथा उपेक्षा की गई। (६) इनकी प्रतिपादन-शैली दुरूह एवं जटिल है।

हमने भी साहित्य के सिद्धान्तों को शुद्ध, प्रामाणिक एवं निश्चित रूप प्रदान करने के उद्देश्य से ही परंपरागत साहित्य-शास्त्र को नये रूप में—'साहित्य-विज्ञान' के रूप में—प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। इसमें विवेचन का दृष्टिकोण, विवेचन का आधार एवं विवेचन की पद्धति—तीनों ही वैज्ञानिक हैं जिससे कि उपलब्ध निष्कर्षों में विज्ञान की सी प्रामाणिकता एवं निश्चितता आ सके। किन्तु इस वैज्ञानिकता के निर्वाह के साथ-साथ हमने इस बात का भी पूरा ध्यान रखा है कि कहीं हम भी वे भूलें न कर बैठें जिनके कारण पूर्ववर्ती विद्वानों के प्रयास असफल सिद्ध हुए हैं। इसीलिए 'साहित्य-विज्ञान' में कुछ ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं जिनका पूर्ववर्ती प्रयासों में अभाव था ; जैसे, (१) साहित्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसके तीनों पक्षों—शक्ति, द्रव्य एवं रूप—पर विचार किया गया है। (२) सारे विवेचन को योजना बद्ध एवं व्यवस्थित रूप प्रदान करते हुए एक स्वतंत्र विषय—साहित्य-विज्ञान—के रूप में प्रस्तुत किया गया है। (३) प्रत्येक तथ्य पर विचार करते हुए परंपरागत साहित्य-शास्त्र के भी तत्सम्बन्धी निर्णयों को ध्यान में रखा गया है तथा उन्हें संशोधित करते हुए उनके औचित्य के अनुसार उन्हें स्वीकार किया गया है। (४) इसमें आवश्यकतानुसार सभी सम्बन्धित विषयों की सामग्री का उपयोग किया गया गया है। (५) विवेचन-शैली को दुरूहता एवं अस्पष्टता से बचाने का पूरा प्रयास किया गया है।

इन विशेषताओं के कारण प्रस्तुत प्रयास कितना सफल हो सका है, इसका निर्णय तो भविष्य में ही हो सकेगा, फिर भी इतना निश्चित है कि इसके कारण साहित्य के वैज्ञानिक विवेचन के लिए एक स्वतंत्र क्षेत्र एवं एक निश्चित मार्ग प्राप्त होगया है—भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान आदि की भाँति साहित्य-विज्ञान भी वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बन्धित एक नये विषय के रूप में प्रतिष्ठा एवं मान्यता प्राप्त करेगा—ऐसी आशा करना अनुचित नहीं है।

(२) **साहित्य की परिभाषा**—साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन आरंभ करते ही सबसे पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि साहित्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में परंपरागत साहित्य-शास्त्र से शताधिक परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं किन्तु इससे मूल समस्या का समाधान नहीं होता, प्रत्युत् एक नई समस्या उपस्थित हो जाती है कि इनमें से किसे स्वीकार करें और किसे नहीं। इन परिभाषाओं पर आलोचनात्मक

दृष्टि से विचार करने पर यह भी स्पष्ट होता है कि ये सभी अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष से युक्त हैं। किन्तु फिर भी इन्हें हम ठुकरा नहीं सकते क्योंकि इनमें आंशिक असत्य के साथ-साथ आंशिक सत्य भी विद्यमान है। वैज्ञानिक का कार्य यह है कि वह सत्य को ग्रहण कर ले और असत्य को त्याग दे। इन परिभाषाओं के भी अन्तर्निहित सत्य को असत्य से पृथक करने के लिए इन सबका विश्लेषण तीन शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(१) साहित्य का माध्यम क्या है? (२) साहित्य का आधारभूत तत्त्व क्या है? (३) साहित्य का लक्ष्य क्या है?

विभिन्न परिभाषाओं द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विश्लेषण उपर्युक्त शीर्षकों के अन्तर्गत किये जाने से साहित्य के तीन सामान्य लक्षणों पर प्रकाश पड़ता है—(१) साहित्य का माध्यम भाषा है। (२) साहित्य के अर्थ-बोध से सौन्दर्य या आकर्षण की अनुभूति होती (३) साहित्य का लक्ष्य सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति को आनन्द प्रदान करना है। इन लक्षणों का समन्वय करते हुए साहित्य की नयी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—साहित्य भाषा के माध्यम से रचित वह सौन्दर्य या आकर्षण से युक्त रचना है जिसके अर्थ-बोध से सामान्य व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति होती है। हमारे विचार से यह परिभाषा अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोष से मुक्त है।

(३) **साहित्य की आत्मा या शक्ति**—किसी पदार्थ का वैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए सामान्यतः तीन पक्षों—शक्ति (Energy), द्रव्य (Matter) और रूप (Form)—में विभाजित कर लिया जाता है। हम भी इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए सर्व प्रथम साहित्य की शक्ति पर विचार सकते हैं। साहित्य की शक्ति से हमारा अभिप्राय साहित्य की उस विशेषता से है जिसके कारण साहित्य 'साहित्य' कहलाता है या जिसके अभाव में कोई भी रचना 'साहित्य' नहीं कही जा सकती। इसी विशेषता का अनुसंधान प्राचीन आचार्यों ने 'साहित्य की आत्मा' शीर्षक के अन्तर्गत किया है। इस दृष्टि से साहित्य के प्रसंग में 'आत्मा' या 'शक्ति' दोनों एक ही विशेषता की परिचायक हैं। अतः साहित्य की शक्ति पर स्वतंत्र रूप से विचार करने के पूर्व यह उचित है कि हम तत्सम्बन्धी परंपरागत मतों का भी अनुशीलन करलें। इस सम्बन्ध में हम इन मतों पर विचार कर सकते हैं—(क) भारतीय मत—(१) रस (२) अलंकार (३) रीति (४) ध्वनि (५) वक्रोक्ति (६) औचित्य। (ख) पाश्चात्य मत—(१) अनुकृति (२) औचित्य (३) अलंकृति (४) औदात्य (५) कल्पना। इन मतों की परीक्षा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनमें से कोई भी मत साहित्य की शक्ति के रूप में स्वीकार्य नहीं है।[1] उदाहरण के लिए 'रस' को काव्य की आत्मा बताया गया है किन्तु वस्तुतः यह काव्यजन्य आनन्द है

---

१. विस्तृत विश्लेषण साहित्य-विज्ञान, खंड १ में दृष्टव्य।

जिसका आविर्भाव पाठक के हृदय में होता है जबकि काव्य की आत्मा का निवास किसी इतर पदार्थ में न होकर स्वयं काव्य में होना चाहिए। इस दृष्टि से रस काव्य की आत्मा या शक्ति नहीं है अपितु उस शक्ति का कार्य, फल या उत्पादन है—ऐसी स्थिति में उसे काव्यात्मा के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार अलंकार, रीति, वक्रोक्ति एवं ध्वनि आदि संप्रदायों में भी इन तत्त्वों को क्रमशः काव्यात्मा घोषित किया गया है जबकि दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया गया है कि अलंकार से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है तथा रीति वक्रोक्ति या ध्वनि से काव्य में शोभा, चारुता या रमणीयता का आविर्भाव होता है। यदि हम सौन्दर्य, शोभा, चारुता, रमणीयता—इन सब शब्दों का समन्वय केवल एक ही शब्द—आकर्षण—में करलें तो कहा का सकता है कि ये सब तत्त्व काव्यगत आकर्षण के साधन हैं, इन सबका साध्य आकर्षण है। ऐसी स्थिति में हम साधनों की अपेक्षा साध्य को अधिक महत्त्व देते हुए आकर्षण को ही काव्य की शक्ति या आत्मा तथा शेष सबको उस शक्ति के विभिन्न साधनों के रूप में स्वीकार करलें तो अनुचित नहीं होगा। शेष मतों के परीक्षण से भी यह सिद्ध होता है कि जब तक काव्य में आकर्षण-शक्ति का संचार नहीं होता, तब तक अन्य कोई भी तत्त्व—औचित्य, अनुकृति, अलंकृति, औदात्य, कल्पना आदि—काव्य की काव्यात्मकता का स्थानापन्न नहीं हो सकता। 'दो और दो चार होते हैं' यह उक्ति औचित्य से युक्त है; 'मनुष्य रात्रि में शयन करते हैं तथा दिन में कार्य करते हैं'—इस उक्ति में लौकिक जीवन की सही अनुकृति है; 'शकुन्तला चाँद सी सुन्दर है' इसमें अलंकृति के सभी उपकरण विद्यमान हैं; 'हमें सत्य और न्याय के लिए आत्म-बलिदान कर देना चाहिए'—इसमें औदात्य का अस्तित्व है; 'मैं पंख लगाकर आसमान में उड़ जाऊँ' इसमें कल्पना की उडान झलकती है, फिर भी आकर्षण के अभाव में हम इनमें से किसी भी उक्ति को काव्यात्मक या साहित्यिक उक्ति नहीं मान सकते। अतः ये सब तत्त्व साहित्य के लिए उपयोगी तो माने जा सकते हैं किन्तु इनमें से किसी को भी साहित्य की शक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। साहित्य की आत्मा या शक्ति तो वस्तुतः आकर्षण शक्ति ही है।

साहित्य की शक्ति के रूप में आकर्षण-शक्ति की प्रतिष्ठा के लिए परम्परागत साहित्य-शास्त्रीय मतों के उपर्युक्त विश्लेषण के अतिरिक्त हम कुछ और आधारों को भी अपनाना उचित समझते हैं। अतः इसके लिए सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान एवं आधुनिक विज्ञान से सम्बन्धित कतिपय विषयों का अध्ययन अपेक्षित है। विभिन्न विषयों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आकर्षण-शक्ति का केवल एक ही रूप और एक ही क्षेत्र नहीं है; विश्व में शक्ति के जितने रूप और क्षेत्र हैं उन सभी में आकर्षण-शक्ति का अस्तित्व मिलता है। शक्ति की सामान्यतः दो अवस्थाएँ होती हैं—सुषुप्ति एवं जागृति। जहाँ भी शक्ति जागृत होकर कार्य करती

है, वहाँ वह सदा आकर्षण-विकर्षण के रूप में ही कार्य करती है; अतः शक्ति को आकर्षण-शक्ति या विकर्षण-शक्ति का भी नाम दिया जा सकता है। आकर्षण और विकर्षण एक ही क्रिया के दो पक्ष हैं—अतः इनमें से कोई एक नाम भी स्वीकार किया जा सकता है। आकर्षण शक्ति के विभिन्न रूप भौतिक विज्ञान में गुरुत्वाकर्षण-शक्ति, चुम्बक शक्ति, विद्युत् शक्ति, परमाणु शक्ति आदि हैं तो जीव-विज्ञान में नर-मादा के प्रथम संपर्क से लेकर प्रथम जीव-कोष के निर्माण, भ्रूण के विकास, विभिन्न शारीरिक संस्थानों के संचालन, एवं जीवन-पर्यन्त होने वाली विभिन्न शारीरिक प्रक्रियाओं तक सब में आकर्षण शक्ति का अस्तित्व मिलता है। इसी प्रकार मानसिक क्षेत्र में भी हमारी समस्त ऐन्द्रिक, भावात्मक एवं बौद्धिक प्रक्रियाओं के मूल में आकर्षण शक्ति विद्यमान है। यह विचित्र बात है कि विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न स्तरों पर आकर्षण-शक्ति विभिन्न प्रकार के माध्यमों से कार्य करती है किन्तु कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो भौतिक-विज्ञान से लेकर मनोविज्ञान तक आकर्षण-शक्ति के सभी रूपों में समान रूप से पाई जाती हैं। हमारी अनुसंधान के अनुसार निम्नलिखित आठ प्रवृत्तियाँ ऐसी ही हैं—

(१) शक्ति सदा आकर्षण-विकर्षण की प्रक्रियाओं के रूप में कार्य करती है। (२) शक्ति का संगठन त्रिगुणात्मक तत्त्वों के रूप में होता है जिन्हें सामान्यतः धनात्मक (Positive) ऋणात्मक (Negative) एवं उभयात्मक (Neutral) कहा जा सकता है। (३) शक्ति के धनात्मक जाति एवं ऋणात्मक जाति के तत्त्वों में परस्पर आकर्षण रहता है जबकि स्वजाति के प्रति विकर्षण रहता है। उभयात्मक तत्त्व आकर्षण-विकर्षण से मुक्त रहते हैं। इस दृष्टि से इन तीनों वर्गों के तत्त्वों को रोचक शैली में क्रमशः नर, मादा और नपुंसक जाति के तत्त्वों की भी संज्ञा दी जा सकती है। (४) शक्ति की दो अवस्थाएँ हैं—जागृति एवं सुषुप्ति। जब शक्ति के त्रिगुणात्मक तत्त्व परस्पर संतुलित रहते हैं तो शक्ति सुषुप्त रूप में रहती है जबकि उनका संतुलन भंग होने पर शक्ति जागृत एवं सक्रिय हो जाती है। (५) सक्रिय अवस्था में शक्ति या आकर्षण-शक्ति चार प्रक्रियाओं में अपना कार्य संपादित करती है—संयोजन, संप्रेषण, द्रवण, और अभिव्यक्ति। (६) आकर्षण-शक्ति विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में कार्य करती है। (७) आकर्षण-शक्ति सदा वक्र एवं चक्राकार गति से आगे बढ़ती है। (८) शक्ति का लक्ष्य सदा अपूर्णता से पूर्णता की ओर, वैषम्य से साम्य की ओर तथा असंतुलन से संतुलन की ओर आगे बढ़ने का होता है।

उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियाँ साहित्य की आकर्षण-शक्ति में भी मिलती हैं।[२] इस दृष्टि से विश्व में व्याप्त आकर्षण-शक्ति से साहित्य की आकर्षण-शक्ति भिन्न नहीं है अपितु उसी का एक परिवर्तित रूप है। शक्ति के शेष रूपों से इसकी विशेषता या भिन्नता

---

२. स्पष्टीकरण साहित्य-विज्ञान प्रथम खंड में द्रष्टव्य।

यह है कि एक तो इसका स्तर मानसिक होता है और दूसरे उसका माध्यम भाषा होती है। जब मानसिक स्तर की आकर्षण-शक्ति भाषा के स्थान पर अन्य माध्यमों से व्यक्त होती है तो वह विभिन्न कलाओं—चित्र, संगीत, नृत्य आदि—का रूप धारण करती है।

अस्तु, साहित्य में आकर्षण-शक्ति के अस्तित्त्व का समर्थन एक ओर परम्परागत साहित्य-शास्त्र से एवं दूसरी ओर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित आकर्षण-सिद्धान्त से हो जाता है। इनके अतिरिक्त हमने एक तीसरा प्रमाण और प्रस्तुत किया है। वह यह है कि प्रायः सभी युगों के साहित्याचार्यों ने साहित्य की, व्याख्या, विवेचना एवं आलोचना करते हुए अनायास ही 'आकर्षण' या 'आकर्षण-शक्ति' संज्ञा का प्रयोग साहित्य की विशिष्ट क्षमता के लिए किया है। यद्यपि परंपरागत साहित्य-शास्त्र में इस नाम का कोई सिद्धान्त या तत्त्व उपलब्ध नहीं होता फिर भी सहज रूप में ही इसका उल्लेख करके इन आचार्यों ने आकर्षण सिद्धान्त को अप्रत्यक्ष रूप में मान्यता दे दी है। यह विचित्र बात है कि जहाँ रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकृति, अनुकृति, औचित्य आदि के प्रसंग में इन विद्वानों में परस्पर मत-भेद मिलता है, वहाँ आकर्षण के प्रसंग में इन्होंने मतैक्य का परिचय दिया है। वस्तुतः यह तथ्य आकर्षण-तत्त्व की व्यापकता एवं सार्वजनीनता सिद्ध करता है।

साहित्य की आकर्षण-शक्ति के विभिन्न स्तरों के आधार पर उसके तीन भेद किये जा सकते हैं—(१) भावात्मक आकर्षण (२) बौद्धिक आकर्षण एवं (३) ऐन्द्रिक आकर्षण। ये तीनों भेद मूलतः साहित्यिक रचना की विषय-वस्तु की प्रकृति एवं उसके प्रभाव की विशेषता को सूचित करते हैं। साहित्य की उच्चता एवं गंभीरता की दृष्टि से ये तीनों प्रकार साहित्य की उत्कृष्टता के भी क्रमशः तीन स्तरों—सर्वोच्च स्तर, उच्च स्तर एवं मध्यम स्तर—के सूचक माने जा सकते हैं।

(४) **साहित्य का द्रव्य या वस्तु-तत्त्व**—शक्ति का निवास द्रव्य में रहता है, अतः शक्ति और द्रव्य में भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। यह बात साहित्य पर भी लागू होती है। साहित्य का आधारभूत द्रव्य मानसिक स्तर का होता है जिसे मुख्यतः तीन तत्त्वों—भाव (अनुभूति), विचार (तथ्य) और कल्पना के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है। इन तत्त्वों की व्याख्या आधुनिक मनोविज्ञान, सौन्दर्य-शास्त्र एवं परम्परागत साहित्य-शास्त्र में भी विभिन्न दृष्टिकोणों से हुई है, अतः इनके अधिक विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण के लिए इन विषयों से भी सहायता ली जा सकती है। भाव तत्त्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या से स्पष्ट है कि इसके व्यापक अर्थ में अनुभूति, भाव, मनोदशा, भावना, भावात्मक दृष्टिकोण, स्वभाव आदि विभिन्न मानसिक तत्त्व आते हैं, जबकि संकीर्ण अर्थ में इसका सम्बन्ध केवल भावावेग (Emotion) से ही है। इस सम्बन्ध में दूसरा तथ्य यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न भाव मूलतः आकर्षण-विकर्षण के ही विभिन्न विकसित रूप हैं। शुद्ध आकर्षण-विकर्षण

में और विभिन्न विकसित भावों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ विभिन्न भाव अहं से मिश्रित होते हैं जबकि शुद्ध आकर्षण-विकर्षण में ऐसा नहीं होता। काव्यगत आकर्षण-विकर्षण और लौकिक भावों में इसी अन्तर के कारण दोनों की अनुभूतियों में अन्तर आ जाता है ; जहाँ काव्यानुभूति सर्वत्र आनन्दमयी होती है वहाँ लौकिक अनुभूतियों में आनन्द का प्रायः अभाव रहता है।

कला एवं साहित्य सम्बन्धी भावों के सम्बन्ध में सौन्दर्य-शास्त्रीय विद्वानों के विभिन्न मतों को हम मुख्यतः पाँच वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) भावोद्दीप्ति-वादी वर्ग, जो कला का लक्ष्य भावों का उद्दीपन मानता है। (२) भावावलम्बनवादी वर्ग, जो कला में भावों को विषय-वस्तु या आलम्बन के रूप में स्थान देता है। (३) भावानुभव वादी वर्ग—यह वर्ग कला या साहित्य को भावानुभूति का ही एक रूप मानता है। (४) भावाभिव्यक्ति वादी वर्ग—इस वर्ग के विद्वान कला को भावाभि-व्यक्ति का माध्यम मानते हैं। (५) भाव-प्रेषणवादी वर्ग—इस वर्ग के विद्वानों की मान्यता के अनुसार कला का लक्ष्य भावों का प्रेषण करना है। इन पाँचों वर्गों में सौन्दर्य-शास्त्र के शताधिक विद्वानों के मत आ जाते हैं जिनका विवेचन एवं विश्लेषण करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आंशिक रूप में ये सभी मत ठीक हैं। किन्तु साथ ही सभी मत अपूर्ण भी हैं। भावों के उद्दीपन, अवलम्बन, अनुभव, अभि-व्यंजन एवं प्रेषण—इन सभी व्यापारों का कला से सम्बन्ध है, अतः इनमें से किसी को भी उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः ये पाँचों व्यापार एक ही क्रिया के विभिन्न उपभेद हैं, जिस प्रकार 'स्नान' के अन्तर्गत जल को शरीर पर डालना, साबुन लगाना, शरीर को पौंछना आदि व्यापारों का समावेश हो जाता है वैसे ही आकर्षण शक्ति के अन्तर्गत इन सभी का समन्वय हो जाता है। जैसा कि हमने पीछे कहा है, साहित्य एवं कलाओं के प्रसंग में भाव को भाव न कहकर आकर्षण कहना अधिक उचित है क्योंकि भाव अहं से युक्त होते हैं जबकि साहित्य में वे अहं-शून्य हो जाने के कारण आकर्षण के रूप में परिणत हो जाते हैं। साहित्य में आकर्षण-शक्ति की चार प्रक्रियाएँ संपन्न होती हैं—संयोजन, संप्रेषण, द्रवण और अभिव्यक्ति। इन्हीं चारों प्रक्रियाओं में उपर्युक्त भाव सम्बन्धी विभिन्न वादों का समन्वय हो जाता है ; देखिये—(१) संयोजन के अन्तर्गत भावावलम्बन वाद एवं भावानुभव वाद का। (२) संप्रेषण के अन्तर्गत भाव-प्रेषण वाद का। (३) द्रवण के अन्तर्गत भावोद्दीपन वाद का। (४) अभिव्यक्ति में भावाभिव्यक्ति वाद का। इस दृष्टि से इन चारों ही प्रक्रियाओं का महत्त्व है तथा ये परस्पर-पूरक हैं। उच्चकोटि के काव्य में ये चारों ही प्रक्रियाएँ संपन्न होती हैं किन्तु सौन्दर्य-शास्त्र के विभिन्न वादियों ने किसी एक को ही महत्त्व देकर तथा शेष की उपेक्षा करके उचित नहीं किया। अस्तु, सौन्दर्य-शास्त्र के भाव सम्बन्धी विभिन्न मतों का समन्वय आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त के अन्तर्गत हो जाता है।

भावों की काव्य-शास्त्रीय व्याख्या करते हुए हम सर्वप्रथम भारतीय रस-सिद्धान्त

को ले सकते हैं, क्योंकि यह साहित्य में भावों को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार साहित्य का केन्द्रीय तत्त्व भाव या स्थायी भाव है तथा शेष सामग्री उसी के विभिन्न अवयवों—विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव—के रूप में प्रस्तुत होती है। इस प्रकार साहित्य की सामग्री को रस के चार अवयवों—स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव (आलम्बन एवं उद्दीपन) और अनुभाव के अन्तर्गत विश्लिष्ट किया जा सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर इन अवयवों का विवेचन, विश्लेषण एवं संशोधन करते हुए हमने इनके सम्बन्ध में निम्नांकित निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं—स्थायी भाव की सीमा में आधुनिक मनोविज्ञान के मूलभाव (Primary emotion), मनोदशा (Mood), भावना (Sentiment), चारित्रिक प्रवृत्ति (Tendency), एवं सहज प्रवृत्ति (Instinct) को स्थान दिया जा सकता है। (२) संचारी भाव के अन्तर्गत मनोविज्ञान के व्युत्पन्न भावों (Derived emotions) एवं अनुभूतियों (Feelings) को स्थान दिया जा सकता है। (३) आलम्बन विभाव के अन्तर्गत केवल व्यक्ति-विशेष को ही नहीं, आश्रय के लक्ष्य से सम्बन्धित वस्तु, विचार, प्रयोजन आदि को भी लिया जाना चाहिए। (४) उद्दीपन विभाव में केवल प्राकृतिक वातावरण ही नहीं, वे सब परिस्थितियाँ एवं घटनाएँ ली जा सकती हैं जो कि भावोद्दीपन में सहयोग देती हैं। (५) अनुभाव में पात्रों की केवल स्थूल चेष्टाएँ ही नहीं अपितु वे सब कार्य-व्यापार लिये जा सकते हैं जो किसी भी भाव, भावना या मनोवृत्ति से सम्बद्ध हों। इस प्रकार नई व्याख्या से रस-सिद्धान्त आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल तथा व्यावहारिक दृष्टि से अधिक स्पष्ट एवं व्यापक हो जाता है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी काव्यगत भावों को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है किन्तु उसमें रस-सिद्धान्त जैसे किसी व्यवस्थित सिद्धान्त की स्थापना नहीं हो सकी, अतः इस क्षेत्र में उसकी देन नगण्य है।

(५) **भाव-प्रधान साहित्य**—जिस काव्य या साहित्य में विचार और कल्पना की अपेक्षा भावों की प्रधानता हो, उसे हमने 'भाव-प्रधान साहित्य' की संज्ञा दी है। भाव-प्रधान साहित्य को विचार-प्रधान एवं कल्पना-प्रधान साहित्य से पृथक करने के लिए उसकी तीन सीमाएँ मानी जा सकती हैं—(१) भाव-प्रधान साहित्य में रचयिता का मूल लक्ष्य भाव-विशेष की अभिव्यक्ति करना होता है। (२) भाव-प्रधान साहित्य में केन्द्रीय तत्त्व भाव ही होता है, शेष सब तत्त्व उसी के सहयोगी या अनुचर होते हैं। (३) भाव-प्रधान साहित्य से पाठक की बुद्धि की अपेक्षा उसकी भावनाएँ अधिक प्रभावित होती हैं। इस प्रकार भाव-प्रधान साहित्य में रचयिता के लक्ष्य, रचनागत तत्त्वों एवं पाठक की अनुभूति—इन तीनों की दृष्टि से भाव की प्रमुखता रहती है। भाव-प्रधान साहित्य को अनेक उपभेदों में भी विभाजित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में हम भारतीय रस-सिद्धान्त से सहायता ले सकते हैं क्योंकि उसमें स्थायी

भाव के आधार पर साहित्य का वर्गीकरण किया गया है, किन्तु यह वर्गीकरण पर्याप्त अनिश्चित एवं अस्पष्ट है। एक तो स्थायी भावों की संख्या के सम्बन्ध में ही विद्वानों में परस्पर मत-भेद है। मूलतः आठ या नौ भावों को स्थायी भाव के रूप में स्वीकार किया गया था, किन्तु आगे चलकर स्थिति बदल गई। एक ओर कुछ विद्वानों ने सभी स्थायी भावों को किसी एक ही स्थायी भाव में समन्वित कर देने का प्रयास किया है तो दूसरी ओर विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न नये-नये स्थायी भावों की उद्-भावना की है जिससे इनकी संख्या पच्चीस तक पहुँच जाती है। ऐसी स्थिति में किस मत को आधार बनाया जाय—यह समस्या है! इसके समाधान के लिए सबसे पूर्व स्थायी भाव की एक सामान्य कसौटी तैयार करने की आवश्यकता है, जिससे यह निर्णय किया जा सके कि किसे स्थायी भाव माना जाय और किसे नहीं। इस सम्बन्ध में एक प्रयास आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी कर चुके हैं। उन्होंने स्थायी भाव की कसौटी निर्धारित करते हुए लिखा—"साहित्य में आचार्यों का सारा भाव-निरूपण रस की दृष्टि से है—अर्थात् किसी भाव की व्यंजना से श्रोता या दर्शक में भी उसी भाव की सी प्रतीति के विचार से—किया गया है। अतः जो भाव ऐसे हैं जिन्हें किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुन कर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों का सा अनुभव कर सकते हैं वे तो प्रधान भावों में रखे गये हैं, शेष भाव और मन के वेग संचारियों में डाले गये हैं।"[3] इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने आस्वाद्यत्व को ही प्रधान भाव या स्थायी भाव की कसौटी माना है किन्तु जाँच करने पर यह कसौटी अप्रामाणिक सिद्ध होती है। सफल कवि एवं कुशल अभिनेता के हाथों पड़ कर साहित्य का प्रत्येक भाव आस्वाद्य एवं संवेद्य हो जाता है, भले ही वह प्रमुख हो या गौण, स्थायी हो या संचारी। यदि ऐसा न होता तो काव्य की विषय-वस्तु का साधारणीकरण होना स्वीकार नहीं किया जाता। साधारणीकरण के सिद्धान्त के अनुसार कवि के द्वारा व्यक्त सभी भाव संवेद्य एवं आस्वाद्य होते हैं। अतः आचार्य शुक्ल के द्वारा प्रस्तुत कसौटी के अनुसार तो हम प्रत्येक भाव को स्थायीभाव मान सकते हैं, जो ठीक नहीं।

स्थायीभाव की कसौटी के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे भाव-दशाएँ और भावात्मक प्रवृत्तियाँ जो व्युत्पन्न भावों (Derived emotions) एवं अनुभूतियों (Feeling) से अधिक स्थिर एवं गंभीर हैं, स्थायीभाव के क्षेत्र में आती हैं। स्थायी भाव के क्षेत्र में आने वाली भाव-दशाओं और भावात्मक प्रवृत्तियों को भी आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर अनेक स्तर-भेदों में—जैसे सहज प्रवृत्ति, भावना, मूलभाव आदि में बाँटा जा सकता है। वस्तुतः एक ही सहज प्रवृत्ति परिस्थिति भेद से अनेक भावनाओं और मूल भावों में

---

३. रस-मीमांसा : रामचंद्र शुक्ल, पृ० २०२।

विकसित हो जाती है। किन्तु सहज प्रवृत्तियों की संख्या के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में मतैक्य का अभाव है। इस सम्बन्ध में हमने विभिन्न मतों का समन्वय करते हुए सहज प्रवृत्तियों एवं तत्सम्बन्धी भावनाओं एवं मूल भावों की संख्या निर्धारित करने का प्रयास किया है। जिसके अनुसार सभी सहज प्रवृत्तियाँ छह प्रमुख सहज प्रवृत्तियों में समन्वित हो जाती हैं। इन सहज प्रवृत्तियों का विकास परिस्थिति भेद से लगभग तीस भावनाओं में हो जाता है, किन्तु ये सभी भावनाएँ लगभग दस मूल भावों के माध्यम से व्यक्त होती हैं। इस प्रकार स्थायी भाव के तीन प्रमुख स्तरों को सहज प्रवृत्तियों की दृष्टि से छह भेदों में, भावनाओं की दृष्टि से तीस भेदों में और मूल-भावों की दृष्टि से दस भेदों में विभक्त कर सकते हैं। इनमें से हम किसी भी स्तर को अपनायें वह अवैज्ञानिक नहीं होगा। जिस प्रकार भारतवर्ष को हम दिशाओं की दृष्टि से चार खंडों में—उत्तर भारत, दक्षिण भारत, पूर्व भारत और पश्चिम भारत—प्रान्तों की दृष्टि से बीस में (या जितने भी हों) तथा जिलों की दृष्टि से शताधिक खंडों में विभाजित कर सकते हैं। इनमें से कोई भी विभाजन अवैज्ञानिक नहीं होगा, इसी प्रकार स्थायी भावों को भी विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न भेदों मेंबाँटा जा सकता है। जो वर्गीकरण को विस्तार देना चाहते हैं वे भावनाओं को आधार बना सकते हैं, जबकि संक्षेप के लिए सहज प्रवृत्तियों का आधार ठीक है। यदि इस वर्गीकरण को और भी संक्षिप्त करना चाहें तो सभी सहज प्रवृत्तियों को दो ही मूल प्रवृत्तियों—आकर्षण मूलक एवं विकर्षण मूलक—में समन्वित कर सकते हैं। इस दृष्टि से स्थायी भावों की संख्या में विस्तार और संकोच—दोनों प्रकार के प्रयास आवश्यकतानुसार उपर्युक्त आधारों पर किये जा सकते हैं।

भाव-प्रधान साहित्य के सम्बन्ध में अन्य उल्लेखनीय निष्कर्ष ये हैं—(१) भाव-प्रधान साहित्य में साहित्यकार विषय-वस्तु के प्रति स्वयं भावात्मक आकर्षण अनुभव करता हुआ, उसी की प्रेरणा से आकर्षण शक्ति की चारों प्रक्रियाओं—संयोजन, संप्रेषण, द्रवण एवं अभिव्यक्ति—के माध्यम से साहित्य-सर्जन करता है। यही तथ्य भाव-प्रधान साहित्य में भावात्मक आकर्षण के संचार का आधार है। (२) भाव-प्रधान साहित्य में जब भावात्मक आकर्षण के केन्द्र में कोई एक सहज प्रवृत्ति, भावना या मूल भाव रहेगा तथा शेष भाव इसी के अंग रूप में नियोजित रहेंगे तो उसी स्थिति में भावात्मक आकर्षण प्रबल हो सकेगा अन्यथा वह छिन्न-भिन्न होकर प्रभाव-शून्य हो सकता है। (३) केन्द्रीय भाव से सम्बन्धित सहज प्रवृत्ति जितनी अधिक गंभीर होगी उसमें उतनी ही अधिक गंभीरता आने की संभावना रहेगी। (४) केन्दीय भाव का विकास जितनी अधिक व्युत्पन्न भाव-दशाओं एवं अनुभूतियों के द्वारा सहज रूप में दिखाया जायगा, उतना ही आकर्षण दृढ एवं गंभीर हो सकेगा।

वस्तुतः भाव-प्रधान साहित्य की विवेचना करते हुए हमने रस-सिद्धान्त

को आधुनिक मनोविज्ञान एवं आकर्षण-सिद्धान्त के आधार पर अधिक संगत, व्यापक एवं परिष्कृत रूप देने का प्रयास किया है।

(६) **विचार तत्त्व**—भाव के अनन्तर साहित्य का दूसरा तत्त्व विचार है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार के चार सामान्य लक्षण बताये जा सकते हैं—(१) विचार का सम्बन्ध सदा किसी न किसी समस्या, लक्ष्य या उद्देश्य से रहता है। (२) विचार के सामान्यतः दो लक्ष्य होते हैं—सत्य का अनुसंधान या नयी योजना का आविष्कार। (३) विचार में सदा पूर्व अनुभवों का उपयोग नये रूप में होता है। (४) विचार सदा स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है। मनो विज्ञान के आधार पर विचार के तीन स्तर-भेद भी किये जाते हैं—(१) प्रत्यक्षात्मक विचार (Perception) (२) कल्पनात्मक विचार (Manipulation) और (३) प्रत्ययात्मक विचार (Coception)। तर्क-शास्त्र की दृष्टि से विचार की दो पद्धतियाँ मानी जाती हैं—आगमनात्मक एवं निगमनात्मक। अस्तु, मनोविज्ञान एवं तर्क-शास्त्र के आधार पर विचार के सामान्य रूप का अध्ययन करने के अनन्तर उसका साहित्यिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शुद्ध रूप में विचार को साहित्य में कोई स्थान नहीं दिया जा सकता, उसे भावानुभूति एवं कल्पना के सहयोग से ही साहित्य में प्रस्तुत किया जा सकता है। जिस प्रकार दार्शनिक या वैज्ञानिक अनुभूति को सामान्यीकरण की पद्धति के द्वारा शुद्ध विचार में परिणत करता है, उसी प्रकार एक साहित्यकार पुनः उसे विशेषीकरण द्वारा अनुभूति में परिणत करके साहित्यिक रूप प्रदान करता है। सामान्यतः साहित्य में विचार तत्त्व को तीन विधियों से प्रस्तुत किया जा सकता है—(१) एक विचार को अन्य विचार के सहयोग से। (२) विचार को भाव के सहयोग से। (३) विचार को कल्पना के सहयोग से। इनमें प्रथम विधि का उपयोग सामान्य नीति-काव्य (सूक्तियों) में होता है जिसे काव्यत्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता, जबकि शेष दो विधियाँ उच्चकोटि के साहित्य में प्रयुक्त होती हैं।

परम्परागत साहित्य-शास्त्र में 'विचार-प्रधान साहित्य' जैसा कोई स्पष्ट भेद नहीं मिलता किन्तु उसमें कुछ सिद्धान्त अवश्य ऐसे मिलते हैं जो मुख्यतः इसी वर्ग के साहित्य पर लागू होते हैं। इनमें तीन सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—औचित्य, उदात्त और शान्त रस। विचारों का आस्वादन हृदय की अपेक्षा बुद्धि के माध्यम से अधिक होता है तथा बुद्धि किसी भी बात को औचित्य के आधार पर ही ग्रहण करती है, अतः औचित्य का जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध विचार-प्रधान साहित्य से है उतना भाव-प्रधान से नहीं है। इसी प्रकार औदात्य का सम्बन्ध भी विचारों से अधिक है। रस-सिद्धान्त के आचार्यों की 'शान्तरस' की कल्पना भी विचार-प्रधान साहित्य पर आधृत है। जहाँ अन्य रसों में भावना-विशेष केन्द्र में रहती है वहाँ इसमें विचार-विशेष की अनुभूति रहती है—इसीलिए शान्तरस के

स्थायी भाव का अभी तक कोई एक निर्णय नहीं हो पाया। विभिन्न आचार्यों ने शम, निर्वेद, सम्यक्-ज्ञान, तत्त्व-ज्ञान, तृष्णा-क्षय-सुख, सर्वचित्तवृत्ति-प्रशम आदि को शान्तरस का स्थायी भाव माना है जो स्पष्ट नहीं है। हमारे विचार से बौद्धिक विषय में तल्लीनताजन्य शान्ति या आनन्द ही शान्त रस का स्थायी भाव है। बौद्धिक आनन्द की अनुभूति के समय हमारा मन राग-द्वेष से शून्य रहता है, चितवृत्तियाँ शान्त रहती हैं, तृष्णाएँ क्षीण हो जाती हैं, तत्त्व-ज्ञान या सम्यक् ज्ञान का बोध होता है। अस्तु, विचार-प्रधान साहित्य के आस्वादन से प्राप्त शान्ति ही शान्त रस है। इस प्रकार स्पष्ट है कि औचित्य, उदात्त एवं शान्त रस—ये तीनों सिद्धान्त विचार-प्रधान साहित्य की ही विभिन्न विशेषताओं की व्याख्या करते हैं। इन्हें भाव-प्रधान साहित्य में भी उसी सीमा तक लागू किया जा सकता है जिस सीमा तक उसमें विचारों का स्थान है। चूंकि भाव-प्रधान साहित्य में विचार गौण रूप में ही आते हैं, अतः वहाँ इन तत्त्वों का भी स्थान गौण है। वस्तुतः जिस प्रकार रस-सिद्धान्त (शान्त रस को छोड़कर) का असली क्षेत्र भाव-प्रधान साहित्य है, वैसे ही इन सिद्धान्तों का मुख्य क्षेत्र विचार-प्रधान साहित्य है।

(७) **कल्पना तत्व**—साहित्य का तीसरा तत्त्व कल्पना है। सामान्यतः इसकी परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि कल्पना एक ऐसी मानसिक शक्ति है जो वस्तुओं की अनुपस्थिति में या अप्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में चिन्तन मनन करती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कल्पना के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उसके ये सामान्य लक्षण निर्धारित किये जा सकते हैं—(१) कल्पना पूर्व अनुभूतियों पर आधारित होती है। (२) कल्पना भविष्य की ओर उन्मुख होती है। (३) कल्पना की क्रिया इच्छा प्रेरित होती है। (४) कल्पना स्वच्छन्द (बुद्धि के नियंत्रण से मुक्त) होती है। (५) कल्पना का आलम्बन अप्रत्यक्ष होता है। (६) कल्पना की आधार-भूत सामग्री बिम्बों (Images) के रूप में मस्तिष्क में संचित रहती है। (७) कल्पना का कार्य अतीत अनुभवों को नया रूप प्रदान करना या पूर्व उपलब्ध ज्ञान-सामग्री को नये रूप में प्रस्तुत करना होता है। सामान्यतः कल्पना और बिम्ब-विधान को एक ही मान लिया जाता है किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इनमें सूक्ष्म अन्तर है। बिम्ब-विधान में वस्तुओं का ऐन्द्रिक प्रभाव मूल रूप में विद्यमान रहता है जबकि कल्पना उन्हें नया रूप प्रदान करती है। बिम्ब केवल अनुकृति प्रस्तुत करते हैं जबकि कल्पना नव-सर्जन करती है। अवश्य ही कल्पना बिम्बोंकी सहायता लेती है फिर भी दोनों को एक ही नहीं माना जा सकता।

मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना के विभिन्न भेदोपभेद भी किये हैं, किन्तु साहित्य का सम्बन्ध मुख्यतः सौन्दर्योन्मुख सर्जनात्मक कल्पना से है। यह रूप कल्पना के अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक मौलिक, स्वतन्त्र एवं आनन्ददायक होता है।

कल्पना के सम्बन्ध में उपलब्ध विभिन्न मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों की पुष्टि

साहित्य-शास्त्र के आधार पर भी होती है। विभिन्न साहित्याचार्यों ने भी कल्पना के वे ही लक्षण स्वीकार किये हैं जो कि मनोवैज्ञानिकों द्वारा बताये जाते हैं।

साहित्य-सर्जन में कल्पना के योग-दान को पाँच प्रक्रिओं के रूप में स्वीकार किया जा सकता है—(१) द्रव्य को अचेतन-स्तर से चेतन-स्तर पर प्रस्तुत करना। (२) उपलब्ध द्रव्य का विस्तार (३) नये द्रव्य का आविर्भाव या रूपान्तरण (४) द्रव्य को अनुभूतिगम्य बनाना (५) विषय-वस्तु को देश-काल एवं व्यक्ति के सम्बन्धों से मुक्त करना। वस्तुतः कल्पना की इन्हीं पाँचों प्रक्रियाओं के सहयोग से साहित्य का सर्जन होता है।

जिस साहित्य में भाव एवं विचार की अपेक्षा कल्पना की प्रमुखता हो उसे 'कल्पना-प्रधान साहित्य' कहा जा सकता है। इस साहित्य के विश्लेषण से तीन प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं—(१) बिम्बात्मकता की प्रवृत्ति (२) अत्युक्ति एवं अस्वाभाविकता की प्रवृत्ति (३) अप्रस्तुत पक्ष की प्रधानता की प्रवृत्ति। वस्तुतः ये प्रवृत्तियाँ कल्पना-प्रधान साहित्य के दुर्बल पक्ष को सूचित करती हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तथ्यों पर आधारित एवं अनुभूति से संवलित कल्पना ही उच्च कोटि के साहित्य के सर्जन में सफल होती है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न तत्त्वों की प्रमुखता की दृष्टि से साहित्य के तीन भेद—(१) भाव-प्रधान, (२) विचार-प्रधान एवं (३) कल्पना-प्रधान—हो जाते हैं जिनका क्रमशः आकर्षण शक्ति के तीन भेदों--भावात्मक आकर्षण, बौद्धिक आकर्षण एवं ऐन्द्रिक आकर्षण—से सम्बन्ध है।

(८) **साहित्य का रूप या शैली**—हिन्दी में सामान्यतः रूप और शैली को भिन्न-भिन्न माना जाता है जबकि हमारे विश्लेषण के अनुसार दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। 'रूप' अधिक व्यापक एवं बहु-प्रचलित शब्द है जिसका प्रयोग सभी क्षेत्रों में होता है जबकि 'शैली' का प्रयोग मुख्यतः कलाओं के ही प्रसंग में होता है। साहित्य के रूप का अध्ययन दो प्रकार से किया जा सकता है—एक, साहित्य के रूप की उन विशेषताओं का अध्ययन जो असाहित्यिक रचनाओं में नहीं मिलती। दूसरा, साहित्य के भी विभिन्न रूपों के पारस्परिक अन्तर का अध्ययन। प्रथम प्रकार को हम साहित्य के सामान्य रूप का अध्ययन कह सकते हैं। यह अध्ययन 'शैली' के अन्तर्गत आता है जबकि विभिन्न रूपों के पारस्परिक अन्तर को हम रूप-भेदों (जैसे, नाटक, कविता, उपन्यास, निबन्ध आदि) या रूप के वर्गीकरण के अन्तर्गत स्थान दे सकते हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में केवल साहित्य के समान्य रूप (शैली) का ही अध्ययन किया गया है।

साहित्यिक दृष्टि से 'रूप' का अनुशीलन करने से पूर्व हमें विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन एवं सौन्दर्य-शास्त्र के आधार पर इसकी कुछ सामान्य विशेषताएँ समझ लेनी चाहिये। शाब्दिक दृष्टि से हिन्दी का 'रूप' अँगरेजी के 'फार्म' (Form) का समानार्थक है। वैसे लाक्षणिक प्रयोगों में 'रूप' का प्रयोग अन्य अर्थों में भी होता है किन्तु

उनसे यहाँ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमने यहाँ 'रूप' का प्रयोग उसी सीमित अर्थ में किया है जो 'फार्म' की सीमा में आता है तथा जिसमें किसी वस्तु की बनावट, संघटन, अवस्था, दशा, आदि से सम्बन्धित विभिन्न विशेषताओं का समावेश होता है। भौतिक विज्ञान की दृष्टि से किसी भी द्रव्य या पदार्थ में दो प्रकार के गुण माने जाते हैं—(१) रासायनिक गुण (Chemical properties) (२) भौतिक गुण (Physical properties) रूप के अन्तर्गत हम सामान्यतः भौतिक गुणों को ले सकते हैं जो कि बाह्य एवं परिवर्तनशील होते हैं।

मनोविज्ञान की दृष्टि से रूप द्रव्य की वह विशेषता है जिसे व्यक्ति संवेदित करता है। रूप का इन्द्रियों से सीधा सम्बन्ध है—हमारी इन्द्रियाँ किसी वस्तु के जिस पक्ष का प्रत्यक्ष रूप में बोध करती है, वही उसका रूप है। कई बार वस्तु से इन्द्रियों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता, उनके बीच कोई अन्य माध्यम या आवरण उपस्थित हो जाता है। ऐसी स्थिति में मनोविज्ञान के अनुसार हम उस क्षण के लिए उक्त माध्यम या आवरण को भी वस्तु का रूप मान सकते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वस्तु के जिस पक्ष, आवरण या माध्यम से हमारी संवेदनाओं का निकटतम प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, मनोविज्ञान के अनुसार वही उस वस्तु का रूप है।

भारतीय दर्शन के अनुसार 'रूप' द्रव्य की प्रातिभासिक सत्ता है जो मिथ्या एवं परिवर्तनशील है। यह परिवर्तन दो प्रकार का होता है—विवर्त्त और परिणाम। एक रूप का अन्य रूप में परिवर्तन 'विवर्त्त' मात्र है जबकि रूप के साथ द्रव्य के भी गुणों का परिवर्तन 'परिणाम' है। वेदान्त के अनुसार रूप-परिवर्तन ही सृष्टि से विकास का आधार, प्रकृति का एक मात्र कार्य और हमारे समस्त आकर्षण-विकर्षण या सुख-दुःख का आधार है।

पाश्चात्य दर्शन में रूप के सम्बन्ध में चार दृष्टिकोण मिलते है, किन्तु उनका विश्लेषण करने पर अन्ततः हम उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचते हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है।

सौन्दर्य-शास्त्र में कला के रूप या कलात्मक रूप की मीमांसा बड़े विस्तार से हुई है। विभिन्न विद्वानों ने रूप की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं, जिनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कलात्मक रूप के अन्तगैत विषय-वस्तु की अन्विति, संयोजना, अभिव्यंजना एवं प्रस्तुतीकरण सम्बन्धी सभी प्रकार के वैशिष्ट्य को स्थान दिया जा सकता है। इस दृष्टि से काव्य-कला के क्षेत्र में छन्द, तुक, अलंकार, रीति शैली आदि से सम्बन्धित सभी विशेषताओं को रूप के अन्तर्गत लिया जा सकता है। वस्तुः कला में जो कुछ कथ्य है, वह उसका द्रव्य या विषय है जबकि कथन-विधि से सम्बन्धित सभी विशिष्ट तत्त्व रूप या शैली के अन्तर्गत आते हैं।

सौन्दर्य-शास्त्र के अनुसार कला में रूप-विधान का लक्ष्य सौन्दर्य या आकर्षण की उत्पत्ति करना है। कला का मूल द्रव्य सुन्दर हो, यह आवश्यक नहीं किन्तु उसे

सुन्दर रूप में प्रस्तुत करना नितान्त आवश्यक है। कलाकार असुन्दर को भी सुन्दर में परिणत कर सकता है। कला में रूप-विधान का आदर्श प्रकृति को माना जाता है क्योंकि अरस्तू के मतानुसार प्रकृति की ही अनुकृति कला है। किन्तु परिवर्ती आचार्यों ने कुछ अन्य तत्त्वों की भी खोज की है जो कला में सौन्दर्य-सृष्टि के साधन माने जा सकते हैं, जैसे, सामंजस्य, क्रमबद्धता, अनुपात, संतुलन, वक्रता, औचित्य, आवयविक एकता आदि। इस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्र से रूप के विभिन्न पक्षों एवं तत्त्वों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

अस्तु, भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन एवं सौन्दर्य-शास्त्र के आधार पर रूप का सामान्य अध्ययन कर लेने के अनन्तर हम विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से रूप का विश्लेषण कर सकते हैं। जैसा कि पीछे स्पष्ट किया गया है, साहित्य के रूप की सामान्य विशेषताओं को ही 'शैली' कहा जाता है। 'शैली' की व्युत्पत्ति एवं उसकी विभिन्न परिभाषाओं का विश्लेषण करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अभिव्यंजना-पद्धति का वैशिष्ट्य ही शैली है। साहित्य-शास्त्र में 'शैली' से मिलते-जुलते कई और शब्द भी प्रचलित हैं, जैसे, रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति। शैली के स्पष्टीकरण के लिए यह अपेक्षित है कि हम इन सबका पारस्परिक अन्तर स्पष्ट कर लें। इस दृष्टि से विचार करने पर अन्त में इस निष्कर्ष की उपलब्धि होती है कि रीति सामान्य कार्य-पद्धति है जबकि शैली व्यक्ति-भेद पर आधारित विशिष्ट पद्धति है। रीति का उद्भव पूर्व-नियोजना में रहता है जबकि शैली के मूल में मौलिक प्रयास रहता है। रीति का लक्ष्य जहाँ कार्य को शुद्धता, वैधता एवं पूर्णता प्रदान करने का रहता है वहाँ शैली उसमें नवीनता, चमत्कार एवं विशिष्टता लाना चाहती है। रीति की प्रकृति आदर्शवादी एवं मर्यादावादी है जबकि शैली स्वच्छन्दतावाद को अपनाती है। रीति चिरन्तन और स्थायी तत्त्वों की ओर उन्मुख होती है जबकि शैली क्षणिक एवं सामयिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होती है। रीति का क्षेत्र शास्त्र, विज्ञान एवं लोक-व्यवहार है जबकि शैली का सम्बन्ध मुख्यतः कला और साहित्य सम्बन्धी क्षेत्रों से है। इस प्रकार स्वरूप, उद्भव, लक्ष्य, प्रकृति, प्रवृत्ति एवं क्षेत्र की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर है, किन्तु इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि दोनों सर्वथा एक-दूसरी की विरोधी ही हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है दोनों एक दूसरी की सहायक एवं पूरक हैं। दोनों के निर्माण, विकास एवं क्रिया-कलापों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ रीति का अध्ययन शैली को विकसित करता है, वहाँ शैलियों के सामान्यीकरण द्वारा रीति की प्रतिष्ठा होती है। एक व्यक्ति की शैली ही परवर्ती लेखक के लिए 'रीति' बन सकती है, तो प्रत्येक रीति का व्यावहारिक रूप ही 'शैली' की संज्ञा प्राप्त कर सकता है। अस्तु, रीति और शैली में मूलतः अन्तर होते हुए भी अन्ततः दोनों सह-योगिनी एवं एक-दूसरी की पूरक हैं।

वृत्ति, प्रवृत्ति एवं शैली का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता

है कि 'वृत्ति' व्यक्ति का सूक्ष्म अंतरंग तत्त्व है, जिसकी अभिव्यक्ति 'प्रवृत्ति' में होती है। किसी व्यक्ति की प्रवृत्तियों से ही उसकी वृत्तियों का ज्ञान होता है, प्रवृत्ति क्या है ? व्यक्ति के कार्य की एक विशेषता ही प्रवृत्ति हैं, जबकि अनेक विशेषताओं या प्रवृत्तियों का समुच्चय ही 'शैली' है। अस्तु, संक्षेप मे कहा जा सकता है कि 'वृत्ति' अंतरंग तत्त्व है, उसका व्यक्त रूप 'प्रवृत्ति' है, प्रवृत्तियों का समूह 'शैली' है और शैलियों का सामान्यीकृत रूप 'रीति' है।

(९) **शैली के चार स्रोत**—शैली का स्वरूप स्पष्ट कर लेने के अनन्तर उसके उद्गम-स्रोतों या आधार-स्रोतों की व्याख्या की जा सकती है। हमारे विश्लेषण के अनुसार शैली के ये चार स्रोत माने जा सकते हैं—

(१) व्यक्ति (लेखक) का वैशिष्ट्य (२) विषय-वैशिष्ट्य (३) भाषा-वैशिष्ट्य और (४) पाठक-वैशिष्ट्य। इन्हीं चारों स्रोतों से शैलीगत वैशिष्ट्य का आविर्भाव होता है। अरस्तू के कारण-वाद के अनुसार इन चारों स्रोतों को क्रमशः इन चार कारणों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है—(१) योग्यतापरक कारण (Efficient cause) (२) वस्तुगत कारण (Material cause) (३) रूपात्मक कारण (Formal cause) (४) प्रयोजनमूलक कारण (Final cause)। वस्तुतः शैली के वैशिष्ट्य की सम्यक् व्याख्या के लिए इन चारों स्रोतों की विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है।

सबसे पहला स्रोत व्यक्ति-वैशिष्ट्य या व्यक्तित्व (Personality) है। मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व का विश्लेषण बड़े विस्तार से किया है किन्तु इसके स्वरूप एवं क्षेत्र के सम्बन्ध में कोई एक निश्चित मत नहीं मिलता। व्यक्तित्व की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है—अतः हमारे सामने यह समस्या उपस्थित होती है कि प्रस्तुत प्रसंग में हम किस व्याख्या को स्वीकार करें। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि हम पहले व्यक्तित्व सम्बन्धी विभिन्न मतों का अनुशीलन करते हुए उसकी एक सामान्य परिभाषा एवं उसका क्षेत्र निश्चित करलें। ऐसा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'व्यक्ति' की भाववाचक संज्ञा ही 'व्यक्तित्व' है, अतः इसमें उन सब गुणों एवं विशेषताओं को लिया जा सकता है जिनका सम्बन्ध व्यक्ति से संभव है। इस दृष्टि से व्यक्तित्व के चार पक्ष माने जा सकते हैं—(१) शारीरिक पक्ष (२) बौद्धिक पक्ष (३) भावात्मक पक्ष और (४) चारित्रिक पक्ष। इन चारों पक्षों के आधार पर शैली का विवेचन करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन सभी पक्षों का शैली से न्यूनाधिक सम्बन्ध है, यह लेखक की परिस्थिति एवं विषय की प्रकृति पर निर्भर है कि कहाँ कौन-सा पक्ष अधिक उभर जाय। फिर भी इनमें शारीरिक पक्ष की अपेक्षा अंतिम तीन पक्षों का अधिक महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है।

शैली का दूसरा स्रोत विषय-वैशिष्ट्य है। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति विभिन्न व्यक्तियों से विभिन्न प्रकार का व्यवहार कर सकता है, वैसे ही एक ही लेखक विभिन्न

विषयों में विभिन्न प्रकार की शैलियाँ अपना सकता है। किन्तु कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने शैली को केवल व्यक्तित्व से ही सम्बद्ध घोषित करके इस स्रोत की बिल्कुल उपेक्षा कर दी, जो ठीक नहीं। हमने विषय-वस्तु के विभिन्न अवयवों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किन अवयवों की प्रमुखता होने पर शैली में कौन सी विशिष्टता आ सकती है। स्थूल रूप से हम विषय के छह अवयवों—दृश्य, पात्र, विचार, घटना, परिस्थिति एवं भाव—का सम्बन्ध क्रमशः छह प्रकार की शैलियों से स्थापित कर सकते हैं। वे ये हैं—वर्णनात्मक, चित्रणात्मक, विवेचनात्मक, विवरणात्मक, व्याख्यात्मक और भावात्मक। इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि जहाँ किसी लेखक की विषय-वस्तु में बाह्य दृश्यों की अधिकता होती है वहाँ उसकी शैली वर्णनात्मक हो जाती है जबकि विचारों की प्रमुखता होने पर विवेचनात्मक हो जाती है। यही बात अन्य शैलियों पर लागू होती है। सम्भवतः कुछ अन्य कारणों से इसके अपवाद मिल सकते हैं, किन्तु सामान्य रूप में यह स्वीकार किया जा सकता है कि शैलीगत वैशिष्ट्य में विषय का वैशिष्ट्य भी आंशिक रूप में योग देता है।

शैली का तीसरा स्रोत भाषा-वैशिष्ट्य है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने भाषा के दो रूप माने हैं—स्वभावोक्ति एवं अतिशयोक्ति। उनके विचार से साहित्य में अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति का ही प्रयोग होता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी साहित्य में सामान्य भाषा के स्थान पर विशिष्ट भाषा के प्रयोग का समर्थन किया है, यद्यपि इसका थोड़ा विरोध भी हुआ है। अतिशयोक्ति एवं विशिष्ट भाषा सम्बन्धी परम्परागत धारणाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि इसके अनुसार साहित्य की भाषा लोक-भाषा (या लोक व्यवहार की भाषा) से भिन्न या विशिष्ट होती है, किन्तु हम इस मत को स्वीकार नहीं कर सकते। साहित्य की भाषा में जो वैशिष्ट्य मिलता है, वह लोक व्यवहार की भाषा में भी प्राप्य है। 'हाय ! मर गया।' 'तुम्हारी चमड़ी उधेड़ दूँगा,' 'तुम तो ईद के चाँद हो गये हो !'—जैसे भावात्मक प्रयोगों में लाक्षणिकता, अलंकृति, बिम्ब-विधान आदि की वे सब विशेषताएँ मिलती हैं जो साहित्यिक भाषा के वैशिष्टय की द्योतक हैं। वस्तुतः साहित्य का भाषा-वैशिष्ट्य लोक-भाषा से पार्थक्य का नहीं, अपितु शास्त्र और विज्ञान की भाषा के पार्थक्य का सूचक है। विज्ञान में भाषा का सामान्य, अभिधात्मक, संतुलित एवं निश्चित रूप प्रयुक्त होता है जब कि साहित्य (तथा लोक-व्यवहार में भी) में उसका विशिष्ट, लाक्षणिक, व्यंग्यात्मक, असंतुलित एवं अनिश्चित रूप प्रयुक्त होता है—दोनों का यही अन्तर साहित्यिक शैली के वैशिष्टय का एक कारण है।

शैली का चौथा स्रोत पाठक का वैशिष्ट्य है। जिस प्रकार बातचीत में हम श्रोता के अनुकूल शब्दावली का व्यवहार करते हैं वैसे ही लेखन में पाठक की रुचि एवं उसके स्तर के अनुकूल शैली का प्रयोग करते हैं। यद्यपि लेखन-कार्य के सम्बन्ध में

लेखक और पाठक के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता किन्तु पाठक के स्तर की धारणा अप्रत्यक्ष रूप से लेखक के मन में विद्यमान रहती है जो उसके लेखन को एक सीमा तक नियंत्रित करती रहती है। विभिन्न वर्ग के पाठकों में भी पस्पर रुचि-भेद मिलता है, जैसे किसी वर्ग के पाठक सरल एवं स्वाभाविक शैली को पसन्द करते हैं तो किसी वर्ग के पाठक चमत्कार को अधिक महत्त्व देते हैं। पाठकों की इस पसन्द का उनसे सम्बन्धित लेखकों की शैली पर भी थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ना आवश्यक है। अतः पाठक के वैशिष्ट्य को भी शैलीगत वैशिष्ट्य का एक कारण माना जा सकता है—इसमें कोई संदेह नहीं।

(१०) **शैली सम्बन्धी परंपरागत सिद्धान्त**—परम्परागत साहित्य-शास्त्र में में भी शैली के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं—(क) भारतीय काव्य-शास्त्र में—(१) अलंकार (२) रीति या गुण (३) ध्वनि (४) वक्रोक्ति। (ख) पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में—(१) अलंकार (२) रीति या गुण (३) बिम्ब (४) प्रतीक। इनमें से प्रथम दो सिद्धान्त—अलंकार और रीति—दोनों क्षेत्रों में ही पाये जाते हैं, अतः इन्हें परस्पर समन्वित किया जा सकता है। ये सभी सिद्धान्त शैली के विभिन्न पक्षों एवं तत्त्वों की व्याख्या करते हैं किन्तु इनमें अनुचित क्षेत्र-विस्तार, पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता एवं भेदोपभेदों की जटिलता आदि की दूषित प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं। पर यदि इन्हें संशोधित रूप में अपनाया जाय तो ये शैली के अध्ययन में पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। अतः इन पर क्रमशः विचार किया जा सकता है।

(क) **अलंकार-सिद्धान्त**—अलंकार के स्वरूप का विवेचन करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों ने लगभग एक जैसे ही मत प्रस्तुत किये हैं। दोनों ही क्षेत्रों के आचार्यों ने अलंकार के तीन सामान्य लक्षण बताये हैं—(१) अलंकार वैचित्र्य-मूलक होते हैं। (२) ये शोभाकारक होते हैं। (३) ये अभिव्यंजना के विशिष्ट प्रकार हैं। इसी प्रकार अलंकारों के वर्गीकरण में भी दोनों क्षेत्रों के विद्वानों से गहरी समानता मिलती है—दोनों ही क्षेत्रों में अलंकारों के तीन प्रमुख वर्ग किये गये हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं उभयालंकार। अर्थालंकारों के वर्गीकरण में भारतीय विद्वानों ने अधिक सूक्ष्मता एवं वैज्ञानिकता का परिचय दिया है। उन्होंने मुख्यतः छह प्रकार के अर्थालंकार माने हैं—(१) सादृश्य-मूलक (२) विरोध-मूलक (३) शृंखला-मूलक (४) तर्क-न्याय-मूलक (५) वाक्य न्याय-मूलक और (६) गूढार्थ प्रतीति-मूलक। इन वर्गों में आने वाले सभी भारतीय एवं पाश्चात्य अलंकारों का विवेचन करने से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न अलंकारों के मूल में विभिन्न तत्त्व विद्यमान हैं। इस दृष्टि से सभी अलंकारों का सार इन दस तत्त्वों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—(१) आवृत्ति (शब्दा-लंकारों में) (२) अर्थ-वैचित्र्य (शब्दालंकारों में) (३) व्याकरण-वैचित्र्य (शब्दालंकारों में)

(४) अप्रस्तुत-योग (सादृश्य-मूलक अलंकारों में) (५) वक्रता या वैचित्र्य (विरोध-मूलक अलंकारों में) (६) क्रम-वैशिष्ट्य (शृंखला-मूलक अलंकारों में) (७) औचित्य (तर्क-न्याय-मूलक अलंकारों में) (८) वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य (वाक्य-न्याय-मूलक अलंकारों में) (९) स्वाभाविकता (लोक न्याय मूलक अलंकारों में) (१०) व्यंग्यात्मकता (गूढार्थ प्रतीति-मूलक अलंकारों में)। इन तत्त्वों में से कितने अलंकार के मूल क्षेत्र से सम्बद्ध हैं और कितने पड़ोसी सिद्धान्तों से अपहृत हैं—इसका निर्णय आगे किया जायगा।

अलंकार-प्रयोग के लक्ष्य एवं औचित्य के सम्बन्ध में भी विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य मतों का अनुशीलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकार-प्रयोग का लक्ष्य अंततः साहित्य की आकर्षण शक्ति को उद्दीप्त करना है तथा इस लक्ष्य की पूर्ति में वे जहाँ तक योग देते हैं, वहाँ तक उनका औचित्य स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा अपने-आप में अलंकारों का कोई महत्त्व नहीं है।

(ख) गुण (रीति) सिद्धान्त—गुणों की चर्चा भारतीय एवं पाश्चात्य—दोनों क्षेत्रों में हुई है। गुण की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि वे काव्य के ऐसे उत्कर्ष-साधक तत्त्व हैं जो मुख्य रूप से रस के एवं गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य-धर्म हैं। गुणों के स्वरूप, क्षेत्र एवं लक्ष्य का विशेष अध्ययन करने पर हमें ये निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं—(१) ये भाषा-शैली के सामान्य तत्त्व हैं जिनकी अपेक्षा न केवल साहित्यिक रचनाओं में अपितु वैज्ञानिक रचनाओं में भी होती है; जैसे, शुद्धता, स्पष्टता, संक्षिप्तता आदि गुणों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। (२) गुण रचना के किसी एक अवयव में या एक अंग में विद्यमान नहीं होते अपितु रचना-विशेष या लेखक-विशेष की सभी रचनाओं में सामान्य रूप से व्याप्त होते हैं। (३) भाषा के माध्यम से रची जाने वाली प्रायः सभी रचनाओं में गुणों की अपेक्षा होती है—इसीलिए इन्हें नित्य या स्थायी गुणों के रूप में स्वीकार किया गया है। (४) गुणों का लक्ष्य साहित्य को निर्दोष बना कर उसके मूल सौन्दर्य की रक्षा करना है, वे सौन्दर्य के उत्पादक या जनक नहीं माने जा सकते।

इस प्रकार हमारे विश्लेषण के अनुसार गुणों को भाषा के सामान्य तत्त्वों के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है, साहित्यिक तत्त्वों के रूप में नहीं। आचार्य वामन ने इन्हें आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है। गुणों की संख्या में भी अनावश्यक रूप में अभिवृद्धि की गई है। विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य धारणाओं के विश्लेषण के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुणों की श्रेणी में केवल तीन ही तत्त्व आते हैं—शुद्धता, स्पष्टता और संक्षिप्तता। ओज, माधुर्य आदि तत्त्वों को भी गुण रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु उनका भाषा एवं साहित्य से तथाकथित नित्य सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त वे साहित्य की अपेक्षा संगीत से अधिक सम्बन्धित है। अतः अनेक कारणों से इन्हें गुणों के रूप में मान्यता नहीं दी जा

सकती। इसी प्रकार गुणों के वैपरीत्य को दोष कहा गया है; अतः गुणों के अनुसार उनका भी समन्वय एवं संशोधन करते हुये केवल तीन ही दोषों—अशुद्धता, अस्पष्टता एवं शिथिलता—को स्वीकार किया जा सकता है।

अस्तु, गुण-सिद्धान्त के अनेक स्वतोव्याघात दोषों एवं पारस्परिक असंगतियों का निराकरण करते हुए हमने उसे भाषा-शैली के एक ऐसे सामान्य—एवं प्रारंभिक—सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है जिसका सम्बन्ध भाषा के माध्यम से रची जाने वाली प्रत्येक रचना से है—चाहे वह साहित्य की हो या विज्ञान की। गुणों की यह विशिष्टता जहाँ उन्हें नित्यता एवं स्थायित्व प्रदान करती है वहाँ यह उनके विशुद्ध साहित्यिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित होने में बाधा भी उपस्थित करती है।

(ग) **शब्द-शक्तियाँ और ध्वनि**—ध्वनि सिद्धान्त शब्द-शक्तियों पर आधारित है, अतः इसे समझने के लिए पहले शब्द-शक्तियों का अनुशीलन कर लेना आवश्यक है। शब्द अपनी जिस शक्ति से अर्थ सूचित करने का कार्य संपादित करते हैं, उसे ही शब्द-शक्ति कहते हैं। शब्द-शक्ति के मुख्यतः तीन प्रकार माने गये हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। शब्द के सामन्य प्रचलित अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति को अभिधा शक्ति कहते हैं। अभिधा के विभिन्न तत्त्वों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि इसके द्वारा सूच्य अर्थ मुख्यतः परंपरा या रूढ़ि पर आधारित होता है। लक्षणा शक्ति की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो वही लक्षणा है। इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर लक्षणा के तीन लक्षण स्पष्ट होते हैं—(१) वाच्यार्थ या मुख्यार्थ की बाधा। (२) लक्ष्यार्थ का वाच्यार्थ से सम्बन्धित होना। (३) लक्षणा के पीछे किसी रूढ़ि या विशेष प्रयोजन की प्रेरणा का होना। इन लक्षणों का और अधिक विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि लक्षणा में कुछ शब्दों या वाक्यांशों की न्यूनता के कारण ही मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होती है, यदि इन अंशों को जोड़ दें तो लक्षणा अभिधा में परिवर्तित हो सकती है। उदाहरण के लिए, 'पंजाब वीर है' के स्थान पर 'पंजाब के लोग वीर हैं' कह दें तो पहला लाक्षणिक प्रयोग अभिधात्मक कथन में परिवर्तित हो जायगा। दूसरे, लक्षणा किसी सर्वथा नवीन अर्थ को जन्म नहीं देती, वह अभिधात्मक अर्थ में ही थोड़ा परिवर्तन प्रस्तुत करती है, इसीलिए लक्ष्यार्थ का वाच्यार्थ से न्यूनाधिक सम्बन्ध सदा बना रहता है—यदि यह सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न हो जाय तो उस स्थिति में वह लक्षणा न रहकर व्यंजना हो जायगी। लक्षणा का लक्ष्य सदा केवल अर्थ को सूचित करना ही नहीं अपितु उस पर विशेष बल देना होता है, इसी को प्राचीन आचार्यों ने 'विशेष प्रयोजन' कहा है। पर यह विचित्र बात है कि 'विशेष प्रयोजन' के साथ-साथ 'रूढ़ि' को भी लक्षणा का आधार स्वीकार कर लिया गया है जबकि हमारे विश्लेषण के अनुसार यह ठीक नहीं। रूढि पर आधारित प्रयोग अभिधा के क्षेत्र में आते हैं,

लक्षणा के क्षेत्र में नहीं, किन्तु लक्षणावादियों ने लक्षणा के क्षेत्र में अभिधा और व्यंजना को भी समाविष्ट करने के लिए लक्षणा के कुछ ऐसे भेदोपभेदों की कल्पना की है जो लक्षणा के मूल लक्षणों के प्रतिकूल पड़ते हैं। एक ओर रूढि लक्षणा ऐसा ही भेद है तो दूसरी ओर लक्षण-लक्षणा एवं सारोपा लक्षणा जैसे भेद हैं। रूढि लक्षणा में रूढि के कारण लाक्षणिकता का अभाव रहता है तो लक्षण-लक्षणा में लक्ष्यार्थ को वाच्यार्थ से सर्वथा असम्बद्ध माना गया है जबकि लक्षणा की परिभाषा के अनुसार दोनों का संबद्ध होना आवश्यक है। इसी प्रकार सारोपा लक्षणा में भी उपमेय और उपमान—दोनों की उपस्थिति के कारण मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित नहीं होती जब कि लक्षणा के लिए यह एक आवश्यक शर्त्त है। वस्तुतः लक्षणावादी लक्षणा के भेदोपभेदों का विस्तार करते समय लक्षणा के मूल लक्षणों को ही भुला बैठे। अस्तु, हमने इस प्रकार के असंगत भेदोपभेदों का बहिष्कार करते हुए केवल चार भेदों को ही संशोधित रूप में स्वीकार किया है—(१) गौणी लक्षणा (२) शुद्ध लक्षणा (३) उपादान लक्षणा (४) लक्षण-लक्षणा। ये चारों भेद वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के पारस्परिक सम्बन्धों के विभिन्न प्रकारों को सूचित करते हैं। गौणी दोनों के सादृश्य सम्बन्ध को, शुद्धा दोनों के सामीप्य, आधाराधेय एवं तात्कर्म्य सम्बन्ध को, उपादान दोनों के सम्बन्ध की घनिष्ठता को और लक्षण-लक्षणा दोनों के सम्बन्ध की दूरी को सूचित करती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ की असम्बद्धता को तथा दोनों की सम्बद्धता को क्रमशः लक्षण-लक्षणा एवं उपादान लक्षणा की आधारभूत विशेषताओं के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु जैसा कि हम ऊपर निवेदन कर चुके हैं, यह स्वीकृति लक्षण-लक्षणा को लक्षणा के क्षेत्र से बहिष्कृत कर देती है, अतः हमने दोनों के लक्षणों में संशोधन करते हुए उपादान लक्षणा में वाक्यार्थ और लक्ष्यार्थ का घनिष्ठ सम्बन्ध एवं लक्षण लक्षणा में दूर का सम्बन्ध (सम्बन्ध का सर्वथा अभाव नहीं) माना है। अस्तु, लक्षणा के ये स्वीकृत भेद वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के ही पारस्परिक सम्बन्धों के विभिन्न स्तरों एवं रूपों के अनुमापक हैं अन्यथा इनकी कोई उपयोगिता नहीं है।

तीसरी प्रमुख शब्द-शक्ति व्यंजना है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने व्यंजना की परिभाषा बड़े अस्पष्ट रूप में की है। विभिन्न आचार्यों ने इसकी अभाव वादी (Negative) परिभाषा करते हुए प्रायः यही कहा है कि जो अर्थ अभिधा एवं लक्षणा से व्यक्त नहीं होता, उस अर्थ को (या वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ को) व्यक्त करने वाली शक्ति व्यंजना है। इससे यह तो ज्ञात होता है कि जो अभिधा और लक्षणा नहीं है, वह व्यंजना है, पर स्वयं व्यंजना क्या है—उसकी स्वतंत्र विशेषताएँ क्या हैं?—इसका स्पष्टीकरण उपलब्ध परिभाषाओं से नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि हम व्यंजना की भाववादी (Positive) परिभाषा प्रस्तुत करें। व्यंजना का तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेषण करने पर उसकी तीन विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

(१) अभिधा में जहाँ एक साथ एक अर्थ विद्यमान रहता है तथा लक्षणा में एक अर्थ अन्य अर्थ में परिवर्तित हो जाता है, वहाँ व्यंजना में एक साथ दो या दो से अधिक अर्थ विद्यमान रहते हैं। (२) लक्षणा में लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से ही सम्बन्धित या उसी का परिवर्तित रूप होता है जबकि व्यंजना में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से सम्बन्धित या परिवर्तित न होकर स्वतन्त्र रूप में विद्यमान रहता है। (३) जहाँ अभिधा अलग-अलग शब्दों में सक्रिय रहती है, लक्षणा वाक्यों में सक्रिय हो पाती है वहाँ व्यंजना प्रसंग (या वाक्य-समूहों) में ही सक्रिय होती है ; अतः वह प्रसंग पर आश्रित होती है। इन तीनों विशेषताओं का समन्वय करते हुए कहा जा सकता है कि व्यंजना भाषा की वह शक्ति है जिसके कारण किसी प्रकरण या प्रसंग-विशेष में एक साथ अनेक स्वतन्त्र अर्थों की सत्ता विद्यमान रहती है।

व्यंजना के भेदोपभेदों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि व्यंजनावादियों ने भी इस क्षेत्र में लक्षणावादियों का अनुकरण करते हुए ऐसे भेदों की कल्पना की है जो व्यंजना के मूल स्वरूप के प्रतिकूल पड़ते हैं। जिस प्रकार लक्षणावादियों ने अभिधा और व्यंजना को लक्षणा से पृथक स्थान देना उचित नहीं समझा उसी प्रकार व्यंजनावादियों ने भी अन्य शक्तियों का समाहार अपने ही क्षेत्र में कर लेने का प्रयास किया है। ऐसा करते समय वे व्यंजना की मूल परिभाषा एवं अपने अधिकार क्षेत्र को भी भूल गये। उदाहरण के लिए व्यंजना के दो भेदों—शाब्दी व्यंजना एवं आर्थी व्यंजना तथा शाब्दी व्यंजना के दो भेदों—अभिधामूला एवं लक्षणामूला—पर दृष्टिपात करें। इन भेदों के लक्षणों एवं उदाहरणों का विश्लेषण करने पर यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि इन भेदोपभेदों में आर्थी व्यंजना को छोड़कर शेष सभी या तो अभिधात्मक प्रयोग आते हैं या लाक्षणिक; व्यंजना का सम्बन्ध उनसे नहीं है। यदि इन भेदों को स्वीकार कर लिया जाय तो व्यंजना का क्षेत्र इतना व्यापक हो जायगा कि सभी अनेकार्थक शब्द, श्लिष्ट पद, व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ, लाक्षणिक प्रयोग उसमें समाविष्ट हो जायेंगे। वस्तुतः व्यंजना के ये भेदोपभेद अनावश्यक एवं असंगत हैं।

उपर्युक्त शब्द-शक्तियों के पारस्परिक अन्तर को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम उनके अर्थ के स्रोत, अर्थ की प्रकृति, अर्थ की संख्या, कार्य-क्षेत्र, आकर्षण-भेद, एवं प्रभाव की गंभीरता की दृष्टि से उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर सकते हैं। इससे अनेक विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। अर्थ के स्रोत की दृष्टि से अभिधा का सम्बन्ध परंपरा, से, लक्षणा का भावातिरेक जन्य प्रयोग से और व्यंजना का बुद्धि-नियंत्रित भावात्मक प्रयोग से है। अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से अभिधा को सामान्य, स्थिर एवं निश्चित कहा जा सकता है जबकि लक्षणा और व्यंजना विशिष्टि, अस्थिर एवं अनिश्चित अर्थ को सूचित करती हैं। सूच्य अर्थों की संख्या की दृष्टि से अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का अनुपात क्रमशः एक, डेढ़ एवं दो माना जा सकता है। कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से अभिधा का क्षेत्र शब्द है, लक्षणा का वाक्य एवं व्यंजना का प्रसंग है। अभिधा

में द्रव्यगत (ऐन्द्रिक) आकर्षण रहता है जबकि लक्षण और व्यंजना में शैलीजन्य भावात्मक एवं बौद्धिक आकर्षण की सत्ता रहती है। प्रभाव की दृष्टि से अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का महत्त्व उत्तरोत्तर अधिक है। अस्तु, संक्षेप में इन्हीं आधारों पर शब्द-शक्तियों के अन्तर को हृदयंगम किया जा सकता है।

(घ) **ध्वनि-सिद्धान्त**—ध्वनि की परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उसका सम्बन्ध 'प्रतीयमान' अर्थ से है। 'प्रतीयमान अर्थ, वस्तुतः 'व्यंग्यार्थ' का पर्यायवाची है। अस्तु, व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य ही ध्वनि है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या ध्वनि-काव्य में वाच्यार्थ का कोई महत्त्व नहीं? क्या ध्वनि के सौन्दर्य में वाच्यार्थ का कोई योग-दान नहीं रहता? इस सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी मत मिलते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वाच्यार्थ में ही सौन्दर्य का निवास माना है जबकि डा० नगेन्द्र ने इस मत का खंडन करते हुए व्यंग्यार्थ में सौन्दर्य की सत्ता सिद्ध की है। हमारे विश्लेषण के अनुसार ये दोनों ही मत अतिवादिता पर आश्रित हैं। सौन्दर्य का निवास न तो वाच्यार्थहीन व्यंगार्थ में होता है और न ही व्यंग्यार्थशून्य वाच्यार्थ में—वस्तुतः दोनों की सह-स्थिति से ही सौन्दर्य का आविर्भाव होता है। ऐसी स्थिति में किसी भी एक को इसका श्रेय नहीं दिया जा सकता। आकर्षण सिद्धान्त के अनुसार एक ही स्तर के दो विरोधी तत्त्वों का संपर्क या संयोजन ही आकर्षण शक्ति का उद्दीपक होता है, यही नियम यहाँ लागू होता है। अतः ध्वनि के सौन्दर्य का श्रेय भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के सम्पर्क या साहचर्य को ही दिया जा सकता है—किसी एक को नहीं।

ध्वनि के भेदोपभेदों में वे सारी असंगतियाँ विद्यमान हैं जो व्यंजना के भेदों में मिलती है। इस सम्बन्ध में हम यहाँ अधिक विस्तार में न पड़कर केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझेंगे कि ध्वनि के प्रायः सभी भेद—अभिधामूला, लक्षणामूला, असंलक्ष्य-क्रम, संलक्ष्य-क्रम, रसध्वनि, अलंकार-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि आदि—अनावश्यक, असंगत एवं भ्रामक हैं। ध्वनिवादियों ने ऐसे-ऐसे भेदों की कल्पना की है जिनसे काव्य की प्रत्येक उक्ति पर ध्वनि का लेबिल लगाया जा सके। अवश्य ही वे ऐसा करने में सफल हो गये हैं, पर साथ ही ध्वनि का रूप विकृत एवं आकर्षणहीन भी हो गया है। ध्वनि के परंपरागत भेदों को स्वीकार किया जाय तो न केवल साहित्य अपितु इतिहास, दर्शन, विज्ञान और लोक-व्यवहार की प्रत्येक उक्ति को ध्वनि के किसी न किसी भेद में स्थान दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए—"भारत में चालीस करोड़ लोग रहते हैं।" "आज रविवार है।" "कल गेहूँ बीस रुपये मन था, आज बाईस रुपये मन" आदि वाक्य भी वस्तु-ध्वनि के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं क्योंकि इनमें क्रमशः भारत की महानता, आज छुट्टी है, महँगाई बढ़ रही है आदि तथ्यों की व्यंजना मानी जा सकती है। वस्तुतः ध्वनि के इन भेदों को स्वीकार कर लेने पर सब कुछ ध्वनि में आ जाता है जो ठीक नहीं।

(ङ) **वक्रोक्ति सिद्धान्त**—वक्रोक्ति का शाब्दिक अर्थ है—वह उक्ति जिसमें

वक्रता हो । वक्रोक्ति का मूल सौन्दर्य वक्रता या वैचित्र्य में ही मानते हुए इसे स्वभावोक्ति के विपरीत माना गया है । आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के भेदोपभेद करते हुए उसे एक ऐसा व्यापक रूप प्रदान किया है जिससे वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध-कौशल तक सभी प्रकार का काव्य-वैशिष्टय इसमें समाविष्ट हो जाता है । जिन्हें अलंकार वादी अनुप्रास, यमक आदि की संज्ञा देते हैं वे कुन्तक के यहाँ 'वर्ण-वक्रता' के नाम से पुकारे जाते हैं । इसी प्रकार अर्थालंकार वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत आ जाते हैं । ध्वनि या व्यंग्य-प्रधान काव्य को वक्रोक्तिवादी प्रकरण-वक्रता का नाम दे देते हैं । कथावस्तु, भावाभिव्यक्ति एवं रस-योजना से सम्बन्धित विभिन्न विशेषताएँ प्रबन्ध-वक्रता में आ जाती हैं । अस्तु, वक्रोक्तिवाद में 'वक्रता' के अन्तर्गत सभी प्रकार की काव्य-विशेषताओं का समाहार कर लिया गया है । वक्रोक्ति के इस व्यापक रूप को स्वीकार करने का अर्थ है अन्य सभी सिद्धान्तों के अस्तित्व को अस्वीकार करना । साथ ही इससे वक्रोक्ति का रूप इतना अमर्यादित एवं अनिश्चित हो जाता है कि उसका स्वभावोक्ति से भी पार्थक्य स्पष्ट करना कठिन हो जाता है, अतः इसे हम स्वीकार नहीं कर सकते । हाँ, इसे मर्यादित रूप में अवश्य स्वीकार किया जा सकता है—इस सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा ।

(च) **बिम्ब-सिद्धान्त**—बिम्ब या इमेज (Image) की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि शब्दों के माध्यम से निर्मित चित्र ही बिम्ब हैं । इस परिभाषा को तथ्य रूप में स्वीकार करना कठिन है क्योंकि चित्र सदा रेखाओं के—शब्दों के नहीं—माध्यम से ही निर्मित होते हैं । वस्तुतः यहाँ 'चित्र' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक रूप में किया गया है जिसका वास्तविक अर्थ है वस्तुओं के रूप-रंगादि का ऐसा विवरण जिसके पढ़ने या सुनने से (चित्र की भाँति देखने से नहीं) हमारे मानसिक बिम्ब उदित या तरंगित हो सके । साहित्यिक बिम्ब की सामान्यतः पाँच विशेषताएँ मानी जाती हैं—(१) चित्रात्मकता—इसका आख्यान ऊपर हो चुका है । (२) शब्द-रूपात्मकता (३) ऐन्द्रिकता—इन्द्रियों को प्रभावित करने की क्षमता (४) भावोत्पादकता (५) अप्रस्तुत के सन्निवेश या आरोपण का अभाव । इस प्रकार बिम्ब प्रस्तुत विषय के ऐसे ऐन्द्रिक गुणों पर बल देता है जिनकी चर्चा से पाठक के भावों का उद्वेलन हो ।

बिम्बों के वर्गीकरण के भी अनेक प्रयास किये गये हैं ; किन्तु इन्हें हम सफल नहीं मान सकते । बिम्बों के ऐसे भेदों की भी चर्चा की गई है जो बिम्बात्मकता के प्रतिकूल पड़ते हैं ; उदाहरण के लिए 'Abstract Image को लीजिए । बिम्ब का लक्ष्य ही सूक्ष्म तथ्यों को मूर्त्त रूप में प्रस्तुत करना है, ऐसी स्थिति में बिम्बात्मकता शून्य बिम्बों की कल्पना ही अपने-आपमें हास्यास्पद है । बिम्ब के कुछ भेदों में उपमा रूपक एवं प्रतीक को भी घुला-मिला दिया है, जो ठीक नहीं । वस्तुतः बिम्ब और

अलंकार में परस्पर गहरा अन्तर है। बिम्ब-विधान का क्षेत्र प्रस्तुत विषय या उपमेय तक ही सीमित रहता है जबकि अलंकारों में अप्रस्तुत विषय या उपमानों का भी समावेश किया जाता है। बिम्ब सदा ऐन्द्रिक प्रभाव को ही आकर्षण का साधन बनाता है जबकि अलंकार में बौद्धिक चमत्कार का भी आश्रय लिया जा सकता है। बिम्बों का सम्बन्ध सामान्यतः रूप की अनुभूति से होता है जबकि अलंकार सूक्ष्म भावों और विचारों को भी प्रेषित कर सकते हैं। बिम्ब स्वभावोक्ति का मार्ग अपनाता है जबकि अलंकार अतिशयोक्ति पर आधारित होते हैं। अतः बिम्ब और अलंकार को एक ही मान लेना भ्रान्तिपूर्ण है। इसी प्रकार बिम्ब और प्रतीक में भी गहरा अन्तर है; बिम्ब प्रस्तुत से सम्बद्ध, एकार्थक, चित्रात्मक एवं स्वाभाविकता युक्त होते हैं जबकि प्रतीक में अप्रस्तुत का आरोपण, अनेकार्थकता, बौद्धिकता एवं चमत्कारिता होती है। वस्तुतः अन्य सिद्धान्तों के अनुयायियों की भाँति बिम्बवादियों ने भी अपने भेदोपभेदों के बहाने क्षेत्र-विस्तार की प्रवृत्ति में पड़कर ऐसे तत्त्वों पर अधिकार करने का प्रयास किया है जो मूलतः बिम्ब के मूल क्षेत्र से बहुत दूर पड़ते हैं। हम इस प्रयास को मान्यता नहीं दे सकते।

(छ) **प्रतीक सिद्धान्त**—'प्रतीक' का सामान्य अर्थ होता है—वह संकेत-चिह्न जिसका प्रयोग किसी अन्य संकेत-चिह्न या अर्थ के स्थान पर (उसके प्रतिनिधि के रूप में) होता है। साहित्यिक प्रतीक के भी सामान्यतः ये तीन लक्षण स्वीकार किये जा सकते हैं—(१) शब्द (संकेत-चिन्ह) का विशिष्ट अर्थ में प्रयोग (२) अनेकार्थकता (३) अप्रत्यक्ष या विशिष्ट अर्थ की प्रत्यक्ष एवं सामान्य अर्थ से अधिक महत्ता। इस दृष्टि से शब्दों के सामान्य प्रयोग एवं प्रतीकात्मक प्रयोग में गहरा अन्तर है किन्तु कुछ प्रतीकवादियों ने प्रत्येक शब्द को प्रतीक घोषित किया है। किन्तु यदि दोनों की तुलना की जाय तो उनमें कई प्रकार का अन्तर स्पष्ट रूप में परिलक्षित होगा। एक तो सामान्य शब्द का अर्थ (श्लिष्ट पदों को छोड़कर) सामान्यतः एक ही होता है जबकि प्रतीक में अनेकार्थकता होती है। दूसरे, सामान्य शब्द का अर्थ प्रसंग पर आधारित नहीं रहता जबकि प्रतीक में ऐसा होता है। तीसरे, सामान्य शब्द का अर्थ परम्परा से विकसित होता है जबकि प्रतीक में अर्थ का आरोपण होता है। अस्तु, प्रत्येक शब्द को प्रतीक मानना किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं कहा जा सकता। यह दूसरी बात है कि प्रतीक भी रूढ होजाने पर प्रतीकात्मकता से शून्य होकर सामान्य शब्दों की भाँति संकेत-चिन्हों में परिणत हो जाते हैं।

प्रतीकों के वर्गीकरण के भी कई प्रयास किये गये हैं, जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास श्री अरबन महोदय का है। उन्होंने प्रतीकों के तीन वर्ग निर्धारित किये हैं—(१) संकेतात्मक (२) अभिव्यंजनात्मक और (३) आरोपमूलक। इन वर्गों को भारतीय शब्द-शक्तियों की दृष्टि से क्रमशः अभिधात्मकता, लाक्षणिकता एवं

व्यंग्यात्मकता से युक्त माना जा सकता है। हमारे विचार से इनमें तीसरा वर्ग ही प्रतीकों के वास्तविक रूप का प्रतिनिधित्व करता है।

कुछ विद्वानों ने प्रतीक और रूपक को भी एक माना है, किन्तु इनमें सूक्ष्म अन्तर है। प्रतीकों में जहाँ अप्रस्तुत का ही उल्लेख रहता है वहाँ रूपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का कथन होता है—अतः दोनों को एक नहीं माना जा सकता। हाँ, भारतीय अलंकारों में से रूपकातिशयोक्ति को अवश्य प्रतीक के अनुरूप कहा जा सकता है।

प्रतीक-योजना का लक्ष्य साहित्य में मूलतः कथ्य को आकर्षक रूप प्रदान करना होता है जबकि विज्ञान में केवल कथ्य को स्पष्ट करना ही होता है। साहित्यिक प्रतीकों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में से एक पक्ष का सम्बन्ध तथ्य या विचार से तथा दूसरे का भाव एवं अनुभूति से रहता है जबकि वैज्ञानिक विषयों में प्रयुक्त प्रतीकों में ऐसा नहीं होता—उनमें दोनों पक्ष ही प्रायः विचारात्मक होते हैं। इसी से इनके प्रभाव में अन्तर आ जाता है।

परंपरागत तत्त्वों का विश्लेषण—इस प्रकार शैली सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों के विश्लेषण से इन तत्त्वों की उपलब्धि होती है—

(क) अलंकार-सिद्धान्त से—(१) आवृत्ति (२) श्लेष (३) व्याकरण-वैचित्र्य (४) अप्रस्तुत-योग (५) वक्रता या वैचित्र्य (६) क्रम-वैशिष्ट्य (७) औचित्य (८) वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य (९) स्वाभाविकता (१०) व्यंग्यात्मकता।

(ख) गुण-सिद्धान्त से—(१) शुद्धता (२) स्पष्टता (३) संक्षिप्तता।

(ग) शब्द-शक्ति एवं ध्वनि सिद्धान्त से—(१) लाक्षणिकता (२) व्यंग्यात्मकता।

(घ) वक्रोक्ति सिद्धान्त से—वक्रता या उक्ति-वैचित्र्य।

(ङ) बिम्ब-सिद्धान्त से—बिम्बात्मकता।

(च) प्रतीक सिद्धान्त से—प्रतीकात्मकता।

इन सभी तत्त्वों को भाषा के विभिन्न पक्षों के आधार पर इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

(क) भाषा के नाद-पक्ष से सम्बन्धित तत्त्व—आवृत्ति।

(ख) भाषा के रूप-पक्ष से सम्बन्धित तत्त्व—शुद्धता, संक्षिप्तता, क्रम-बद्धता, व्याकरण-वैचित्र्य, वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य।

(ग) भाषा के अर्थ-पक्ष से सम्बन्धित तत्त्व—(अ) अभिधा से सम्बन्धित—स्पष्टता, स्वाभाविकता, औचित्य, बिम्बात्मकता, अप्रस्तुत-योग। (अ) लक्षणा-शक्ति से सम्बन्धित—वक्रता, लाक्षणिकता, उक्ति-वैचित्र्य। (इ) व्यजना-शक्ति से सम्बन्धित—श्लेष, प्रतीक, ध्वनि।

उपर्युक्त तत्त्वों का साहित्यिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष

पर पहुँचते हैं कि इनमें से विशुद्ध साहित्यिक तत्त्व ये आठ ही हैं—(१) आवृत्ति (२) वैचित्र्य (३) बिम्बात्मकता (४) अप्रस्तुत-योग (५) वक्रता (६) श्लेष (७) प्रतीक (८) व्यंग्यात्मकता या ध्वनि। शेष तत्त्व या तो विजातीय होने के कारण त्याज्य हैं या उनका समन्वय इन्हीं तत्त्वों में हो जाता है।

(११) **परंपरागत सिद्धान्तों का संशोधन**—परंपरागत सिद्धान्तों के अध्ययन एवं उनसे उपलब्ध तत्त्वों के विश्लेषण से उनकी तीन दूषित प्रवृत्तियों पर स्पष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है—(१) प्रत्येक सिद्धान्त मूलतः किसी एक तत्त्व को लेकर चलता है किन्तु आगे चलकर वह ऐसे तत्त्वों पर भी अधिकार कर लेता है जो किसी अन्य सिद्धान्त से सम्बद्ध है। (२) प्रत्येक सिद्धान्त में भेदोपभेदों की प्रवृत्ति अनावश्यक रूप में मिलती है। (३) एक सिद्धान्त दूसरे सिद्धान्त की उपलब्धियों को स्वीकार करता हुआ आगे नहीं बढ़ता, अपितु वह पूर्ववर्ती सिद्धान्तों का प्रतिद्वन्द्वी या स्थानापन्न होने का प्रयास करता है। इन प्रवृत्तियों के कारण एक ही तत्त्व पर अनेक सिद्धान्तों का अधिकार हो गया है जिससे सभी सिद्धान्त परस्पर घुल-मिलकर अस्पष्ट, अनिश्चित, एवं अप्रामाणिक हो गये हैं। उदाहरण के लिए बिहारी के 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु ·····' दोहे को लीजिए। इसमें अलंकारवादी अन्योक्ति अलंकार की सत्ता सिद्ध करेगा तो ध्वनिवादी इसे ध्वनि का उदाहरण सिद्ध करेगा तथा प्रतीकवादी, बिम्बवादी आदि भी इसे क्रमशः प्रतीकात्मकता एवं बिम्बात्मकता से युक्त मानेंगे। ऐसी स्थिति में हम किस सिद्धान्त की बात स्वीकार करें, यह समस्या है। एक ही तत्त्व को भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों द्वारा विभिन्न संज्ञाएँ प्रदान कर देने के कारण परंपरागत साहित्य-शास्त्र में इतनी अनिश्चितता एवं अव्यवस्था आगई है कि उसे व्यवहार में लाना कठिन हो गया है। ऐसी स्थिति में हमें उसे संशोधित करते हुए एक ऐसा रूप देने का प्रयास करना चाहिए कि जिससे प्रत्येक सिद्धान्त का क्षेत्र मर्यादित, उसके तत्त्व निश्चित एवं उसके भेदोपभेद सीमित हो सकें। इसी लक्ष्य को सामने रखकर विभिन्न सिद्धान्तों का पुनराख्यान करते हुए हमने उनके सम्बन्ध में अनेक संशोधन प्रस्तुत किये हैं, जो संक्षेप में ये हैं—

(१) **अलंकार-सिद्धान्त**—अलंकार-सिद्धान्त में इतने अधिक तत्त्वों को स्थान दिया गया है कि जिससे इसके क्षेत्र में वक्रोक्ति, प्रतीक, ध्वनि आदि प्रायः सभी सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। उदाहरण के लिए विरोधमूलक अलंकारों में वक्रोक्ति का तथा गूढ़ार्थ-प्रतीतिमूलक अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाता है, पर वस्तुतः अलंकार का सम्बन्ध केवल एक ही तत्त्व—अप्रस्तुत-योग—से है। जहाँ प्रस्तुत के अलंकरण के लिए अप्रस्तुत का योग होता है वहीं अलंकार की सत्ता मानी जा सकती है। इस दृष्टि से अलंकार का वक्रोक्ति, बिम्ब, प्रतीक, ध्वनि से गहरा अन्तर है। वक्रोक्ति और बिम्ब में तो अप्रस्तुत का समावेश ही नहीं होता तथा प्रतीक और ध्वनि में प्रस्तुत का समावेश या उल्लेख प्रत्यक्ष रूप में नहीं होता जबकि

अलंकार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों की सत्ता प्रत्यक्ष रूप में रहती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम अलंकार के उन सब भेदोपभेदों का बहिष्कार कर सकते हैं जिनमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों की सत्ता प्रत्यक्ष नहीं रहती। ऐसा करने पर केवल सादृश्यमूलक अलंकार ही विशुद्ध अलंकार सिद्ध होते हैं। शेष अलंकार आधारभूत तत्त्वों की दृष्टि से अलंकार की सीमा से बाहर पड़ते हैं, अतः वे त्याज्य हैं।

(२) **वक्रोक्ति**—वक्रोक्ति के स्वरूप का विश्लेषण करने पर उसकी तीन सीमाएँ स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती हैं। एक तो वह द्रव्यगत वैशिष्ट्य पर आधारित न होकर रूपगत वैशिष्ट्य या परिवर्तन पर आधारित होती है; यह सीमा उसे अलंकार सिद्धान्त से पृथक करती है। दूसरे, वक्रोक्ति वैषम्यमूलक होती है; यह सीमा उसे स्वभावोक्ति और बिम्ब-विधान से पृथक करती है। तीसरे, वक्रोक्ति लक्षणामूलक होती है। यह सीमा उसे व्यंजनामूलक तत्त्वों—व्यंग्योक्ति, प्रतीक, ध्वनि आदि—से पृथक करती है। वक्रोक्ति के भेदोपभेदों में से भी अधिकांश वक्रोक्ति के मूल स्वरूप के प्रतिकूल एवं उसके क्षेत्र से असंबद्ध सिद्ध होते हैं, अतः वे त्याज्य हैं। उपर्युक्त सीमाओं की दृष्टि से वक्रोक्ति के वास्तविक क्षेत्र में केवल दो ही भेद—पद-वक्रता एवं वाक्य-वक्रता आते हैं, शेष भेद अन्य सिद्धान्तों के क्षेत्र से सम्बद्ध हैं।

(३) **ध्वनि सिद्धान्त**—'ध्वनि' संज्ञा से यह भ्रम होता है कि इसका सम्बन्ध भाषा के नाद (Sound) पक्ष से होगा जबकि यह सिद्धान्त अर्थ-शक्तियों पर आधारित है। वस्तुतः व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य को ही ध्वनि कहते हैं, अतः इसका नामकरण 'व्यंग्य-प्रधान' भी किया जा सकता है। 'गुणीभूत व्यंग्य' की तुलना में भी यह नाम उपयुक्त है।

ध्वनि या व्यंग्य-प्रधान काव्य की सामान्यतः तीन सीमाएँ मानी जा सकती हैं—(क) ध्वनि का आधार कथ्य नहीं अपितु कथन-विधि है। (ख) ध्वनि का सम्बन्ध केवल व्यंजना से है, अभिधा और लक्षणा से नहीं। (ग) ध्वनि की व्याप्ति पूरे प्रसंग में रहती है। इन सीमाओं को ध्यान में रखते हुये ध्वनि के विभिन्न भेदों में से अधिकांश का बहिष्कार करना होगा। हमारे विश्लेषण के अनुसार ध्वनि के केवल दो ही रूप या भेद पर्याप्त हैं—(१) व्यंग्य-प्रधान और (२) गुणीभूत व्यंग्य।

(४) **बिम्ब-सिद्धान्त**—बिम्ब के विश्लेषण से उनकी तीन विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—पहली, बिम्ब एक ऐसा शाब्दिक विवरण है जो हमारे मानस-बिम्बों को उदित करता है। दूसरी, बिम्ब में ऐन्द्रिक गुणों का उल्लेख रहता है। तीसरी, बिम्ब में अभिधा-शक्ति ही सक्रिय रहती है। इस दृष्टि से बिम्ब के विभिन्न प्रचलित भेदोपभेद त्याज्य सिद्ध होते हैं।

(५) **प्रतीक सिद्धान्त**—प्रतीक में एक साथ दो अर्थ विद्यमान रहते हैं तथा दूसरा अर्थ आरोपित होता है। प्रतीकों के भी विभिन्न भेद बताये गये हैं जो अनावश्यक सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त संशोधनों के अनुसार परंपरागत सिद्धान्तों के क्षेत्र का निर्धारण एवं उनके आधारभूत तत्त्वों का निर्णय इस प्रकार होता है—

	क्षेत्र	तत्त्व
१. अलंकार सिद्धान्त→	भाषा का अर्थ-पक्ष (केवल अभिधा शक्ति तक)	अप्रस्तुत-योग
२. वक्रोक्ति सिद्धान्त→	भाषा की लक्षणा शक्ति	वक्रता
३. ध्वनि सिद्धान्त →	भाषा की व्यंजना शक्ति	व्यंग्यात्मकता
४. बिम्ब सिद्धान्त →	भाषा की अभिधा-शक्ति	स्वाभाविक ऐन्द्रिक गुण
५. प्रतीक सिद्धान्त →	भाषा की व्यंजना शक्ति	प्रतीकात्मकता

शेष सिद्धान्तों का सम्बन्ध साहित्य की अपेक्षा अन्य विषयों से अधिक होने के कारण उन्हें त्याग दिया गया है।

शैली और आकर्षण सिद्धान्त—आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त की दृष्टि से शैली का लक्ष्य द्रव्य में निहित शक्ति को उद्दीप्त करना है। द्रव्य की शक्ति को उद्दीप्त करने के लिए उसे इस प्रकार रूपान्तरित किया जाता है जिससे कि उसके घटक तत्त्वों का संतुलन भंग हो जाय। द्रव्य के इसी रूपान्तरण को साहित्य में 'शैली' कहा जाता है। रसायन-शास्त्र के आधार पर इस रूपान्तरण के भी पाँच भेद किये जा सकते हैं—(१) संयोजनात्मक रूप-विधान (२) विश्लेषणात्मक रूप-विधान (३) विस्थापनात्मक रूप-विधान (४) विनिमयात्मक रूप-विधान (५) समावयात्मक रूप-विधान। परंपरागत सिद्धान्तों द्वारा निर्देशित शैली सम्बन्धी प्रायः सभी तत्त्वों का समन्वय इन पाँच प्रकार के रूप-विधानों में हो जाता है; देखिये—

१. संयोजनात्मक रूप-विधान=अलंकार (अप्रस्तुत का योग)
२. विश्लेषणात्मक रूप-विधान=बिम्ब-विधान
३. विस्थापनात्मक रूप-विधान=प्रतीक और ध्वनि
४. विनिमयात्मक रूप-विधान=लाक्षणिकता और वक्रोक्ति।
५. समावयात्मक रूप-विधान=आवृत्ति, अनुप्रास आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य वस्तुतः मानसिक द्रव्य का एक ऐसा रूपान्तरण मात्र है जिसकी शक्ति उद्दीप्त रूप में होती है। जिस प्रकार वैज्ञानिक भौतिक द्रव्य को रूपान्तरित करता हुआ उसकी अन्तर्निहित शक्ति को उद्दीप्त करके विभिन्न चामत्कारिक कार्य संपादित करता है, वैसे ही साहित्यकार अपने मानसिक द्रव्य को मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से उद्दीप्त एवं रूपान्तरित करता हुआ साहित्य का सर्जन करता है। किन्तु एक का द्रव्य स्थूल एवं बाह्य होता है जबकि दूसरे का सूक्ष्म एवं आन्तरिक; इसी लिए वे दो भिन्न दिशाओं की ओर अभिमुख हो जाते हैं अन्यथा व्यापक दृष्टि से वे एक ही शक्ति के विभिन्न रूपों की जागृति एवं उद्दीप्ति में संलग्न प्रतीत होते हैं। संभवतः यही कारण है कि साहित्य और विज्ञान के अनेक नियमों में परस्पर गहरा सादृश्य परिलक्षित होता है।

परिशिष्ट क—

साहित्य-विज्ञान : तालिका रूप में निष्कर्ष

साहित्य का पक्ष	तत्त्व	साहित्य-विज्ञान के अनुसार सम्बन्धित वर्ग	परंपरागत साहित्य-शास्त्र के अनुसार सम्बन्धित तत्त्व या सिद्धान्त। (संशोधित रूप में)
१. साहित्य की शक्ति या आत्मा (Energy)	आकर्षण शक्ति	१. भावात्मक आकर्षण	रसात्मकता, आनन्द,
		२. बौद्धिक आकर्षण	रमणीयता, चामत्कारिकता
		३. ऐन्द्रिक आकर्षण	सौन्दर्य, शोभा, चारुता,
२. साहित्य का द्रव्य (Matter)	१—भाव	भाव-प्रधान साहित्य	रस-सिद्धान्त (शान्त रस को छोड़कर)
	२—विचार	विचार-प्रधान साहित्य	उदात्त, औचित्य, शान्त रस
	३—कल्पना	कल्पना-प्रधान साहित्य	कल्पना-सिद्धान्त,
३. साहित्य का रूप पक्ष या शैली (Form)	१. अप्रस्तुत योग	संयोजनात्मक रूप-विधान	अलंकार
	२. बिम्बात्मकता (ऐन्द्रिक गुणों का विस्तार)	विश्लेषणात्मक रूप-विधान	बिम्ब-विधान
	३. व्यंग्यात्मकता	विस्थापनात्मक रूप-विधान	प्रतीक एवं ध्वनि
	४. लाक्षणिकता	विनिमयात्मक रूप-विधान	वक्रोक्ति
	५. क्रम बद्धता, आवृत्ति, लय आदि।	समावयात्मक रूप-विधान	अनुप्रास, छन्द, तुक आदि

परिशिष्ट ख—

आधारभूत विषयों की संक्षिप्त रूप-रेखा

१—भारतीय साहित्य-शास्त्र

●

प्रस्तुत प्रबन्ध में वैसे तो प्रसंगानुसार अनेक विषयों—व्याकरण, भाषा-विज्ञान साहित्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन-शास्त्र, जीव-विज्ञान, भ्रूण-विज्ञान, दर्शन-शास्त्र आदि—की सामग्री का उपयोग किया गया है किन्तु तीन विषयों—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र—का उपयोग इसमें विशेष रूप से हुआ है। इस दृष्टि से हम इन्हें आधारभूत विषयों के रूप में स्वीकार करते हुए, इनका संक्षिप्त परिचय क्रमशः प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय साहित्य-शास्त्र का आरंभ सामान्यतः भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' (लगभग प्रथम शती ईस्वी) से माना जाता है। आचार्य भरत से लेकर अब तक के साहित्य-शास्त्र के इतिहास को हम सामान्यतः पाँच कालों में विभक्त कर सकते हैं—(१) स्थापना काल—पाँचवी शती के अन्त तक। (२) नव अन्वेषण काल—छठी शती से ग्यारहवीं शती तक। (३) संशोधन काल—बारहवीं शती से सत्रहवीं शती तक। (४) पद्यानुवाद काल—सत्रहवीं शती से उन्नीसवीं शती के मध्य तक (५) नवोत्थान काल—उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण से अब तक। इन पाँचों कालों की उपलब्धियों पर यहाँ क्रमशः विचार किया जाता है।

१. **स्थापना काल**—यद्यपि आचार्य भरत से भी पूर्व अनेक आचार्य हो गये होंगे, किन्तु इस काल के उपलब्ध ग्रन्थों में केवल भरतमुनि के ही 'नाट्य-शास्त्र' का नाम आता है, अतः आचार्य भरत को ही भारतीय साहित्य-शास्त्र की स्थापना का श्रेय दिया जा सकता है। उन्होंने नाट्य-कला का सर्वांगीण विवेचन करने के साथ-साथ नाटक से सम्बन्धित अन्य कलाओं तथा साहित्य (काव्य) के भी विभिन्न तत्त्वों पर प्रकाश डाला है। साहित्य-शास्त्र में उनकी सबसे बड़ी देन रस-सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार साहित्य का लक्ष्य पाठक या श्रोता की भावनाओं को उद्वेलित करके उसे आनन्द प्रदान करना है—इसी आनन्द को साहित्य-शास्त्रीय

शब्दावली में 'रस' कहते हैं। इस लक्ष्य की पूर्ति उसी स्थिति में संभव है जबकि साहित्य की सामग्री को किसी एक मूल भावना (या स्थायी भाव) से संबद्ध करके प्रस्तुत किया जाय। या दूसरे शब्दों में, सारी रचना के केन्द्र में कोई एक स्थायीभाव स्थित रहे तथा उसके विभिन्न अंश उसी स्थायीभाव के विभिन्न अवयवों के रूप में स्थित रहें। वे अवयव भी तीन प्रकार के माने गये हैं—विभाव, अनुभाव और संचारी भाव। वस्तुतः ये तीनों अवयव स्थायी भाव के ही घटक तत्त्व हैं तथा इन्हीं के माध्यम से स्थायीभाव प्रस्तुत होता है। इसी तथ्य को सूत्र रूप में प्रस्तुत करते हुए आचार्य भरत ने कहा था—'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद् रस-निष्पत्ति :' अर्थात् विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। परवर्ती व्याख्याताओं—ने इस सूत्र की अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए रस-सिद्धान्त का विकास कई रूपों में किया है, जिस पर आगे विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आचार्य भरत ने रस-सिद्धान्त के रूप में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को प्रस्तुत किया जो आज भी प्रचलित एवं मान्य है।

(२) **नव अन्वेषणकाल**—भारतीय साहित्य-शास्त्र का सर्वतोमुखी विकास इस काल (छठी शती से ग्यारहवीं शती तक) में हुआ। इसी काल में एक ओर भामह (छठी शती), दंडी (सातवीं शती), वामन (आठवीं शती), आनन्दवर्द्धनाचार्य (दसवीं शती), एवं क्षेमेन्द्र (ग्यारहवीं शती) जैसे मौलिक चिन्तक उत्पन्न हुए, जिन्होंने साहित्य के नये-नये तत्त्वों का अन्वेषण करते हुए अनेक नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की तो दूसरी ओर भट्टलोलट (८-९-वीं शती), शंकुक, (नवीं शती), भट्टनायक (नवीं-दसवीं शती), अभिनवगुप्त (दसवीं-ग्यारहवीं शती), राजशेखर (१०वीं शती), धनंजय (१०वीं शती), महिम भट्ट (१०-११वीं शती) और भोजराज (११वीं शती) जैसे प्रतिभाशाली व्याख्याताओं का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों की स्थापनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण एवं तीक्ष्ण खंडन-मंडन करते हुए भारतीय साहित्य-शास्त्र को व्यापक एवं गंभीर रूप प्रदान किया।[1] इस युग की देन को हम यहाँ मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(क) नवीन सिद्धान्तों की स्थापना और (ख) नवीन व्याख्याएँ। यहाँ दोनों पर क्रमशः विचार किया जाता है।

(क) नवीन सिद्धान्तों की स्थापना—इस युग में साहित्य सम्बन्धी पाँच नये महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की स्थापना हुई—(१) अलंकार सिद्धान्त (२) रीति सिद्धान्त (३) ध्वनि सिद्धान्त (४) वक्रोक्ति सिद्धान्त और (५) औचित्य सिद्धान्त। यद्यपि ये सिद्धान्त पर्याप्त मौलिक हैं किन्तु हमें यहाँ इस तथ्य को न भूल जाना चाहिए कि इनमें से अधिकांश का प्रेरणा-स्रोत भरतमुनि का नाट्य-शास्त्र ही है। आचार्य भरत

---

१. आचार्यों का जीवन-काल श्री बलदेव उपाध्याय के 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' के आधार पर दिया गया है।

ने विभिन्न प्रसंगों में अलंकार, गुण-दोष, औचित्य आदि तत्त्वों की चर्चा गौण रूप से की थी ; परवर्ती अलंकार, रीति एवं औचित्य संप्रदाय के प्रवर्तकों ने इसी चर्चा से संकेत पाकर स्वतंत्र एवं व्यापक सिद्धान्तों की स्थापना की है। इसी प्रकार वक्रोक्ति की चर्चा भी वक्रोक्तिवाद के प्रवर्त्तन के बहुत पूर्व भामह एवं दंडी द्वारा हो चुकी थी तथा ध्वनि का आधार भी पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पर इससे इनका महत्त्व कम नहीं होता।

उपर्युक्त पाँचों सिद्धान्तों में क्रमशः काव्य के पाँच पक्षों पर बल दिया गया है। अलंकार में काव्य शैली की बाह्य साज-सज्जा पर, रीति में काव्य के स्वाभाविक गुणों, जैसे—शुद्धता, संक्षिता, स्पष्टता, नाद-सौन्दर्य आदि पर, ध्वनि में उसके अर्थ की व्यंग्यात्मकता पर, वक्रोक्ति में अर्थ की लाक्षणिकता पर और औचित्य में विषय और शैली के पारस्परिक संतुलन पर सर्वाधिक बल दिया गया है। इस दृष्टि से प्रथम चार सिद्धान्तों को रूपवादी (Formalist) तथा अंतिम को वस्तुवादी कहा जा सकता है। रूपवादी सिद्धान्तों में काव्य के रूप को आकर्षक बनाने के लिए क्रमशः चार विधियों पर प्रकाश डाला गया है—(१) बाह्य तत्त्वों के द्वारा अलंकरण (२) नाद-सौन्दर्य (३) अर्थ की व्यंग्यात्मकता और (४) अर्थ का वैचित्र्य। किन्तु इन्हें इसी से संतोष नहीं हुआ; प्रत्येक सिद्धान्त के अनुयायियों ने अन्य सिद्धान्तों के द्वारा प्रस्तुत विधियों को भी नाम बदल कर अपने सिद्धान्त के क्षेत्र में समाविष्ट कर लेने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में वे साम्राज्यवादी मनोवृत्ति से ग्रसित रहे। जिस प्रकार एक चक्रवर्ती सम्राट धरती पर किसी भी अन्य शासक की स्वतंत्र सत्ता को मान्यता नहीं देना चाहता, वह सभी शासकों की भूमि पर अपना ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अधिकार स्थापित कर लेना चाहता है, लगभग उसी प्रकार इन सिद्धान्तों के अनुयायियों ने भी अपने सिद्धान्त के अतिरिक्त किसी अन्य सिद्धान्त की स्वतंत्र सत्ता को मान्यता न देकर उसकी भूमि को अपने ही क्षेत्र में ले लेने का प्रयास किया है। एक ओर अलंकारवादियों ने रस को एक अलंकार मात्र मान लिया तो वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने सारे अर्थालंकारों को वाक्य-वक्रता में स्थान देकर अलंकार का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया। इसी प्रकार ध्वनिवादियों ने 'अलंकार-ध्वनि' भेद की कल्पना करके अलंकार सिद्धान्त के सारे वैभव को हस्तगत कर लेना चाहा तो दूसरी ओर अलंकारवादियों ने ध्वनि के ही विभिन्न रूपों को 'गूढार्थ-प्रतीतिमूलक' अलंकारों की संज्ञा देदी। पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता एवं क्षेत्र-विस्तार की इस प्रवृत्ति के कारण एक ओर ये सिद्धान्त अनिश्चित, अमर्यादित एवं अप्रामाणिक हो गये तो दूसरी ओर इससे साहित्य-शास्त्र भी अव्यवस्थित एवं असंतुलित हो गया।

(ख) नवीन व्याख्याएँ—इस युग में नवीन सिद्धान्तों के आविष्कार के साथ-साथ परम्परागत मतों की नवीन व्याख्याएँ भी हुईं। इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण कार्य आचार्य भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त का है। इन्होंने

मुख्यतः रस सिद्धान्त की ही नई व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। आचार्य भट्टलोल्लट ने भरत के रस-सूत्र की नई व्याख्या करते हुए अपने 'उत्पत्तिवाद' की स्थापना की। भरत का रस सिद्धान्त संयोजनवादी था—जिस प्रकार विभिन्न तत्त्वों के संयोजन से किसी वस्तु या कार्य की योजना होती है, वैसे ही विभाव, अनुभाव, संचारी के संयोजन से रस-निष्पत्ति का कार्य संपादित होता है। भरत-सूत्र का 'संयोग' शब्द भी इसी तथ्य को सूचित करता है। भट्टलोल्लट ने इसके स्थान पर रस को विभावों से उत्पन्न, संचारी भावों से पुष्ट एवं अनुभावों से व्यक्त सिद्ध करते हुए निष्पत्ति का अर्थ क्रमशः तीनों प्रसंगों में उत्पत्ति, पुष्टि एवं अभिव्यक्ति सिद्ध किया। इस प्रकार भट्टलोल्लट ने रस-निष्पत्ति को यांत्रिक रचना-व्यापार के स्थान पर क्रमिक विकासवादी रूप प्रदान किया जो अधिक वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक है। आचार्य शंकुक ने भट्टलोल्लट की व्याख्या का खण्डन करते हुए 'अनुमिति वाद' की स्थापना की। उन्होंने न्याय-शास्त्र के अनुमानवाद को आधार बनाते हुए रस की प्रत्यक्ष अनुभूति के स्थान पर उसकी अप्रत्यक्ष अनुमिति की संभावना को सिद्ध किया। इस दृष्टि से आचार्य शंकुक की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने पहली बार इस तथ्य का उद्‌घाटन किया कि रस लौकिक जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूतियों से भिन्न कोटि की अनुभूति है। दूसरे, उन्होंने स्थायीभाव और रस का भी अन्तर स्पष्ट करने का प्रयास किया, किन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली। आचार्य भट्टनायक ने रस-निष्पत्ति की क्रिया को तीन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं —अभिधा (अर्थ-बोध), भावकत्व एवं भोजकत्व—में विभाजित करते हुए साधारणीकरण के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने भट्टनायक की स्थापनाओं को निराधार सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु वे इसमें अधिक सफल नहीं हुए। आधुनिक साहित्य-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र की नवीनतम अनुसंधानों से यह सिद्ध हो गया है कि भट्टनायक का मत बहुत महत्त्वपूर्ण था। आधुनिक युग में एक ओर आई० ए० रिचर्ड्स ने काव्यास्वादन की प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए ऐसी प्रक्रियाओं का विवेचन किया है जो उपर्युक्त तीनों प्रक्रियाओं के अनुरूप हैं, तो दूसरी ओर सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में भाववादी चिन्तकों ने इम्पैथी (Empathy) सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है, जिसे भट्टनायक के शब्दों में 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त कह सकते हैं। इम्पैथी का अर्थ समानुभूति या साधारणीकरण ही होता है। अस्तु, भट्टनायक की देन का आधुनिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्व है।

अभिनव गुप्त ने भट्टनायक की अनेक मान्यताओं का खंडन करते हुए भी साधारणीकरण को स्वीकार किया है। किन्तु अब तक रस-निष्पत्ति के सभी व्याख्याताओं द्वारा काव्य के पाठक या श्रोता के व्यक्तित्व की उपेक्षा होती रही, कसी का भी ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया कि रसानुभूति में काव्य-वस्तु के अतिरिक्त स्वयं पाठक का भी थोड़ा-बहुत योग-दान रहता है। अभिनव गुप्त ने इस ओर ध्यान देते हुए अभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा की। उनके मतानुसार काव्या-

स्वादन से पाठक के हृदय में किसी नये तत्त्व की सृष्टि नहीं होती अपितु उसकी जन्मजात वासनाएँ ही उद्वेलित होकर व्यक्त हो जाती हैं। ये वासनाएँ सभी प्राणियों में विद्यमान होती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की शब्दावली में वासनाओं को सहज प्रवृत्तियों (Instincts) का नाम दिया जा सकता है। इस दृष्टि से अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त, फ्रायड़ के वासना सिद्धान्त एवं क्रोचे के अभिव्यक्तिवाद के बहुत समीप पड़ता है। अरस्तू और अभिनवगुप्त—दोनों ने ही काव्य के माध्यम से वासनाओं के विरेचन या उनकी अभिव्यक्ति को स्वीकार किया है किन्तु एक ने केवल दूषित वासनाओं पर ही बल दिया जबकि दूसरे ने ऐसा नहीं किया। फ्रायड ने भी वासनाओं की अभिव्यक्ति को स्वीकार किया पर वे सारा बल काम-वासना पर ही केन्द्रित कर देते हैं जबकि अभिनव गुप्त ऐसा नहीं करते। क्रोचे के अभिव्यक्तिवाद का सम्बन्ध मुख्यतः काव्य-रचयिता की सहजानुभूति से है जबकि अभिनव गुप्त का मत पाठक की सहज प्रवृत्तियों से सम्बद्ध है। अस्तु, इस अन्तर के होते हुए भी अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में नवीन सिद्धान्तों की स्थापना एवं पुराने सिद्धान्तों की नयी व्याख्या—इन दोनों ही क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। वस्तुतः इस युग को हम भारतीय साहित्य-शास्त्र का स्वर्ण-युग कह सकते हैं। वैसे भी यह भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग माना जाता है।

(३) **संशोधन काल (११वीं शती से १७वीं शती तक)**—इस काल में मम्मट (११-१२वीं शती), रुय्यक (१२वीं शती), हेमचन्द्र (१२वीं शती), रामचन्द्र गुण चन्द्र (१२वीं शती), जयदेव (१३वीं शती), विश्वनाथ (१३-१४वीं शती,) भानुदत्त (१३-१४वीं शती), जगन्नाथ (१७वीं शती) प्रभृति आचार्य हुए जिन्होंने किसी नये सिद्धान्त की स्थापना न करके पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों में किंचित् संशोधन एवं समन्वय प्रस्तुत किया। इस युग के आचार्यों में पूर्ववर्ती आचार्यों जैसी कट्टरवादिता का अभाव मिलता है ; वे किसी एक ही सिद्धान्त से न बँध कर विभिन्न सिद्धान्तों की उपलब्धियों को स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि इनके ग्रन्थों में रस, ध्वनि, अलंकार रीति, वक्रोक्ति आदि सभी को थोड़ा-बहुत स्थान प्राप्त हुआ है, यह दूसरी बात है कि वे किसी को कम महत्त्व देते हैं और किसी को अधिक। किन्तु उनकी यह समन्वय-वादिता किसी प्रौढ, व्यापक एवं मौलिक दृष्टिकोण की सूचक नहीं है अपितु, सार-संकलन की प्रवृत्ति की द्योतक है। इनमें एक-दो आचार्यों को छोड़कर शेष में विवेचन की गंभीरता, विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं निष्कर्षों की मौलिकता का प्रायः अभाव है। इस दृष्टि से यह युग भारतीय साहित्य-शास्त्र की जरा अवस्था का सूचक है।

(४) **पद्यानुवाद काल (१७वीं—१९वीं शती)**—इस काल में संस्कृत का स्थान आधुनिक भाषाओं ने ले लिया था, अतः भारतीय साहित्य-शास्त्र भी अनेक प्रादेशिक भाषाओं में विभक्त हो गया। यहाँ हम केवल हिन्दी की दृष्टि से इसे पद्यानुवाद-

काल कह सकते हैं क्योंकि इस युग में केशव, चिन्तामणि, कुलपति सोमनाथ, भिखारी दास, प्रतापसाहि आदि आचार्य हुए जिन्होंने पद्यबद्ध रीति ग्रन्थ लिखे। यद्यपि इस क्षेत्र में शताधिक कवि अवतरित हुए किन्तु शास्त्रीय विवेचन का कार्य कवियों के वश का काम नहीं था। यही कारण है कि इनकी देन का मूल्यांकन करते हुए डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र को लिखना पड़ा—"यह बात स्पष्ट रूप में कही जा सकती है कि हिन्दी के अधिकांश लेखकों (कवियों) का लक्षण भाग अस्पष्ट अथवा अपूर्ण है।....ये आचार्यत्व के अयोग्य हैं। वे कवि ही प्रधान रूप से हैं और उनका आचार्यत्व या शास्त्रीय विवेचन का प्रयत्न बहुत सफल नहीं है।"[१] इसी निष्कर्ष की पुष्टि डा० सत्यदेव चौधरी ने भी की है। उनके शब्दों में—'चिन्तामणि आदि आचार्यों ने भारतीय काव्य-शास्त्र के विकास में कोई योग-दान नहीं दिया—यह स्पष्ट है। हिन्दी के वर्तमान काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण में भी इनका योग-दान नहीं है—यह भी स्पष्ट है।'[२]

५. **नवोत्थान काल (१९वीं शती के अंतिम चरण से अब तक)**—इस काल को भी हम मुख्यतः तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं—(१) भारतेन्दु-द्विवेदी-युग (१८७५-१९२५) (२) शुक्ल युग (१९२६-१९४०) (३) शुक्लोत्तर युग (१९४१ से अब तक) इनमें से प्रथम युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्र-बन्धु, श्याम सुन्दर दास प्रभृति विद्वान आते हैं जिन्होंने अपने कुछ लेखों एवं पुस्तकों में साहित्य-सिद्धान्तों का विवेचन किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'नाटक' ग्रन्थ में नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए प्राचीन सिद्धान्तों के नवीनीकरण या प्राचीन और नवीन के समन्वय पर बल दिया। उन्होंने भारतीय नाटकों के साथ यूरोपीय नाटकों की भी चर्चा करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के समन्वय की ओर संकेत किया। (डा० श्याम सुन्दर दास ने इस प्रौढ ग्रन्थ को किसी अन्य का रचित बताया है, जो ठीक नहीं। भारतेन्दु ने इसे अपने आराध्यदेव को समर्पित करते हुए भूमिका में इसे स्वरचित बताया है, अतः इस पर संदेह करना अनुचित है। डा० श्याम सुन्दर दास जी की शंका का निराकरण हम अन्यत्र विस्तार से कर चुके हैं।) आगे चलकर अन्य विद्वानों ने भी भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की सामग्री को हिन्दी गद्य में प्रस्तुत किया है। यद्यपि इनमें मौलिकता का अभाव है किन्तु इन्होंने रीतिकालीन दृष्टिकोण, परम्परा और शैली को त्याग कर नये दृष्टिकोण और नयी शैली (गद्य में विवेचन करने की शैली) का प्रवर्त्तन करके स्तुत्य कार्य किया। शुक्ल-

---

१. हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास : डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृ० ३५।

२. हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य : डा० सत्यदेव चौधरी ; पृ० सं०, पृ० ७५०।

युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा परम्परागत साहित्य-शास्त्र को नया रूप प्राप्त हुआ। उन्होंने आधुनिक युग की परिवर्तित परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्राचीन सिद्धान्तों की निजी दृष्टि से व्याख्या की—विशेषतः रस-सिद्धान्त की। इस क्षेत्र में उनकी देन महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने आनन्दवादी रस-सिद्धान्त को नीतिवादिता से समन्वित करते हुए रस की दो कोटियाँ निर्धारित की हैं। जहाँ हमारा काव्य के आश्रय से तादात्म्य हो जाता है वहाँ उच्चकोटि की रस-दशा प्राप्त होती है अन्यथा —नायक के दुष्चरित्र होने की स्थिति में—मध्यम कोटि की रसानुभूति होती है। रस के विभिन्न स्थायी भावों की भी उन्होंने विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। अस्तु, इस क्षेत्र में आचार्य शुक्ल की देन महत्त्वपूर्ण है।

शुक्लोत्तर युग के साहित्य-शास्त्रीय विद्वानों में डा० गुलाबराय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डा० गुलाबराय ने भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों को सरल एवं सुबोध शैली में प्रस्तुत करके परवर्ती अनुसंधान-कर्त्ताओं का मार्ग प्रशस्त किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मुख्य क्षेत्र ऐतिहासिक एवं व्यावहारिक समीक्षा का है, किन्तु इस क्षेत्र में भी उन्होंने अनेक लेखों में समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। आचार्य वाजपेयी का भी मुख्य क्षेत्र व्यावहारिक समीक्षा का है फिर भी उन्होंने अनेक निबन्धों में भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र को निकट लाने का स्तुत्य प्रयास किया है। डा० नगेन्द्र का असली क्षेत्र साहित्य-शास्त्र है। इस क्षेत्र में उनकी देन तीन रूपों में स्वीकार की जा सकती है; एक तो उन्होंने परंपरागत भारतीय सिद्धान्तों की नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं जो आधुनिकता एवं मौलिकता से युक्त हैं। रस-निष्पत्ति की नई व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि पाठक का तादात्म्य काव्यगत आश्रय से नहीं अपितु स्वयं काव्य-रचयिता से ही होता है। इसी प्रकार ध्वनि, रीति आदि के क्षेत्र में भी उन्होंने अनेक पूर्व प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण किया है। दूसरे, उन्होंने पाश्चात्य काव्य-कास्त्र को भी विस्तृत व्याख्याओं के सहित हिन्दी में प्रस्तुत किया है तथा करवाया है। तीसरे, प्राचीन और नवीन, भारतीय और पाश्चात्य तत्त्वों की पारस्परिक तुलना के द्वारा उनके सापेक्ष महत्त्व का दिग्दर्शन कराया है। वस्तुतः उन्होंने हिन्दी-समीक्षा को एक ऐसी व्यापक भूमि प्रदान की है जिससे विश्व-साहित्य-शास्त्र के दो चरम छोरों—ग्रीक एवं संस्कृत साहित्य शास्त्र—का गुम्फन उसमें हो जाता है।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त आचार्य बलदेव उपाध्याय, श्री रामदहिन मिश्र, डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र, डा० गोविन्द त्रिगुणायत, डा० रामलाल सिंह, डा० भोला शंकर व्यास, डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, श्री राममूर्त्ति त्रिपाठी, डा० सत्यदेव चौधरी आदि विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में भारतीय साहित्य-शास्त्र के विभिन्न पक्षों एवं

सिद्धान्तों का विवेचन आधुनिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि परम्परागत भारतीय साहित्य-शास्त्र हिन्दी में आकर और भी अधिक विकसित एवं प्रौढ हो गया है। 'साहित्य-विज्ञान' के रूप में वह शास्त्रीय रूढियों एवं परंपरागत असंगतियों से मुक्त होकर नये रूप में प्रस्तुत हो रहा है—कदाचित् इसे भी उसके विकास की एक नई मंजिल माना जा सके। हिन्दी के अतिरिक्त मराठी, बंगला, आदि के क्षेत्रों में भी कार्य हुआ, जिसका परिचय देने में हम अपनी अल्पज्ञता के कारण असमर्थ हैं।

●

आधारभूत विषयों की संक्षिप्त रूप-रेखा

२—पाश्चात्य काव्य शास्त्र

●

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के इतिहास को सामान्यतः तीन कालों में विभक्त किया जाता है—(१) प्राचीन काल—५वीं शती ई० पू० से ४थी शती ई० तक। (२) मध्य काल—५वीं शती ई० से १५वीं शतीतक। (३) आधुनिक काल—१६वीं शती से अब तक।यहाँ तीनों कालों का संक्षिप्त परिचय क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है। (१) प्राचीनकाल—इस काल के आचार्यों में प्लेटो (४२७ ई० पू०–३४७ ई० पू०), अरस्तू (३८४ ई० पू०–३२२ ई० पू०), लोंजाइनस (पहली शती), होरेस (६५ ई० पू०–८ ई० पू०), सिसरो (१०६–४३ ई०), क्विण्टिलियन (४०–११८ ई०), डिमैट्रियस (प्रथम शती) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्लेटो मूलतः साहित्य-शास्त्री नहीं थे, उन्होंने अपने 'गणतन्त्र' में राजनीति के सिद्धान्तों की विवेचना करते हुई प्रासंगिक रूप में काव्य की चर्चा की है। काव्य के सम्बन्ध में उनका विचार था कि वह मिथ्या संसार की भी मिथ्या अनुकृति है—अतः वह सत्य से दुगुनी दूर होता है। दूसरे, वे जीवन एवं समाज के लिए काव्य को हेय समझते थे क्योंकि इससे हमारी भावनाएँ उद्वेलित हो जाती हैं। प्लेटो के विचार से एक आदर्श गणराज्य में किसी भी ऐसी वस्तु को स्थान नहीं दिया जा सकता जो लोगों की भावनाओं को उभार कर उन्हें दुर्बल एवं चरित्रहीन बनावे। इसीलिए उन्होंने अपने आदर्श राज्य में से कविता का निष्कासन करते हुए कहा था—"अतः अब हमारे लिए यह न्याय होगा कि हमें जिस देश को सुशसित रखना है उसमें कवि का प्रवेश निषेध कर दें क्योंकि वह आत्मा के इस (दुर्बल) अंश को जागृत, पोषित और परिपुष्ट करता है तथा विवेक-अंश का क्षय करता है।"[१] इस प्रकार प्लेटो ने काव्य का विरोध कहते हुए उसके सम्बन्ध में दो तथ्यों पर प्रकाश डाला—(१) काव्य प्रकृति की अनुकृति है। (२) काव्य हमारी भावनाओं को उद्वेलित करता है।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने उपर्युक्त दोनों तथ्यों को स्वीकार करते हुए भी कविता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। उन्होंने दोनों तथ्यों को दो महत्त्वपूर्ण

---

१. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परंपरा : डा० नगेन्द्र, पृ० २०।

सिद्धान्तों का रूप दिया—(१) अनुकृति सिद्धान्त एवं (२) विरेचन सिद्धान्त। जहाँ प्लेटो ने अनुकृति-जन्य आनन्द को मिथ्या वस्तु पर आधारित आनन्द घोषित किया था वहाँ अरस्तू ने इसे ज्ञानार्जनजन्य आनन्द माना। उन्होंने प्रतिपादित किया—"जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है उन्हीं की यथावत् अनुकृति का भावन आह्लादकारी बन जाता है, जैसे किसी अत्यन्त जघन्य पशु अथवा शव की रूप-आकृति का उदाहरण लिया जा सकता है। इसका कारण यह है कि ज्ञान के अर्जन से अत्यन्त प्रबल आनन्द प्राप्त होता है। केवल दार्शनिक को ही नहीं सामान्य व्यक्ति को भी —जिसकी ज्ञानार्जन-क्षमता अपेक्षाकृत कहीं सीमित होती है। अतः किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उसका भावन करने में वह कुछ ज्ञानप्राप्त करता है या निष्कर्ष ग्रहण करता है—शायद वह अपने मन में कहता है, 'अरे ! यह तो अमुक है !'—क्योंकि यदि आपने मूल वस्तु को नहीं देखा तो आपका आनन्द अनुकरण-जन्य न होगा; वह अंकन, रंग-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृत होगा।"[२] इस प्रकार अरस्तू महोदय ने प्लेटो के इस आक्षेप का निराकरण करने का प्रयास किया कि काव्य अनुकरण-मूलक होने के कारण अज्ञान या मिथ्या का प्रचार करता है या काव्यजन्य आनन्द मिथ्या आनन्द है। अवश्य ही उन्हें इसमें सफलता मिल गई किन्तु उनके प्रतिपादन में कुछ दूसरे प्रकार की असंगतियाँ आगईं। वे एक ओर तो काव्य-जन्य आनन्द को ज्ञानार्जन का आनन्द बताते हैं पर दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि यह आनन्द उसी अवस्था में मिलेगा जबकि हमने कला में प्रस्तुत वस्तु को पहले देखा हो ; ऐसी स्थिति में—देखी हुई वस्तु को पुनः देखने में —ज्ञानार्जन की बात कैसे स्वीकार की जा सकती है ! नई वस्तु को देखना ज्ञानार्जन कहलाता है ; देखी हुई को पुनः देखना 'ज्ञानार्जन' नहीं कहलाता अपितु 'प्रत्यभिज्ञा' या 'पहचान' कहलाता है। दूसरे, ज्ञानार्जन से आनन्द की उपलब्धि की बात भी स्वीकार नहीं की जा सकती, अन्यथा काव्य की अपेक्षा इतिहास, भूगोल, दर्शन एवं विज्ञान की पुस्तकों से अधिक आनन्द मिलता, क्योंकि वे काव्य की अपेक्षा अधिक ज्ञान प्रदान करती हैं। अतः हम आचार्य अरस्तू के उपर्युक्त मंतव्य को स्वीकार नहीं कर सकते। वस्तुतः उन्होंने इस प्रकार की युक्तियाँ अपने युग के प्लेटोवादियों की तुष्टि के लिए ही कहीं थीं। किन्तु उनकी संतुष्टि इससे भी और अच्छे ढंग से हो सकती थी। प्लेटो मानते थे कि वास्तविक सत्य तो केवल सूक्ष्म विचार (Idea) के रूप में अध्यात्म जगत् में ही स्थित है, भौतिक जगत् में जो कुछ है वह उस सूक्ष्म विचार का प्रतिबिम्ब मात्र है तथा इसीलिए मिथ्या है। दूसरे शब्दों में सूक्ष्म जगत् सत्य है और स्थूल भौतिक जगत् मिथ्या है। इस दृष्टि से काव्य के पक्ष में हम तर्क दे सकते हैं कि कवि स्थूल भौतिक जगत को पुनः सूक्ष्म आइडिया (Idea) में परिवर्तित कर

---

२. वही, पृ० २७।

देता है—मिथ्या जगत् को सत्य विचार में बदल देता है। जिस प्रकार गणित का नियम है—Two nagatives makes a positive ; उसी प्रकार द्विगुणित मिथ्या=मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति=का अर्थ सत्य किया जा सकता है ; कम से कम काव्य के प्रसंग में तो यह बात सर्वांश में लागू होती है। इस प्रकार प्लेटो के ही तर्क से उनके आक्षेप का निराकरण किया जा सकता था।

प्लेटो के दूसरे आक्षेप का निराकरण करते हुए अरस्तू ने विरेचन-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने त्रासदी का विवेचन करते हुए लिखा—"त्रासदी किसी गंभीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है···· जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।"[3] आगे संगीत-कला के प्रसंग में उन्होंने इसे और स्पष्ट करते हुए लिखा—"करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति—प्रत्येक भावुक व्यक्ति—इस प्रकार का अनुभव करता है, और दूसरे भी, अपनी-अपनी संवेदन-शक्ति के अनुसार प्रायः सभी, इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं, उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार विरेचक राग मानव-समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करते हैं।"[४] अस्तु, विरेचन-सिद्धान्त से यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य दूषित भावनाओं के विरेचन या निष्कासन के द्वारा हमारे मन को निर्दोष बनाता है—अतः प्लेटो का यह आक्षेप कि काव्य दूषित भावनाओं को उभार कर समाज को दुर्बल एवं चरित्र-हीन बनाता है, मिथ्या सिद्ध हो जाता है। यहाँ एक प्रश्न अवश्य उठता है कि यदि त्रासदी से हमारी दूषित भावनाएँ विरेचित हो जाती हैं तो क्या कामदी से हमारी निर्दोष या पवित्र भावनाएँ भी विरेचित हो जाती हैं ? ऐसी स्थिति में जहाँ त्रासदी से नैतिक लाभ होता है वहाँ कामदी से नैतिक हानि होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं है तो कामदी से आनन्दानुभूति का क्या आधार है ? वस्तुतः हमारे विचार से अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त केवल त्रासदी पर ही आधारित होने के कारण एकांगी एवं अपूर्ण है। वासनाओं की अभिव्यक्ति भारतीय आचार्य अभिनव गुप्त ने भी मानी है, किन्तु उनका अभिव्यक्तिवाद केवल त्रासदी पर ही नहीं, सभी प्रकार के काव्य पर लागू होता है, अतः वह अधिक व्यापक एवं संगत है। इस दृष्टि से 'विरेचन' का भी अर्थ 'अभिव्यक्ति' करते हुए उसे अधिक व्यापक एवं संगत रूप दिया जा सकता है।

उपर्युक्त त्रुटियों के होते हुए भी अरस्तू का काव्य-विवेचन बहुत प्रौढ़ है। उन्होंने काव्य के विभिन्न रूपों एवं उसके विभिन्न तत्त्वों की बहुत ही स्पष्ट रूप में व्याख्या की है, इसीलिए वे समस्त पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के आदि आचार्य माने जाते हैं।

इस काल के तीसरे प्रमुख आचार्य लोंजाइनस (Longinus) हैं जिन्होंने अपने

---

३. अरस्तू का काव्य-शास्त्र : डा० नगेन्द्र, पृ० ८७।
४. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परंपरा : डा० नगेन्द्र, पृ० ४२।

ग्रन्थ "On the sublime" में उदात्त तत्त्व का विवेचन किया। उन्होंने उदात्त या औदात्य को ही काव्य के आत्म-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए लिखा—'सच्चे औदात्य से हमारी आत्मा जैसे अपने आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है, मानो जो कुछ हमने सुना है वह स्वयं अपनी ही कृति हो।"[५] अस्तु, उनके विचार से काव्यजन्य आनन्द का मूल कारण काव्यगत औदात्य ही है। जिसके उन्होंने पाँच उद्गम-स्रोत बताये हैं—(१) विचारों की महानता, (२) भावों का उद्दाम एवं शक्तिशाली प्रतिपादन, (३) अलंकारों की समुचित योजना, (४) उत्कृष्ट अभिव्यक्ति और (५) गरिमामय रचना-विधान। इन सभी स्रोतों के पीछे वस्तुतः लेखक या कवि के व्यक्तित्व की महानता निहित होती है, क्योंकि उनके विचार से महान् आत्माओं की वाणी से ही औदात्य की झंकृति होती है। इस दृष्टि से लोंजाइनस की सबसे बड़ी देन यह मानी जाती है कि उन्होंने साहित्य के प्रति व्यक्तिवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, इसी लिए उन्हें प्रथम स्वच्छन्दतावादी या व्यक्तिवादी आलोचक होने का गौरव प्राप्त है। वैसे उनके सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है कि औदात्य काव्य का अतिरिक्त गुण है—जिसका वास्तविक क्षेत्र धर्म, दर्शन एवं नीतिशास्त्र है—अतः इसे काव्य के आधारभूत तत्त्व के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती।

इस काल के रोमी आचार्यों में होरेस का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने काव्य के विभिन्न तत्त्वों पर प्रकाश डालते हुए औचित्य पर विशेष बल दिया है। उनके शब्दों में—"यदि वक्ता के शब्द परिस्थिति के अनुकूल नहीं तो सम्पूर्ण रोमवासी उच्चवर्ग के हों या निम्न वर्ग के—उस पर जी खोलकर हँसगे।"[६] वस्तुतः उनका औचित्य तत्त्व स्वाभाविकता संगति, सामंजस्य आदि गुणों को ही समन्वित रूप में प्रस्तुत करता है। आगे चलकर सिसरो, क्विण्टिलियन, डिमैट्रियस प्रभृति आचार्यों ने शैली पक्ष पर अधिक बल देते हुए अलंकार एवं गुण-दोषों की विवेचना विस्तार से की है। अलंकारों के सूक्ष्म विश्लेषण की दृष्टि से समस्त पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में क्विण्टिलियन एवं डिमैट्रियस का सर्वोच्च स्थान है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इनका अलंकार, रीति एवं गुण सम्बन्धी वर्गीकरण एवं विश्लेषण भारतीय अलंकारवादियों एवं रीतिवादियों से गहरा मिलता-जुलता है।

अस्तु, इस काल में पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का सर्वांगीण विकास परिलक्षित होता है। प्लेटो से डिमैट्रियस तक विभिन्न आचार्यों ने काव्य की सर्जन-प्रक्रिया, उसकी आस्वादन-प्रक्रिया, उसके भाव-पक्ष, विचार-पक्ष, शैली पक्ष आदि विभिन्न पक्षों का विश्लेषण करते हुए अनेक नये सिद्धान्त प्रस्तुत किये, जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं।

---

५. काव्य में उदात्त तत्त्व : डा० नगेन्द्र, पृ० ५२।
६. काव्य-कला, डा० नगेन्द्र. प० ६।

(२) **मध्य काल**—यह काल बौद्धिक चिन्तन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है, यहाँ तक कि इसे इतिहासकार 'अंधकार का युग' की संज्ञा देते हैं। डा० केसरीनारायण शुक्ल ने इस युग की परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए लिखा है—'ईसा की प्रथम दो शताब्दियों के बाद व्यापक अराजकता का समय आया। इस बीच रोमन साम्राज्य पूर्वी और पच्छिमी दो टुकड़ों में टूट गया।.....इस उथल-पुथल के फलस्वरूप रोम का महत्त्व लुप्त होगया और पश्चिमी योरुप पर पाँचवीं शताब्दी के बाद अंधकार का अभेद्य पर्दा पड़ गया, जिसके साथ राजनीतिक अस्त-व्यस्तता और मानसिक पक्षपात का आगमन हुआ। इस समय के बाद विद्या का ह्रास हो गया, प्राचीन ग्रन्थ लुप्त होगए और रोमन शैक्षिक विधान का, जिसने कि पश्चिम में प्राचीन अध्ययन के क्रम को बनाए रखा था, सहसा अन्त हो गया। ज्ञानार्जन की पूर्व परंपराएँ नष्ट हो गईं और बौद्धिक कार्य-कलाप से लोगों के मन विरत हो गए।'[७]

इस युग के साहित्य-चिन्तकों में मुख्यतः इटैलियन साहित्यकार दान्ते का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने एक ओर अपने 'डिवाइन कामेडी' में अन्योक्ति पद्धति की सम्यक् रूप में प्रतिष्ठा की तो दूसरी ओर उन्होंने काव्य के विभिन्न पक्षों पर नये विचार प्रस्तुत किये। उन्होंने परम्परागत मृत भाषा की अपेक्षा जीवित जन-भाषा को साहित्य के लिए अधिक उपयुक्त समझा। अतः उन्होंने जन-भाषा का समर्थन जोरदार शब्दों में किया। इसी प्रकार काव्य-विषय के सम्बन्ध में भी निर्णय देते हुए उन्होंने तीन विषयों को—युद्ध, प्रेम और नैतिक सौन्दर्य को—उत्तम घोषित किया। काव्य-शैली का भी उन्होंने निजी दृष्टिकोण से विश्लेषण करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये। अस्तु, इसमें कोई संदेह नहीं कि दान्ते ने काव्य-शास्त्र के कई पक्षों पर नये विचार प्रस्तुत किये जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं।

(३) **आधुनिक युग**—पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में आधुनिक युग का सूत्रपात करने का श्रेय सर फिलिप सिडनी (१६वीं शती) को है, जिन्होंने अपने निबन्ध 'The Defence of Poesic' (कविता की वकालत) में सुधारवादियों के इस आक्षेप का निराकरण किया कि कविता अनाचार एवं अनैतिकता का प्रचार करती है। उन्होंने प्लेटो के मत को भी संशोधित रूप में प्रस्तुत करते हुए सिद्ध किया कि प्लेटो का आक्षेप केवल अनैतिक साहित्य के सम्बन्ध में है, सारे साहित्य के सम्बन्ध में नहीं। इतना ही नहीं, उन्होंने नीतिवादी दृष्टिकोण से काव्य को उपयोगी सिद्ध करते हुए इसके पक्ष में कई तर्क दिये, जैसे, कविता मनुष्य को सभ्य और सुसंस्कृत बनाती है, वह नैतिकता की शिक्षा प्रभावशाली ढंग से दे सकती है तथा वह एक आदर्श एवं श्रेष्ठ जगत् की कल्पना प्रस्तुत करती है। इस प्रकार सिडनी ने अपने लेख के द्वारा काव्य सम्बन्धी परम्परागत दृष्टिकोण को बदलने का स्तुत्य प्रयास किया।

---

७. पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्त : डा० केसरी नारायण शुक्ल, पृ० ११६-११७।

सत्रहवीं शती के आलोचकों में जान ड्राइडन का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में अनेक नई स्थापनाएँ प्रस्तुत कीं, जिनमें से कुछ ये हैं—(१) कवि का कार्य जीवन को स्वाभाविक रूप मे चित्रित करना है। (२) कविता का मुख्य लक्ष्य आनन्द देना है, शिक्षा देना गौण है। (३) कवि बिम्बों के माध्यम से भावनाओं का चित्रण करता है। (४) कवि कल्पना-शक्ति के आधार पर काव्य-रचना करता है। (५) अरस्तू के संकलन-त्रय का निर्वाह आवश्यक नहीं है। ड्राइडन ने इन नई मान्यताओं के द्वारा अनेक परंपरागत धारणाओं पर तीखा प्रहार किया। विशेषतः कवि-कल्पना सम्बन्धी मत से अरस्तू का अनुकृति सिद्धान्त निराधार सिद्ध हो जाता है।

अठारहवीं शती के साहित्य-चिन्तकों में पोप, जान्सन, लेसिंग, शिलर और गेटे का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पोप ने परम्परागत तत्त्वों को अपनाते हुए भी नये दृष्टिकोण का परिचय दिया। उन्होंने कविता में स्वाभाविकता एवं भावात्मकता को प्रमुखता देते हुए लिखा—"प्रकृति की भाँति कविता में भी जो हमारे मन को प्रभावित करती है उसके पृथक-पृथक अंग-प्रत्यंगों की सुडौलता नहीं होती, हम एक आँख अथवा अधर को सौन्दर्य की संज्ञा नहीं देते—सौन्दर्य उन सबकी सम्मिलित शक्ति एवं निष्पन्न परिणाम की संज्ञा है।"[८] काव्यानन्द का स्रोत भावात्मकता को मानते हुए उन्होंने प्रतिपादित किया—"परन्तु ऐसी कविताओं पर जिनमें न ज्वार आता है, न भाटा ; जो शुद्ध होते हुए भी भाव-विहीन होती है : जो एक ही रीति से मंद-मंद प्रवाहित होती है ; जो दोषों में बचती हुई एक ही बँधी-बँधाई गति अपनाये रहती है—हम दोष भले न लगायें परन्तु (उनसे उबकर) सो तो सकते हैं।"[९] पोप ने स्वाभाविकता एवं सहजता का अनुमोदन करते हुए भी काव्याभ्यास का समर्थन किया क्योंकि उनके विचार से 'लेखन में सच्ची सहजता कला (अभ्यास) से आती है, संयोग से नहीं—जैसे, जिन्होंने नृत्य-कला सीखी हो उनकी गति में सबसे अधिक सहजता होती है।"[१०] इस प्रकार साहित्य की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में उन्होंने समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया।

डा० जानसन अपने युग के सबसे अधिक प्रभावशाली आलोचक माने जाते हैं। उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों को नये रूप में प्रस्तुत करते हुए उनका दृढ़तापूर्वक समर्थन किया। उनकी महत्त्वपूर्ण स्थापना यह है कि साहित्य में जब सामान्य मानव-स्वभाव का उद्घाटन होता है तो दर्शक या पाठक उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करता है।[११] साथ ही उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि काव्य न केवल आनन्द प्रदान करता है वह हमें शिक्षा भी देता है। प्राचीन और नवीन के बीच उन्होंने भी

८-१०. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परंपरा, पृ० १०२-१०५।
११. आलोचना के सिद्धान्त : शिवदान सिंह चौहान, पृ० १००।

पोप की भाँति समन्वय का मार्ग अपनाते हुए अपना मत व्यक्त किया है—'लेखक का प्रथम प्रयास प्रकृति और परंपरा में भेद करना होना चाहिए—अर्थात् जिसकी प्रतिष्ठा उपयुक्त होने के नाते हुई है और जो प्रतिष्ठित हो जाने के कारण ही उपयुक्त है : इन दोनों का भेद उसे हृदयंगम कर लेना चाहिए जिससे वह नवीनता लाने की लालसा में अनिवार्य सिद्धान्तों का अतिक्रमण न करे और न ऐसे नियमों को—जिनके प्रवर्तन का अधिकार किसी साहित्यिक तानाशाह को न था—तोड़ने के अनावश्यक डर के मारे अपनी दृष्टि की परिधि में आये हुए सौन्दर्य का समावेश करने से विमुख हो।"[१२] अपनी इसी नीति के कारण उन्होंने त्रासदी और कामदी आदि के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक रूढ़ियों का वहिष्कार निर्ममतापूर्वक किया।

लेसिंग, गेटे, शिलर आदि जर्मन आलोचक मूलतः साहित्य-सर्जक थे, किन्तु उन्होंने साहित्य की समस्याओं पर भी गौण रूप से विचार किया है। लेसिंग ने कला की प्रेषणीयता पर सर्वाधिक बल देते हुए इस पक्ष का विश्लेषण प्रस्तुत किया। गेटे ने काव्य के विभिन्न रूप-भेदों और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण करते हुए क्लासिक काव्य को स्वस्थ, प्राणवान एवं आनन्ददायी तथा रोमांटिक काव्य को रुग्ण, दुर्बल एवं विकृत सिद्ध किया। कविता की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में भी उन्होंने मौलिक सामग्री की अपेक्षा परम्परागत वस्तु को ही अपनाने का उपदेश देते हुए नये कवियों को बताया कि उन्हें अपने आत्म-तत्त्व के अनुकूल ही विषय-वस्तु का चयन करना चाहिए। उनके शब्दों में—"उपलब्ध सामग्री के आधार पर सारा कार्य सहज ही और अच्छे ढंग से निष्पन्न हो जाता है। तथ्य और चरित्र उपलब्ध हों तो कवि को केवल उनमें प्राण-संचार करना होता है।.....वस्तुतः मैं तो उन्हीं विषयों के चयन का परामर्श दूँगा जिन पर पहले कार्य हो चुका हो।.....हमारे अधिकांश युवा लेखकों में इसके सिवाय कोई दोष नहीं कि उनका आत्म तत्त्व महत्वपूर्ण नहीं होता।" उन्होंने अरस्तू के काव्य-शास्त्र में नया परिशिष्ट जोड़कर अरस्तू के अनेक संदिग्ध मतों की व्याख्या करने का भी प्रयास किया था।

शिलर मूलतः नाटककार था। उन्होंने अपने प्रसिद्ध लेख 'सरल तथा भाव प्रवण कविता' में सौन्दर्य-सिद्धान्तों के आधार पर काव्य-कला की व्याख्या तथा उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के वर्गीकरण का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। उन्होंने अपने युग की प्राचीन यूनानी युग से तुलना करते हुए भावानुभूति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में लिखा है—'प्राचीन यूनानियों की बात सर्वथा भिन्न थी। उनके समय में सभ्यता का ह्रास नहीं हुआ था, न वह अतिवादिता की ऐसी सीमा तक पहुँची थी कि प्रकृति से सम्बन्ध-विच्छेद आवश्यक हो जाता। उनके सामाजिक जीवन का संपूर्ण ढाँचा किसी कृत्रिम

---

१२. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परंपरा, प० ११८।
१३. वही, पृ० १२६।

अवधारण में विश्रान्ति न पाकर भावनाओं में या कला-कृति में विश्रान्ति पाता था····अतः यदि वे मनुष्य से बाहर प्रकृति को देखते थे तो उनके लिए आश्चर्यान्वित होने का कोई कारण न होता था और न उन्हें किन्हीं ऐसे माध्यमों की आवश्यकता का अनुभव होता था जिनके द्वारा वे प्रकृति का पुनः अन्वेषण कर सके।·····लेकिन हम अपने आप में सामंजस्य नहीं रख पाते—हमने मानवता के जो भी अनुभव किये हैं उनसे हम असंतुष्ट हैं। अतः हम उससे दूर भागने के सिवा कोई रुचि उसके प्रति नहीं रख पाते—हमने मानवता के जो भी अनुभव किये हैं उनसे हम असंतुष्ट हैं। अतः हम उससे दूर भागने के सिवा कोई रुचि उसके प्रति नहीं दिखाते, हम तो उस अपरूप आकार को अपनी दृष्टि से दूर ही रखना चाहते हैं।'[१४] इस प्रकार हम देखते हैं कि इन जर्मन साहित्यकारों ने साहित्य की व्यावहारिक समस्याओं को युग-परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में रखकर विचार किया, जो दृष्टि की वैज्ञानिकता को सूचित करता है।

उन्नीसवीं शती में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का प्रवर्त्तन एवं विस्तार हुआ, जिसके अग्रगामी नेताओं में वर्ड्सवर्थ, कालरिज और शैले का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने साहित्य के क्षेत्र में रूढिवादिता, शास्त्रवादिता, नियमबद्धता, विचारात्मकता एवं पूर्वाभ्यास की पद्धति का विरोध करते हुए नवीनता, स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं सहजता की प्रतिष्ठा की। वर्ड्सवर्थ ने लोक भाषा को ही काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार किये जाने का समर्थन करते हुए दोनों के अन्तर को अस्वाभाविक एवं घातक सिद्ध किया। उन्होंने काव्य को अभ्यास एवं कौशल द्वारा रचित न मानकर शान्त क्षणों के सहज भावोद्रेक के रूप में रचित स्वीकार किया। कवि के लिए शिक्षा, नैतिकता एवं उपदेश देने के बंधन को उन्होंने अनुचित बताते हुए आनन्द को ही काव्य का मूल लक्ष्य स्वीकार किया। इसी प्रकार कॉलरिज ने कविता का विरोध गद्य से न मान कर विज्ञान से माना। काव्य मौलिक रचना नहीं अपितु अनुकृति है—इस स्थापना पर कुठाराघात करते हुए उन्होंने कल्पना सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जिससे प्रमाणित हो जाता है कि कल्पनाजन्य कृति होने के कारण काव्य को नूतन सृष्टि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। शैले ने भी वर्ड्सवर्थ एवं कालरिज के सिद्धान्तों का समर्थन पूरी शक्ति से किया। अस्तु, परंपरागत मान्यताओं में परिवर्तन एवं संशोधन करने की दृष्टि से स्वच्छन्दतावादी काव्य-चिन्तकों का बहुत अधिक महत्त्व है।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में कुछ ऐसे विचारकों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अति स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों को नियंत्रित करते हुए स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता एवं

---

१४. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परंपरा, पृ० १३५-१३६।

आनन्दवादिता के स्थान पर पुनः मर्यादा, सामाजिकता एवं उपयोगिता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया—इनमें मैथ्यू आर्नल्ड, रस्किन, टॉलस्टॉय आदि प्रमुख थे। आर्नल्ड ने साहित्य को जीवन की आलोचना के रूप में स्वीकार करते हुए नैतिक मूल्यों एवं मानव-हित को काव्य के लिए श्रेयस्कर सिद्ध किया। उन्होंने काव्य की विषय-वस्तु के रूप में भी उदात्त कार्यों एवं चिरन्तन भावनाओं को अपनाये जाने का समर्थन करते हुए लिखा—"समस्त राष्ट्रों में सदा-सर्वदा काव्य के शाश्वत विषय क्या रहे हैं ?—कार्य-व्यापार, मानव के कार्य-व्यापार। उनमें एक निहित रोचकता होती है·····। यदि कवि समझता है कि सब-कुछ उसी की शक्ति में है कि वह अपनी प्रतिपादन-कला से किसी मूलतः निकृष्ट-कार्य व्यापार को उत्कृष्ट कार्य-व्यापार के समान आनन्दायक बना सकता है तो उसका यह विचार मिथ्या है।·····अतः सर्व प्रथम तो कवि को उत्कृष्ट कार्य-व्यापार का चयन कर लेना चाहिए और सबसे उत्कृष्ट कार्य-व्यापार कौन से होते हैं ? निश्चय ही वे जो मानव के सहज संस्कारों को सबसे अधिक आन्दोलित करें—उन मूलवर्ती भावनाओं को (आन्दोलित करें) जिनका जातीय मानस में स्थायीवास होता है और जो काल-निरपेक्ष होती हैं। ये भावनाएँ स्थायी और परिवर्तनशील होती हैं और इनके अनु-रंजन के साधन भी स्थायी और अपरिवर्तनशील होते हैं।"[१५] आर्नल्ड की ही भाँति रस्किन और टॉल्सटॉय ने भी कला और साहित्य को जीवन के उच्चादर्शों से सम्बन्धित किया। जहाँ रस्किन ने कला को आध्यात्मिक एवं नैतिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति के एक पवित्र माध्यम का रूप दिया, वहाँ टॉलसटॉय ने उसे हमारी उदात्त भावनाओं के उद्वेलन की शक्ति से युक्त सिद्ध किया। अस्तु, इन आचार्यों ने काव्य की लोक-हितवादी दृष्टिकोण से सुन्दर व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं।

बीसवीं शताब्दी का काव्य-शास्त्र विभिन्न वादों एवं बहुमुखी प्रवृत्तियों से ग्रसित रहा है। इनमें मुख्यतः कलावाद, अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद, बिम्बवाद, मनोविश्ले-षणात्मक विचार-धारा, समाजवादी या प्रगतिवादी विचार-धारा आदि उल्लेखनीय हैं। इन वादों एवं प्रवृत्तियों के उन्नायकों ने एकांगी दृष्टिकोण से साहित्य की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं जो परस्पर-विरोधी हैं। उनसे साहित्य का स्वरूप स्पष्ट कम हुआ है, उसके सम्बन्ध मिथ्या धारणाओं एवं भ्रान्तियों का प्रचार अधिक हुआ है। इन नाना मत-मतान्तरों के कारण आज समीक्षा के क्षेत्र में अराजकता की सी स्थिति उत्पन्न हो गई है—जिस तत्त्व को एक गुण मानता है उसी को दूसरा दोष मानता है ! ऐसी परिस्थिति में आई० ए० रिचर्ड्स, हरबर्ट रीड, एफ० एल० ल्युकस जैसे विद्वानों ने साहित्य-शास्त्र को विज्ञान एवं मनोविज्ञान के आधार पर व्यवस्थित रूप देने का

---

१५. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परंपरा, पृ० १९४।

प्रयास किया है, किन्तु इस क्षेत्र में अभी बहुत कार्य बाकी है। श्री हरबर्ट डिंगले तथा उनके अन्य कई साथियों ने साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का आन्दोलन चलाया है जो वर्तमान परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल है। वस्तुतः आज साहित्य-शास्त्र को देश-काल की संकीर्ण सीमाओं से मुक्त करके व्यापक वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही साहित्य-मूल्यों की पुनर्स्थापना एवं साहित्यिक एवं असाहित्यिक तत्त्वों का निर्णय सम्यक् रूप में किया जा सकेगा। प्रस्तुत अध्ययन भी इसी दिशा में किया गया एक प्रारम्भिक प्रयास है।

●

परिशिष्ट २–ग—

सौन्दर्य-शास्त्र : संक्षिप्त परिचय

●

'सौन्दर्य-शास्त्र' आंग्ल भाषा के 'एस्थेटिक्स' (Aesthetics) के पर्यायवाची के रूप में प्रचलित है तथा स्वयं 'एस्थेटिक्स' का भी मूलाधार एक ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ होता है—'एन्द्रिय बोध सम्बन्धी या संवेदना सम्बन्धी'। इस दृष्टि से 'सौन्दर्य-शास्त्र' शब्द 'एस्थेटिक्स' का शुद्ध पर्याय नहीं है क्योंकि संवेदनाओं का क्षेत्र सौन्दर्यनुभूति के क्षेत्र से बहुत अधिक व्यापक होता है तथा बहुत सी संवेदनाएँ सौन्दर्यानुभूति के सर्वथा प्रतिकूल भी होती हैं। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि 'एस्थेटिक्स' के पर्यायवाची के रूप में इस शब्द का प्रयोग क्यों किया जाता है तथा ऐसा करना कहाँ तक उचित है ?

यदि हम 'एस्थेटिक्स' का इतिहास देखें तो पता चलेगा कि अठारहवीं शताब्दी से पूर्व इस नाम के किसी शास्त्र-विशेष का अस्तित्त्व कहीं भी नहीं था। इस नाम से एक नये एवं स्वतंत्र शास्त्र की स्थापना करने का श्रेय जर्मन विद्वान् बामगार्टन (१७१४-१७६२ ई०) को है। उनसे पूर्व सौन्दर्य की विवेचना दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत ही होती थी, किन्तु दर्शन के क्षेत्र में सत्य को सौन्दर्य से अधिक महत्त्व दिया जाता था। बामगार्टन से पूर्व प्रसिद्ध दर्शनवेत्ता स्पिनोजा ने ज्ञान के दो भेद करते हुए, एक को तर्क-सम्मत ज्ञान एवं दूसरे को ऐन्द्रिय ज्ञान कहा। इनमें से प्रथम का सम्बन्ध सत्य से है जबकि दूसरे का सौन्दर्य से। स्पाइनोजा तथा उसके अनुयायियों ने ज्ञान के इस दूसरे भेद—सौन्दर्य को 'अस्पष्ट,' 'अनिश्चित ; 'धुँधला आदि बताते हुए इसका तिरस्कार किया जो कि बामगार्टन जैसे सौन्दर्योपासकों को सह्य नहीं था। अतः सौन्दर्य को उचित महत्त्व प्रदान करने के लक्ष्य से ही एक स्वतंत्र विषय की स्थापना का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। यह प्रस्ताव उस युग के सौन्दर्य-चिन्तकों के लिए इतना अधिक मनोनुकूल था कि उन्होंने इस नाम के औचित्य पर अधिक विचार किये बिना ही तुरन्त स्वीकार कर लिया—और इस प्रकार एक नये विषय की स्थापना होगई।

बामगार्टन के मतानुसार एस्थेटिक्स 'ऐन्द्रिय बोध का विज्ञान' है जिसमें संवेदनाओं का विश्लेषण होता है।[1] उसका सम्बन्ध 'अस्पष्ट ज्ञान' से है—'अस्पष्ट ज्ञान, वह ज्ञान है जो संवेदनाओं के रूप में प्राप्त होता है, जिसे शब्दों में ठीक-ठीक प्रस्तुत करना संभव नहीं।'[2] यद्यपि यह परिभाषा नामकरण के अनुरूप ही है किन्तु वास्तव में 'एस्थेटिक्स' के अन्तर्गत सौन्दर्य सम्बन्धी संवेदनाओं का ही विवेचन एवं विश्लेषण अधिक किया जाता है—शेष प्रकार की अनुभूतियों एवं संवेदनाओं को प्रायः उसके क्षेत्र से बाहर रखा जाता है। इसी तथ्य को देखते हुए आगे चलकर हीगल ने स्पष्ट किया कि "एस्थेटिक्स केवल ललित कलाओं का दर्शन मात्र है। ललित कलाओं का भी सामान्य गुण सौन्दर्य माना जाता है तथा इस शास्त्र की विवेचना करने वाले विद्वान् प्रायः सौन्दर्य-मीमांसा को ही अपना लक्ष्य मानकर चलते रहे हैं।"[3] इससे भी यह समझा जाने लगा कि इस शास्त्र का मुख्य विषय सौन्दर्य ही है। एस्थेटिक्स के इसी विकसित अर्थ को ध्यान में रखते हुए प्रसिद्ध सौन्दर्य-शास्त्री श्री बोसाँके महोदय ने स्पष्ट रूप में स्वीकार किया था—'एस्थेटिक्स का तात्पर्य है सौन्दर्य-दर्शन।'[4] अस्तु, अब सामान्यतः बोसाँके के मत को ही मान्यता दी जाती है। उदाहरण के लिए हम यहाँ एक नवीनतम मत उद्धृत कर सकते हैं, जिसके अनुसार "ऐस्थेटिक्स ज्ञान की वह शाखा है जिसका मुख्य कार्य यह खोजना है कि सौन्दर्य का वास्तविक अर्थ क्या होता है। इसका सम्बन्ध सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओं के तर्क-बद्ध विवेचन, कलाओं के विशिष्ट तत्त्वों के विश्लेषण एवं सौन्दर्य सम्बन्धी समस्त निर्णयों के लिए उपर्युक्त सिद्धान्तों के निर्धारण से है।"[5] इससे स्पष्ट है कि 'ऐस्थेटिक्स' शब्द का मूल अर्थ यद्यपि भिन्न है, किन्तु प्रचलित अर्थ में उसे 'सौन्दर्य-शास्त्र' का ही पर्यायवाची मानना उचित है।

(२) **सौन्दर्य-शास्त्र का क्षेत्र**—'सौन्दर्य-शास्त्र' नाम से यह धारणा उत्पन्न होती है कि इसके क्षेत्र में सभी प्रकार का सौन्दर्य आता होगा किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। निःसन्देह सौन्दर्य-शास्त्र प्रकृति और शिल्प के विभिन्न उपादानों में सौन्दर्य की सत्ता स्वीकार करता है किन्तु वह अपना सम्बन्ध केवल ललित कलाओं तक ही सीमित रखता है। सौन्दर्य-शास्त्रियों ने इस तथ्य को स्पष्ट रूप में स्वीकार

---

1. History of Aesthetic : Bosanquet, Page 183.
2. Western Aesthetics : K. C. Pandey, Page 287.
3. The same, Page 2.
4. History of Aesthetic : Bosanquet, Page 3.
5. "Aesthetic is that branch of Knowledge whose function is to investigate what to be asserted when we write or talk correctly about beauty. It is concerned logically to elucidate the notion of beauty as the distinguishing feature of works of art and to propound the valid principles which underlie all aesthetic judgements."—Harold osborne : Aesthetics & Criticism, Page 24.

करते हुए इसके पक्ष में अनेक तर्क दिये हैं। एक तो उनका कहना है कि प्रकृति के विभिन्न रूपों और क्रिया-कलापों का अध्ययन करना सौन्दर्य-शास्त्र का नहीं—भौतिक-विज्ञान का कार्य है। दूसरे, सौन्दर्य-शास्त्र की परिधि में केवल वे ही रूप आ सकते हैं जो मानव के द्वारा अनुभूत होकर लिपिबद्ध रूप में सुलभ हो गये हों। दूसरे शब्दों, में सौन्दर्य-शास्त्र प्रकृति एवं बाह्य जगत् का अध्ययन सीधे रूप में और उनके प्रकृत रूप में न करके कलाओं के माध्यम से उनके संवेदित रूप का ही अध्ययन करता है। सौन्दर्य-शास्त्र के आधार-भूत ग्रन्थों को देखने से भी यह स्पष्ट है कि उनमें सौन्दर्य के नाम पर विभिन्न कलाओं की ही—या कलागत सौन्दर्य की ही मीमांसा हुई। यदि उनमें प्रकृति के सौन्दर्य की कहीं चर्चा हुई भी है तो वह कलागत सौन्दर्य के प्रसंग में—उसी की मीमांसा के साधन-रूप में हुई है। अतः इस दृष्टि से सौन्दर्य-शास्त्र—केवल कला-शास्त्र ही है, और कलाओं में भी केवल ललित कलाओं से ही उसका सम्बन्ध है। इतना ही नहीं, ललित कलाओं के भी केवल एक ही पक्ष—सैद्धान्तिक या दार्शनिक पक्ष तक ही उसका सम्बन्ध माना जाता रहा है। कलाओं के व्यावहारिक पक्ष—उनकी रचना के विधि-विधानों एवं तत्सम्बन्धी अन्य विशिष्ट नियमों—से सौन्दर्य-शास्त्र को सर्वथा असंपृक्त बताया जाता रहा है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए बोसाँके महोदय ने लिखा था—'सौन्दर्य-शास्त्र दर्शन की एक शाखा है, उसकी सत्ता ज्ञान के निमित्त है, उससे व्यावहारिक पथ-प्रदर्शन की आशा नहीं रखनी चाहिए।' अस्तु, सही अर्थ में सौन्दर्य-शास्त्र को, 'सौन्दर्य-शास्त्र' भी नहीं, 'कला-शास्त्र' भी नहीं, अपितु 'कला-दर्शन' कहना चाहिए।

बीसवीं शती तक आते-जाते 'सौन्दर्य-शास्त्र' के भाग्य ने पुनः पलटा खाया। जब तक यह शास्त्र दार्शनिकों के आश्रय में था 'दर्शन' बना रहा किन्तु अब वैज्ञानिकों की कृपा-दृष्टि से पुनः इसका रूप-परिवर्तन होने लग गया है। दार्शनिक लोग कलाओं के सामान्य तत्त्वों पर विचार करते थे, जबकि इस शती के विद्वान् वैज्ञानिक दृष्टि से विभिन्न कलाओं के विभिन्न पक्षों का स्वतन्त्र रूप से विश्लेषण करने में संलग्न हैं। समन्वयात्मकता से विश्लेषणात्मकता की ओर अग्रसर होने के कारण पुनः उसका रूप शास्त्रीय एवं व्यावहारिक होता जा रहा है, अब वह केवल ज्ञान-पिपासा की शान्ति का ही साधन-मात्र नहीं, कलाओं की सृष्टि, व्याख्या, आलोचना एवं अनुभूति की प्रक्रियाओं का भी सहयोगी बन गया है। दूसरी ओर, अब सौन्दर्य का अर्थ सौन्दर्य न रहकर—'मूल्य' हो गया है, अतः नये दृष्टिकोण से इसे 'मूल्यों की मीमांसा करने वाला विज्ञान' भी समझा जाने लगा है। अस्तु, अब तक की प्रगति के आधार पर इसे 'सौन्दर्य-दर्शन' 'सौन्दर्य-शास्त्र' एवं 'सौन्दर्य-विज्ञान'—तीनों की संज्ञा दी जा सकती है।

(३) **सौन्दर्य-शास्त्र का विकास-क्रम**—यद्यपि 'सौन्दर्य-शास्त्र' की स्थापना अठारहवीं शती में ही हुई है किन्तु इसके अन्तर्गत उन सब पूर्ववर्ती दार्शनिकों, साहित्या-

चार्यों एवं कला-मीमांसकों को भी स्थान दिया जाता है जिन्होंने किसी न किसी रूप में कलागत सौन्दर्य की समस्या पर विचार किया है। यही कारण है कि सौन्दर्य-शास्त्र का इतिहास यूनानी चिन्तन के आरम्भ से—सुकरात और प्लेटो के भी पूर्व युग से प्रारम्भ होता है। किसी नये विषय को भी परंपरागत चिन्तन से सम्बद्ध करके उसे किस प्रकार व्यापक बनाया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण सौन्दर्य-शास्त्र का इतिहास है। सौन्दर्य-शास्त्र के लगभग पच्चीस सौ वर्षों के इतिहास में सहस्राधिक विद्वानों के विभिन्न मंतव्यों का विवेचन उपलब्ध होता है। इन सबका परिचय यहाँ दिया जाना संभव नहीं है, अतः हम यहाँ सौन्दर्य-शास्त्र के कुछ प्रमुख वादों की ही संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत करते हैं।

(४) **सौन्दर्य-शास्त्र के प्रमुखवाद**—सौन्दर्य-शास्त्र की मूल समस्या सौन्दर्य के स्वरूप की व्याख्या करना रही है। इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं जिन्हें हम मुख्यतः इन सात वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) अध्यात्मवादी दृष्टिकोण (२) उपयोगिता वादी दृष्टिकोण (३) बुद्धिवादी दृष्टिकोण (४) भाववादी दृष्टिकोण (५) रूपवादी दृष्टिकोण (६) साहचर्यवादी दृष्टिकोण (७) मूल्य वादी दृष्टिकोण। यहाँ इनका क्रमशः परिचय दिया जाता है।[६]

(क) अध्यात्मवादी दृष्टिकोण

सौन्दर्य की अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से व्याख्या करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में से प्लेटो, प्लाटिनस, हीगल आदि का नाम उल्लेखनीय है। प्लेटो ने विश्व के समस्त सौन्दर्य को मूलतः ईश्वर का रूप बताते हुए सौन्दर्यानुभूति को एक दिव्य अध्यात्म-साधना के समकक्ष महत्त्व प्रदान किया। उनके विचार से विभिन्न शास्त्रों के गंभीर अध्ययन एवं मनन से विकसित एक विशेष प्रकार की मानसिक शक्ति से ही हम सौन्दर्य का बोध कर सकते हैं। यद्यपि सौन्दर्य-बोध की यह अपूर्व क्षमता तर्क-बद्ध अध्ययन से ही उदित होती है फिर भी वह तर्क से शून्य होती है—सौन्दर्य तर्क गम्य नहीं, अनुभूति गम्य है। अतः अन्य विषयों की तरह से सौन्दर्यानुभूति को

---

६. यह परिचय मुख्यतः इन ग्रन्थों के आधार पर दिया जा रहा है—

1. A history of Aesthetics : Bosanquet.
2. A history of Esthetics : Gilbert & Kuhn.
3. Western Aesthetics : K. C. Pandey.
4. The theory of Beauty : E. F. carritt.
5. An Introduction to Aesthetics : E. F. Carritt.
6. An Introduction to Aesthetics : Hunter Mead.
7. The quest for Beauty : J. L. Jarrett.
8. The sense of Beauty : George Santayana.
9. The Principles of Art : R. G. Collingwood.

हम शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर सकते। सौन्दर्यानुभूति के अनन्तर द्रष्टा का हृदय इस प्रकार ज्योतित हो उठता है कि उसे अखिल जगत् का सौन्दर्य किसी एक ही सौन्दर्य-पुंज से संबंधित दिखाई देने लगता है और विभिन्न सुन्दर वस्तुओं का स्थूल भेद उसके लिए नगण्य हो जाता है।" इस प्रकार प्लेटो ने सौन्दर्य के नाम पर सूक्ष्म-सौन्दर्य की मीमांसा की है, जिसका सम्बन्ध केवल रहस्यवादियों से ही है। सौन्दर्य-शास्त्र का विषय अलौकिक सौन्दर्य नहीं—लौकिक सौन्दर्य है, जिससे प्लेटो के विवेचन का बहुत कम सम्बन्ध है।

आगे चलकर प्लॉटिनस (२०४-२६९ ई०) ने प्लेटो की ही विचार-धारा को आगे बढाते हुए ईश्वर को ही सौन्दर्य का मूलाधार घोषित किया। भौतिक पदार्थों में हमारी आत्मा जिस सौन्दर्य का अन्वेषण करती है वह वस्तुतः उसके पूर्व संस्कारों का ही परिणाम है। लौकिक स्तर पर आकर हमारी आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है—या यों कहिए कि उस महान् सौन्दर्य-पुंज से वह दूर आ जाती है, फिर भी वह अपने उस पुरातन अनुभव को सर्वथा भूल नहीं पाती; उस ज्योतित-स्वरूप के पुनः साक्षात्कार के लिये ही वह इस जीवन में भटकती रहती है। इस प्रकार ईश्वर के रूप की प्यास ही सौन्दर्य की प्यास है या सौन्दर्य की प्यास ही ईश्वर से मिलने की प्यास है। इस प्रकार प्लाटिनस सौन्दर्य का सम्बन्ध ईश्वर से स्थापित करते हुए बहुत कुछ प्लेटो का ही अनुसरण करता है किन्तु वह कला-कृतियों की मीमांसा करते समय प्लेटो से भी एक कदम आगे बढ़ जाता है। प्लेटो ने जहाँ कलागत सौन्दर्य को हमारी वासनाओं का उभारने वाला मिथ्या सौन्दर्य बताकर उसका तिरस्कार किया था, वहाँ प्लाटिनस ने कलागत सौन्दर्य को भी आध्यात्मिक सौन्दर्य से ही सम्बन्धित करने का प्रयास किया। कला में सौन्दर्य का आधार उसके स्थूल उपकरणों एवं भौतिक तत्त्वों में निहित नहीं है अपितु उस सूक्ष्म आत्मा में निहित है जिसे कलाकार प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दों में—मूर्त्ति या चित्र में कलाकार अपनी आत्मा को ढालता है और आत्मा का वही स्पर्श कला का सौन्दर्य है। मूर्त्ति को जो रूप कलाकार प्रदान करता है वही उसका सौन्दर्य है। दर्शकों या सामाजिकों के हृदय भी परस्पर आत्मिक एकता के सूत्र में गूँथे हुए हैं—अतः जब हम कला के रूप में कलाकार की आत्मा की छवि देखते हैं तो गद्-गद् हो उठते हैं। मृत व्यक्ति की अपेक्षा जीवित में अधिक सौन्दर्य होता है, उसका कारण भी यह आत्मिक सम्बन्ध ही है। अस्तु, प्लॉटिनस सृष्टि और कलाओं के समस्त सौन्दर्य को इसी आत्मिक सम्बन्ध पर आधारित मानते हुए उसे परम-तत्त्व का ही रूप सिद्ध कर देता है।

आधुनिक युग में सौन्दर्य की पुनः अध्यात्मपरक व्याख्याएँ प्रस्तुत करने वाले विचारकों में विल्हेन जोसेफ शिलिंग (१७७५-१८५४) एवं हीगल (१७७०-१८३१) का नाम उल्लेखनीय है। शिलिंग ने सृष्टि एवं कलाओं के सौन्दर्य को ईश्वर के रूप

से अभिन्न बताया। उसके विचार से स्वयं सृष्टि भी ईश्वर की एक कला है। कलाओं में भी शाश्वत नियमों एवं चिरन्तन सत्य का ही चित्रण होता है तथा सत्य भी ईश्वर का एक रूप है। इस प्रकार कलाओं का ईश्वर से गहरा सम्बन्ध होता है, इतना ही नहीं, ईश्वर ही कलाओं का प्रेरक एवं तात्कालिक कारण है।

जार्ज फ्रेडरिख विल्हेम हीगल (१७७०-१८३१) ने दर्शन की द्वन्द्वात्मक-पद्धति के आधार पर सौन्दर्य की मीमांसा की। उसके विचार से परम तत्त्व के बोध के तीन साधन हैं— कला, धर्म एवं दर्शन। कलाओं में हम ऐन्द्रिक माध्यम से ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करते हैं। उनके विचार से कला और सौन्दर्य में परस्पर अन्तर है— कला यदि ईश्वरानुभूति का माध्यम मात्र है जबकि सौन्दर्य स्वतः ही ईश्वर का रूप है। उसके शब्दों में "The sensuous object through which the absolute shines is beautiful. Beautiful object addresses itself to the senses as well as the mind." जिस ऐन्द्रिक वस्तु के माध्यम से परमतत्त्व प्रकाशित होता है वही सुन्दर है। सुन्दर वस्तु स्वतः ही हमारी इन्द्रियों एवं मस्तिष्क को आकर्षित कर लेती है। किन्तु यहाँ यह ध्यान रहे, हीगल सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा केवल कला में ही मानता है। उसके विचार से प्रकृति भी सौन्दर्य की ओर अग्रसर है, जबकि उसकी उपलब्धि कला में ही होती है। अतः कहना चाहिए कि हीगल के अनुसार कलागत सौन्दर्य में ही परमतत्त्व की सत्ता होती है।

(ख) उपयोगितावादी दृष्टिकोण

प्राचीन एवं आधुनिक युग के अनेक विचारकों ने सौन्दर्य की समाजपरक व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हुए उसे नैतिकता एवं उपयोगिता से सम्बद्ध करने का प्रयास किया। यूनानी दार्शनिक सुकरात के विचार से किसी वस्तु की उपयोगिता में ही उसका सौन्दर्य निहित है, इसीलिए उसने कहा था—"एक गोबर से भरी हुई टोकरी भी सुन्दर कही जा सकती है यदि उसका कोई उपयोग हो, अन्यथा उपयोग की दृष्टि से अपूर्ण होने पर एक चमचमाती हुई स्वर्ण-घटित ढाल भी असुन्दर मानी जावेगी।" आगे चलकर अठारहवीं, उन्नीसवीं शती में भी अनेक विचारकों ने भी सौन्दर्य को सामाजिक हित से सम्बद्ध किया। एडमंड बर्क (१७२९-१७९७) ने सौन्दर्य की परिभाषा करते हुए कहा "I call beauty a social quality" अर्थात् 'मैं सौन्दर्य को एक सामाजिक गुण मानता हूँ। इतना ही नहीं, उसने सौन्दर्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उसे हमारी सामाजिक वृत्तियों पर आधारित सिद्ध किया।' उसके विचार से हम सौन्दर्य का आस्वादन सहानुभूति, अनुकरण एवं आत्म-विस्तार की मनोवृत्तियों से करते हैं और ये तीनों ही प्रवृत्तियाँ सामाजिक वृत्ति (Social Instinct पर आधारित हैं। जान रस्किन (१८१९-१९००) ने एक ओर तो कलागत सौन्दर्य को ईश्वर के दिव्यगुणों से सम्बन्धित माना, तो दूसरी ओर उसने यह भी

स्पष्ट किया कि ईश्वर के गुण नैतिक गुण हैं—अतः नैतिकता को ही सौन्दर्य की आधार-शिला माननी चाहिए।

विक्टर कजन (१७९२-१८६७), जाफ्राय १७९६-१८४२) लापराडे (१८१२-१८८३), कामते (१७८९-१८५७) आदि ने कलाओं को अकेले व्यक्ति की सृष्टि न मानकर समाज की उपज मानते हुए कलागत सौन्दर्य को सामाजिक दृष्टिकोण की देन के रूप में स्वीकार किया।

काडवेल ने साम्यवादी दृष्टिकोण से सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए प्रतिपादित किया कि देश और काल-भेद के अनुसार सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओं में भी परिवर्तन होता रहता है, अतः कहना चाहिए कि सौन्दर्य सामाजिक परिस्थितियों एवं दृष्टिकोण पर आधारित होता है। यही कारण है कि विभिन्न समाज की सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाएँ विभिन्न होती हैं।

(ग) बुद्धिवादी दृष्टिकोण

कुछ विद्वानों ने सौन्दर्य को बुद्धि, विचार या सत्य के प्रतिरूप के रूप में भी ग्रहण किया है। सैंट थामस (१२२७-१२७७) के विचार से "ऐन्द्रिक माध्यम से तर्क की अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है।" इसी विचार को आगे बढाते हुए लॉक (१६३२-१७०४) ने प्रतिपादित किया कि सौन्दर्य वह मिश्रित विचार है जो कि मिश्रित ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। उसके दृष्टिकोण के अनुसार विचार दो प्रकार के होते हैं—सरल और मिश्रित। इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त विचार सरल विचार होते हैं जबकि प्राप्त एवं अप्राप्त सरल विचारों के पारस्परिक संयोग से उद्भूत विचार मिश्रित विचार होते हैं। इस प्रकार सभी मिश्रित विचार सरल विचारों से ही निर्मित होते हैं। इन मिश्रित विचारों की भी तीन श्रेणियाँ की गई हैं—(१) रूप (Modes) (२) वस्तु (Substance) (३) सम्बन्ध। रूप सूचक विचारों के भी दो उपभेद किये गये हैं—सरल रूप एवं मिश्रित रूप। यह 'मिश्रित रूप' ही सौन्दर्य है। इस प्रकार लॉक के विचार से सौन्दर्य एक मिश्रित विचार है जो कि मिश्रित रूप से उत्पन्न होता है—या यों कहिए कि वह विभिन्न प्रकार के काल्पनिक विचारों के मेल से उत्पन्न होता है। कलागत सौन्दर्य न तो किसी बाह्य वस्तु के सदृश होता है और न ही सर्वथा मौलिक सृष्टि।

कांट (१७२४-१८०४) ने बुद्धि के तीन रूप बताये—(१) शुद्ध बुद्धि (२) व्यावहारिक बुद्धि (३) निर्णयात्मक बुद्धि। शुद्ध बुद्धि से जहाँ सत् का ज्ञान होता है, वहाँ व्यावहारिक बुद्धि हमें औचित्य की ओर ले जाती है। शुद्ध बुद्धि 'क्या है ?' का उत्तर देती है तो व्यावहारिक बुद्धि 'क्या होना चाहिए ?' का। निर्णयात्मक बुद्धि इन दोनों से समन्वित होती है ; सौन्दर्य का सम्बन्ध इसी से है। इस प्रकार सौन्दर्य की मीमाँसा करते हुए कांट इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "स्वच्छन्द कल्पना

द्वारा प्रस्तुत वह विचार जो और अधिक चिन्तन को प्रवाहित करता है—सौन्दर्य है।"

(घ) भाववादी दृष्टिकोण

सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में भावपरक दृष्टिकोण को लेकर चलने वाले विद्वानों की संख्या बहुत अधिक रही है—किन्तु इन्होंने प्रायः कलागत सौन्दर्य को ध्यान में रख कर ही अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। इन भाव-परक व्याख्याओं को भी दृष्टिकोण-भेद के आधार पर चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) भावोद्दीप्ति वादी दृष्टिकोण (२) भावालम्बन वादी दृष्टिकोण (३) भावाभिव्यक्ति वादी दृष्टिकोण (४) भाव-प्रेषण वादी दृष्टिकोश। इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है।

(१) **भावोद्दीप्तिवादी दृष्टिकोण**—सत्रहवीं-अठाहरवीं शती में डेकार्टेज, एडिसन ह्यूम—आदि विद्वानों ने भावोद्दीप्ति वादी दृष्टिकोण से सौन्दर्य की व्याख्या की। डेकार्टेज (१५९६-१६५०) ने कलागत सौन्दर्य का सम्बन्ध भाव से स्थापित करते हुए सौन्दर्यानुभूति को भाव समन्वित बौद्धिक आनन्द के रूप में स्वीकार किया। इसी प्रकार एडिसन (१६७२-१७१९) महोदय के विचार से भी कोई कृति जितनी गहराई से हमारे भावों को उत्तेजित करने में सफल होगी वह उतनी ही अधिक सुन्दर मानी जावेगी। ह्यूम (१७११-१७७६) ने कलागत सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए उसके तीन पक्षों की विवेचना की—(१) मानव-प्रकृति (२) संस्कार एवं प्रथाएँ (३) मानसिक परिवर्तन। अर्थात् किसी वस्तु के सौन्दर्य का निर्णय करने में हमारी मानवी-प्रकृति, हमारे संस्कारों तथा उसके प्रभाव से होने वाले मानसिक परिवर्तनों का गहरा योग रहता है। कला-कृतियों का निर्माण या संवटन इस प्रकार होता है कि जिससे वे हमें प्रसन्नता और संतोष प्रदान कर सकें। अस्तु, भावोद्दीप्ति वाद के अनुसार कला-सौन्दर्य का मूलाधार उसकी भावोद्दीप्ति की क्षमता में ही निहित है या यों कहिए कि कला के वे तत्त्व जो भावोद्दीपन में सहायक होते हैं—कलागत सौन्दर्य के घटक हैं।

(२) **भावालम्बन वादी दृष्टिकोण**—इस वाद के उन्नायकों—हक्सन, बर्क, लबस्सु, हरमन लात्ज, सैंतायना आदि ने कलागत सौन्दर्य के लिए केवल भावोद्दीप्ति को ही आवश्यक नहीं माना अपितु स्वयं कला में भी भावों का चित्रण अपेक्षित माना। ध्यान रहे कई बार कुछ तथ्य या विचार भी पाठक के लिए भावोत्तेजक सिद्ध हो सकते हैं किन्तु इस वाद के मानने वाले कला में भावों का चित्रण अपेक्षित मानते हैं।

हक्सन (१६९४-१७४७) महोदय ने कलागत सौन्दर्य के आस्वादन के सम्बन्ध में दो नये महत्वपूर्ण तत्त्वों—निःस्वार्थ भावना और अन्तर्भावना—का भी उद्घाटन

किया। निःस्वार्थभावना से उनका तात्पर्य यह है कि हम सौन्दर्य का आस्वादन किसी व्यक्तिगत हानि-लाभ के विचार से मुक्त रह कर करते हैं। पाठक या सामाजिक जिस शक्ति के कारण कला के सौन्दर्य का आस्वादन करता है उसे ही इन्होंने अन्तर्भावना (Inner-sense) का नाम दिया है। यही शक्ति कवि, काव्य और पाठक—तीनों के प्रसंग में विभिन्न नामों से पुकारी जाती है। कवि की अन्तर्भावना को प्रतिभा, काव्य में प्रतिबिम्बित अन्तर्भावना को भावना एवं पाठक की अन्तर्भावना को रुचि कहा जाता है। बर्क (१७२९-१७९७) ने हक्सन के रुचि सम्बन्धी विवेचन को और आगे बढ़ाते हुए उसे इन्द्रियों, कल्पना और बुद्धि से समन्वित सिद्ध किया।

जर्मन विद्वान हरमन लात्ज (१८१७-१८८१) ने कलागत सौन्दर्य के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में बताया कि वास्तविक सौन्दर्य आत्मा को आनन्द प्रदान करने वाले भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आगे चलकर जार्ज सैंतायना ने अपनी पुस्तक 'The Sense of beauty' में भी विस्तार से प्रतिपादित किया कि "सौन्दर्य एक भावात्मक तत्त्व है जिसका स्वरूप प्रसन्नतादायक है, किन्तु उसे हम वस्तुओं का गुण समझते हैं।" इस प्रकार इस वर्ग के विद्वानों ने कलागत सौन्दर्य का आधार भावों के चित्रण या प्रस्तुतीकरण को ही माना।

(३) **भावाभिव्यक्तिवादी दृष्टिकोण**—क्रोचे के अभिव्यक्तिवाद से प्रेरित होकर अनेक विचारकों ने भावाभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा की, जिनमें कालिंग वुड, कैरिट प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। कालिंगवुड ने सर्व प्रथम भाव-सिद्धान्त के परम्परागत रूपों का खंडन करते हुए भावाभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा की। आगे चलकर कैरिट महोदय ने भी कला का सौन्दर्य भावाभिव्यक्ति में ही सिद्ध किया।

(४) **भाव-संप्रेषणवादी दृष्टिकोण**—टाल्सटाय, एवं रिचर्ड्स ने कला के सौन्दर्य की सत्ता भावों के संप्रेषण में स्वीकार की। टाल्सटाय ने कलागत सौन्दर्य के सबसे बड़ी कसौटी की व्याख्या करते हुए कहा "यदि एक व्यक्ति सरलता पूर्वक अपने दृष्टिकोण को बिना परिवर्तित किए किसी रचना को देखकर या सुनकर या पढ़कर एक ऐसी मानसिक स्थिति का अनुभव करता है जिसमें कलाकार एवं अन्य सामाजिकों के साथ उसका तादात्म्य हो तो अवश्य ही वह रचना कला-कृति है, अन्यथा किसी रचना में भले ही कितना यथातथ्य वर्णन हो, कितनी ही वह प्रभावशाली हो और चाहे कितनी ही मनोरंजक हो, यदि वह उक्त आत्मिक एकता एवं आनन्द के भाव को जागृत नहीं करती तो वह कला नहीं कही जा सकती।" इस प्रकार टाल्सटाय ने भावात्मक तादात्म्य में ही कला के समस्त सौन्दर्य का आस्तिव माना है। इसी भावात्मक तादात्म्य को आई० ए० रिचर्ड्स ने 'भावात्मक संप्रेषण' का नाम देते हुए अपना संप्रेषण सिद्धान्त (Theory of communication) प्रस्तुत किया है। हमारे विचार से दोनों ने मूलतः काव्य के माध्यम से भावों के

संप्रेषण को स्वीकार किया है, अतः उन्हें एक ही वर्ग—भाव-संप्रेषणवाद—में स्थान दिया जा सकता है।

(ङ) रूपवादी दृष्टिकोण

विभिन्न विद्वानों ने वस्तुओं के विभिन्न रूपगत तत्त्वों को सौन्दर्य का आधार मानकर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। प्राचीन विद्वान् अरस्तू ने सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए उसे तीन तत्त्वों पर आधारित माना है—(१) सम्मात्रा (Symmetry) (२) व्यवस्थित क्रम (Orderly arrangement) (३) निश्चित आकार (Certain magnitude)। होगार्थ ने अपने ग्रन्थ 'एनेलिसिस आफ् ब्यूटी' में सौन्दर्य के छह उपादान स्थिर किये हैं—(१) वस्तु की उपयुक्तता (Fitness) (२) विभिन्नता (Variety) (३) सम्मात्रा (Symmetry) (४) स्पष्टता (Distinctiveness) (५) जटिलता (Intricacy) (६) विशालता (Magnitude)। बर्क महोदय ने अपने एक लेख में आकार-सूक्ष्मता, मसृणता, कोमलता, वर्ण-दीप्ति, शुद्धता आदि में सौन्दर्य का अस्तित्व बताया तो दूसरी ओर क्रूसाज के विचार से सौन्दर्य का निवास वैचित्र्य, एकत्व, समता, व्यवस्था, अनुपात आदि गुणों में हैं। बर्कले ने सम्मात्रा (Symmetry) और संतुलन (Proportion) में सौन्दर्य का अस्तित्व माना।

आधुनिक युग में डी पार्कर ने कलागत रूप की व्याख्या करते हुए सामंजस्य, क्रम, अनुपात, आवयविक संगठन आदि तत्त्वों पर विशेष बल दिया है। इस प्रकार रूपवादियों ने विभिन्न रूपगत विशेषताओं में ही सौन्दर्य का अस्तित्व सिद्ध किया है।

(च) साहचर्यवादी दृष्टिकोण

कतिपय विद्वानों ने सौन्दर्य का सम्बन्ध व्यक्ति की आदत, या संस्कार आदि में सिद्ध किया। पिअर बफियर के अनुसार प्रत्येक जाति के प्राणियों की सुन्दरता का एक-एक आदर्श होता है। जो बात सब जातियों की रूप-आकृति में सामान्य रूप से पाई जाती है वही उस जाति के सौन्दर्य का आदर्श हो जाता है। सर जे० रेनाल्डस ने भी बफियर के सिद्धान्तों से ही मिलता-जुलता आदत का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनके विचारानुसार हमें जिन वस्तुओं को जिन रूपों में देखने की आदत पड़ गई, वही उस वस्तु का सौन्दर्य माना जाने लगा। हम मनुष्य के चेहरे पर तीखी नाक और पतले ओठों को सदा से देखते आये हैं अतः वे हमारे लिए सुन्दरता के आदर्श बन गये हैं; यदि मनुष्य जाति के चेहरे पर सदा से ही नाक न होती या उसका चेहरा गोल होने के स्थान पर चौकोर होता तो आज हम उसी में सौन्दर्य मानते। एलिसन ने साहचर्य-नियम के आधार पर सौन्दर्य की व्याख्या की। उनके विचार से हमारे मन पर आनन्द प्रदायी वस्तुओं के संस्कार संचित रहते हैं। किसी वस्तु के देखने पर उससे संस्कारों के रूप में संचित आनन्द जाग्रत

परिशिष्ट ग—

सहायक पुस्तक-सूची

(विषय-क्रमानुसार)

(क) भारतीय साहित्य-शास्त्र

१. अभिनव-भारती : सं० डा० नगेन्द्र, १९६० ।
२. आचार्य क्षेमेन्द्र : डा० मनोहरलाल गौड़, प्रथम संस्करण ।
३. कला, साहित्य और समीक्षा : डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र, १९६३ ।
२. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, प्र० सं० ।
५. काव्य-प्रकाश : मम्मट, अनु० हरिमंगल मिश्र, द्वि० संस्करण ।
६. काव्य-निर्णय : भिखारीदास, सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, १९५६ ।
७. काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति : वामन, सं० डा० नगेन्द्र, १९५४ ।
८. काव्यादर्श : दंडी, रणवीरसिंह, प्र० सं० ।
९. कुवलयानन्द : डा० भोलाशंकर व्यास, १९१६ ।
१०. चन्द्रालोक : जयदेव, सं० नन्दकिशोर शर्मा, १९५० ।
११. ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त : डा० भोलाशंकर व्यास, प्र० सं० ।
१२. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्द्धन : सं० डा० नगेन्द्र, १९५५ ।
१३. नाट्य-शास्त्र : भरतमुनि सं० बलदेव उपाध्याय प्र० सं० ।
१४. भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा : डा० नगेन्द्र : प्र० सं० ।
१५. भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका : डा० नगेन्द्र, प्र० सं० ।
१६. भारतीय साहित्य-शास्त्र : बलदेव उपाध्याय, प्र० सं० ।
१७. भारतीय साहित्य-दर्शन : श्री राममूर्त्ति त्रिपाठी, प्र० सं० ।
१८. रस-गंगाधर : पं० जगन्नाथ, अनु० मदनमोहन झा, १९५५ ।
१९. रस-मीमांसा : रामचन्द्र शुक्ल : सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ।
२०. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण : डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, प्र० सं० ।
२१. रसिक प्रिया : केशव, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ।
२२. रीतिकाल के प्रमुख आचार्य : डा० सत्यदेव चौधरी, प्र० सं० ।
२३. रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र, प्र० सं० ।

२४. वक्रोन्ति जीवितम् कुन्तक, सं० डा० नगेन्द्र, १९५५ ।
२५. साहित्य-दर्पण : विश्वनाथ, सं० शालिग्राम शास्त्री, १९६३ ।
२६. समीक्षा-दर्शन : डा० रामलाल सिंह, प्र० सं० ।
२७. साहित्यालोचन : डा० श्यामसुन्दर दास, षष्ठ संस्करण ।
२८. सिद्धान्त और अध्ययन : डा० गुलाबराय, प्र० सं० ।
२९. हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास : डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र, द्वि० सं० ।

(ख) पाश्चात्य काव्य-शास्त्र

1. A Grammar of Metaphor : C. B. Rose, 1958
2. A hand-book of Literary Criticism : W. H. Sheran. I
3. An Introduction to the study of Literature : W. H. Hudson, '57
4. A history of Criticism & Literary taste in Europe : G. Sainsbury, Three volumes ; 6-7th edition.
5. Biographia Literaria : S. T. Coleridge, edited by J. Shawcross, 1939
6. Creative Imagination : J. E. Downey, 1929
7. Elizabathen & Metaphysical Imagery : Rose mond Tuve, 1957
8. Elements of Poetry : J. R. Kreuzer, 1955
9. English Prose Style : Herbert Read, 1956
10. Illusion and Reality : Christopher Caudwell, 1947
11. Language & Reality : W. M. Urban, 1957
12. Language & Reality : M. Hope Parker, 1949
13. Literature & Science : Oxford, 1954
14. Literary Criticism : A short history : W. K. Wimsatt & C. Brooks, 1957
15. Meaning & Truth in the Arts : John Hospers; 1946
16. Poetic Process : George Whalley, 1953
17. Practical Criticism : I. A. Richards, I edition
18. Romantic Image : Frank Kermode, 1957
19. Science & Literary Criticism : Herbert Dingle, 1949
20. Style : F. L. Lucas, 1955
21. The Anatomy of Poetry : M. Boulton, 1953
23. The Appreciation of Poetry : E. G. Moll, 1933
23. The Art of Drama : Ronald Peacock, 1957
24. The Meaning of Meaning : C. K. Ogden, I. A. Richards, 1956

25. The Nature of Literature : Thomas Clark Pollock, 1942
26. The Poetic Pattern : Robin Skelton, 1956
27. The Poetic Image : C. D. Lewis, 1958
28. The Problem of Style : J. M. Murry, 1959
29. Theory fo Literature : Renewellek, Austin warren, I edition.
३०. अरस्तू का काव्य-शास्त्र : डा० नगेन्द्र ।
३१. आलोचना के सिद्धान्त : शिवदान सिंह चौहान, प्र० सं० ।
३२. काव्य में उदात्त-तत्त्व : लोंजाइनस, डा० नगेन्द्र ।
३३. काव्य-कला : होरेस, डा० नगेन्द्र, प्र० सं० ।
३४. पाश्चात्य-समीक्षा : डा० केसरी नारायण शुक्ल, प्र० सं० ।
३५. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा : डा० नगेन्द्र एवं सावित्री सिन्हा, प्र० सं० ।

(ग) सौन्दर्य-शास्त्र

1. Aesthetics : Benedetto Croce, 1956
2. Aesthetic & Criticism : Harold Osborne, 1955
3. A history of Esthetics : K. E. Gilbert & Helment Kuhn, 1954
4. A history of Aesthetic : Bosanquet, II edition.
5. An Introduction to Aesthetic : E. F. Carrit, 1955
6. An Introduction to Aesthetics : Hunter Mead, 1952
7. Art as Experience : John Dewey, 1934
8. Art and Scientific Thought : Mortin Johnson, I, edition
9. Critique of Judgement : Immanuel Kant, Translated, J. H. Bernard, 1951
10. Encyclopedia of Arts : D. D. Runes, 1946
11. Further studies in a dying culture : C. Caudevell, 1949
12. Studies in Sanskrit Aesthetics : A. C. Shastri, 1952
13. The Arts and the Art of Criticism : T. M. Greene, 1947
14. The Analysis of Beauty : William Hogarth, edited Joseph Burke, 1955
15. The Meaning of Art : Herbert Read, 1951
16. The principles of Art : R. G. Collingwood, 1945
17. The Quest for Beauty : J. L. Jarrett, 1957
18. The Sense of Beauty : George Santayana, 1936
19. The Theory of Beauty : E. F. Carritt, 1949
20. Western Aesthetics : K. C. Pande, 1956

21. What is Art : L. Tolstoy, 1905
२२. सौन्दर्य-शास्त्र : डा० हरद्वारी लाल शर्मा, १९५३ ।

(घ) मनोविज्ञान

1. An Introduction to Social Psychology : W. McDougall, 1950
2. An Introduction to Personality Study : R. B. Cattell, 1950
3. An Outline of Psychology : W. McDougall, 1949
4. Development of Personality : Uday Shankar, 1955
5. Dimensions of Character : E. M. Ligon, 1957
6. Emotions in Man & Animal : P. T. Young, 1947
7. Genealogy of Love : Curt Thesing, Translated, Eden and Cedar Paul, 1933
8. General Psychology : H. E. Garrett, 1955
9. Historical Introduction to Modern Psychology : Gardner Murphy : 1948
10. Indian Psychology : Jadunath Sinha, 1934
11. Modern Education-Psychology : B. N. Jha, 1946
12. Nature of Thought : Brand Blanshard, 1939
13. Nerve Impulse : H. H. Merriment, 1952
14. Psychology : R. S. Woodworth, 1937
15. Psychology : H. W. Karan, I edition.
16. Social psychology : Solom E. Asch, 1955
17. The analysis of Mind : B. Russel, 1931
18. The Energies of Man : W. McDougall, 1950
19. The Laws of Feeling : F. Paulhan, Translated, C. K. Ogden, 1930
20. The New Psychology : A. G. Tansley, 1929
21. The Neuro physiological basis of mind : J. C. Eccles, 1952
22. The Psycholygy of Jung : J. Jacobi, Translated. K. W. Bash, 1946
23. The Principles of psychology : William James, 1950
24. The Psychology & Imagination : J. P. Sartre, 1948 (Translated)
25. The Structure and Dynamics of the Psyche : C. G. Jung, Trans. R. E. Hull, 1960
26. The Science of Emotions : Dr. Bhagwan Dass, 1953
२७. मनोविज्ञान : जदुनाथ सिन्हा, १९५८ ।

२८. सरल मनोविज्ञान, लालजी शुक्ल, १९५९ ।
२९. मनोविश्लेषण और मानसिक प्रक्रियाएँ : डा० पद्मा अग्रवाल, द्वितीय संस्करण ।

(ङ) भौतिक विज्ञान एवं अन्य विज्ञान

1. Cosmology : Volume I, II, D. Nys, English Trans. I edition.
2. Cell Physiology : Arthur C. Giese, 1959
3. Evolutions and Creation : Sir Oliver Lodge, 1926
4. Evolution after Darwin : Sol Tax, 1960
5. Foundations of Embryology : Bradley M. Pattern, 1958
6. Inorganic Chemistry : W. Norton Jones : I edition.
7. Introduction to Neutron Physics : L. F. Curtess, 1959
8. Man and his physical world : D. E. Grey & J. W, Coutts, 1958
9. Orgin through evolution : Nathen Fasten, 1930
10. On Nuclear Energy : Donald J. Hughs, 1957
11. Principles of Embryology : C. H. Waddington, 1957
12. The A. B. C. of Relativity : Bertrand Russel, 1958
13. The Mighty Atom : John Lewellen, 1955
14. Understanding Chemistry : Lawrence P. Lessing, 1959
१५. अकार्बनिक रसायन-शास्त्री, जी० डी० तुली १९६५ ।
१६. आपेक्षिकता का अभिप्राय : डा० एलबर्ट आइन्स्टाइन, अनु० निहालकरण सेठी, १९६० ।
१७. भौतिक विज्ञान में क्रान्ति : लू दे ब्रोगली, अनु० निहालकरण सेठी, १९५८ ।
१८. माध्यमिक भौतिक विज्ञान, भाग—१, नगेन्द्रनाथ वसु, १९५५ ।
१९. विज्ञान हस्तामलकवत् : रामदास गौड़, १९३६ ।
२०. सरल शरीर-विज्ञान : जानकीशरण वर्मा, १९४८ ।
२१. शक्ति : वर्तमान और भविष्य : शेरवुड टेलर, अनु० सत्यप्रकाश गोयल, १९५९ ।
२२. हिन्दी विश्व-भारती ।

(च) दर्शन एवं तर्क-शास्त्र

१. ईशादि नौ उपनिषद् : गी० प्रे० २०१६ ।
२. तत्त्व-ज्ञान : डा० दीवानचन्द, १९५६ ।
३. तर्क शास्त्र : डा० गुलाबराय, १९९८ वि० ।
४. नाथ-सम्प्रदाय : आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्र० सं० ।
५. पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास : डा० गुलाबराय, १९८३ वि० ।

६. भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय, षष्ठ सं० ।
७. भारतीय दर्शन-परिचय : हरिमोहन झा, प्र० सं० ।
8. A history of Modern Philosophy : W. K. Wright, 1941
9. Ideas of Great Philosophers : S. E. Frost, 1942
10. Semantics : H. R. Walpole, 1941
11. The Idea of Nature : R. G. Collingwood, 1945
12. The Greek Philosophers : W. K. C. Guthrie, 1950
13. The Pre-socratic Philosophy : G. S. Kirk, 1957
14. The Logic of Scientific Discovery : K. R. Popper, 1959

(छ) विविध

१. अतीत के चल-चित्र : महादेवी वर्मा, प्र० सं० ।
२. अशोक के फूल : आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्वि० सं०
३. आधुनिक काव्य : महादेवी वर्मा, प्र० सं० ।
४. कर्मभूमि : प्रेमचन्द ।
५. चिन्तामणि : आ० रामचन्द्र शुक्ल, तृ० सं० ।
६. छायावाद युग : डा० शम्भूनाथ सिंह, प्र० सं० ।
७. प्रामाणिक शब्द-कोष, रामचन्द्र वर्मा ।
८. बिहारी-रत्नाकर . रत्नाकर ।
९. संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ : द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी ।
१०. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, तृ० सं० ।
11. Dictionary of Literary terms : Shipley
12. Encyclopaedia of Arts.
13. Encyclopaedia of Brittanica
14. Encyclopaedia of Ethics and Religion.
15. Oxford English Dictionary.
16. Oxford Junior Encyclopaedia
17. The New Dictionary of thought : T. Edwards.